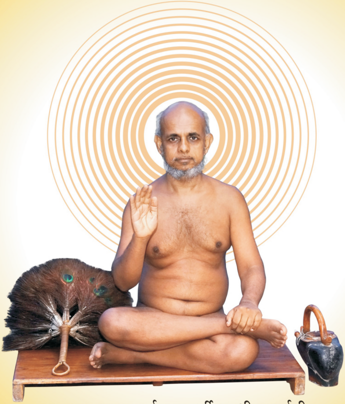

परम पूज्य तपश्चर्या-चक्रवर्ती पट्टाधीशाचार्यश्री

सुविधिसागर जी महाराज

के

50 वें जन्मदिवस के पावन अवसर पर

सुविधि-परिवार के द्वारा आयोजित

जिनवाणी-महोत्सव

सहस्रग्रन्थसंग्रह

* जन्मदिवस 19-03-1971 * मुनिदीक्षा-11-05-1989 * आचार्यपद- 20-06-2004

पट्टाधीशपद- 24-12-2010 (20-06-2004 को की गई उद्घोषणा के अनुसार)

परम पूज्य आचार्यश्री सन्मतिसागर जी महाराज के द्वारा की गई उद्घोषणाः-

हमारी समाधि के पश्चात् आपको इस संघ के संचालकपद पर नियुक्त करते हैं।

(अंकलीकर वाणी-जुलाई 2004) (अक्षयज्योति-अक्तूबर 2004)

जैनतर्कशास्त्र में अनुमानविचार ऐतिहासिक एवं समीक्षात्मक अध्ययन

लेखक
दरबारीलाल कोठिया

प्रकाशक
वीर सेवा मन्दिर ट्रस्ट प्रकाशन
एटा (उत्तरप्रदेश)

(परम्परानायक)

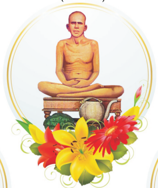

परम पूज्य चारित्र–चक्रवर्ती,
आचार्यश्री आदिसागर जी महाराज
(अंकलीकर)

(द्वितीय पट्टाधीश)

परम पूज्य तीर्थभक्त–शिरोमणि,
आचार्यश्री महावीरकीर्ति जी महाराज

(तृतीय पट्टाधीश)

परम पूज्य सिद्धान्त–चक्रवर्ती,
आचार्यश्री सन्मतिसागर जी महाराज

(चतुर्थ पट्टाधीश)

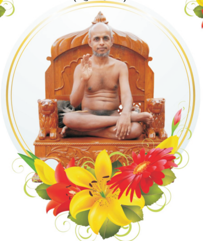

परम पूज्य तपश्चर्या–चक्रवर्ती, आचार्यश्री सुविधिसागर जी महाराज

दिगम्बर साधु निरन्तर पगविहार करते रहते हैं। ग्रन्थभण्डार को साथ में रख कर विहार करना अशक्यप्राय: होता है। फलत: उनको ग्रन्थों के सन्दर्भ देखने में असुविधा होती है। उनकी सुविधा के लिये इस कोश का निर्माण किया गया है। इस कोश के निर्माण में किसी भी प्रकार का व्यापारिक हेतु नहीं है।

आर्थिक दृष्टि से सम्पन्न श्रावकबन्धुओं से निवेदन है कि वे ग्रन्थ का विक्रय कर अध्ययन करने की परम्परा को कायम रखें।

मुखपृष्ठ पर हमने ग्रन्थकर्त्ता, अनुवादक, सम्पादक, प्रकाशक आदि के नाम दिये हैं। किसी संस्थान का कर्तुत्व हमने लुप्त नहीं किया है।

इस कोश के लिये आवश्यक ग्रन्थ हमें अनेक स्रोतों से प्राप्त हुये हैं। हम उन सभी का आभार मानते हैं।

सुविधि–परिवार

युगवीर-समन्तभद्र ग्रन्थमाला १

जैन तर्कशास्त्रमें अनुमान-विचार : ऐतिहासिक एवं समीक्षात्मक अध्ययन

डा० दरबारीलाल जैन कोठिया
न्यायतीर्थ, सिद्धान्तशास्त्री, न्यायाचार्य, शास्त्राचार्य
एम० ए०, पी-एच० डी०
[सम्पादक—न्यायदीपिका, आप्तपरीक्षा, स्याद्वादसिद्धि, प्रमाणप्रमेयकलिका,
अध्यात्मकमलमार्त्तण्ड, शासनचतुस्त्रिंशिका, श्रीपुर-पार्श्वनाथ,
प्राकृतपद्यानुक्रमणी आदि]
प्राध्यापक, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय

वीर सेवा मन्दिर-ट्रस्ट प्रकाशन

राष्ट्र और समाजसेवी
जैन साहित्य, इतिहास और पुरातत्त्वविद्
श्रद्धेय आचार्य जुगलकिशोरजी मुख्तार युगवीर
को
उनकी ९१वीं वर्षगाँठपर
सादर समर्पित

श्रद्धावनत
दरबारीलाल कोठिया

प्राक्कथन

प्रस्तुत पुस्तक या शोधप्रबन्धके लेखक डा० दरबारीलाल कोठिया जैन दर्शनके जाने-माने विद्वान् हैं, उनका भारतके दूसरे दर्शनोंसे भी अच्छा परिचय है। अब तक वे मुख्यतया जैनदर्शन एवं धर्म सम्बन्धी अनेक ग्रन्थोंका सम्पादन एवं अनुवाद कर चुके हैं। प्रस्तुत पुस्तकका विषय तर्कशास्त्रसे सम्बन्ध रखता है। भारतीय दर्शनमें ज्ञानमीमांसाका, और उसके अन्तर्गत प्रमाणमीमांसाका, विशेष स्थान रहा है। प्रमाणविचारके अन्तर्गत यहाँ अन्वेषण पद्धतियोंपर उतना विचार नहीं हुआ जितना कि प्रमा अथवा यथार्थज्ञानके स्रोतोंपर। इन स्रोतोंको प्रमाणसंज्ञा दी गयी। प्रमाणोंमें भी प्रत्यक्ष और अनुमान सर्वस्वीकृत हैं और उनपर विभिन्न सम्प्रदायोंके दार्शनिकोंने विशेष विमर्श किया है। कुछ विद्वानोंने भारतीय अनुमान और अरस्तूके सिलासिजममें समानता देखनेका प्रयास किया है, किन्तु वस्तुतः इन दोनोंमें बहुत अंतर है। 'भारतीय न्याय' अथवा 'पंचावयववाक्य' बाहरसे अरस्तूके सिलाजिजमके समान दिखता है, यह सही है, किन्तु अपनी अन्तरंग प्रक्रियामें दोनोंके आधार भिन्न हैं। भारतीय अनुमानकी मूल भित्ति हेतु और साध्यका सम्बन्ध है, जिसे व्याप्ति कहते हैं। हमारे तर्कशास्त्रियोंने हेतुके विविध रूपोंपर विस्तृत विचार किया है। इसके विपरीत अरस्तूके अनुमानकी मूल भित्ति वर्गसमावेशका सिद्धान्त है। अरस्तूने सिलासिजमके १९ प्रामाणिक रूप (मूड) माने हैं, और ४ अवयवसंस्थान, जिनमें विभिन्न अनुमानरूपोंको व्यवस्थित किया जाता है। इन सबको देखते हुए भारतीय अनुमानका स्वरूप बहुत संश्लिष्ट एवं सरल जान पड़ता है। भारतीय तर्कशास्त्रियोंने अपना ध्यान मुख्यतः हेतुके स्वरूप एवं विविधतापर संसक्त किया। चूंकि भारतीय दार्शनिकोंके सामने चिन्तन और अन्वेषणके वे अनेक तरीके उपस्थित नहीं थे, जिनसे विविध विज्ञानोंने हमें परिचित बनाया है, इसलिए वे अनुमान-प्रक्रियापर बड़े मनोयोगसे विचार कर सके। हमारे देशके अनेक विचारक कई दूसरे प्रमाणोंको भी मानते हैं, जैसे अर्थापत्ति और अनुपलब्धि। बौद्ध तर्कशास्त्री धर्मकीर्तिने बड़ी चतुराईसे शेष प्रमाणोंका अन्तर्भाव अनुमानमें करनेकी कोशिश की है। भारतीय तर्कशास्त्रमें जिस चीजका अभाव सबसे ज्यादा खटकता है वह है—प्राक्कल्पना (हाइपाथेसिस) की धारणाकी अनवगति या अपर्याप्त अवगति। यों व्याप्तिग्रहके साधनोंपर विचार करते हुए वे आगमनात्मक चिन्तनके अनेक तत्त्वोंपर प्रकाश डाल सके थे। योरोपीय तर्कशास्त्रमें प्राक्कल्पनाका महत्त्व धीरे धीरे ही स्वीकृत हुआ है। न्यूटन प्राक्कल्पनाओंको शंकाकी दृष्टिसे देखता था। किन्तु

आजका गणितमूलक—भौतिक विज्ञान प्राक्कल्पनाओंके बिना एक कदम भी आगे नहीं बढ सकता।

आलोच्य पुस्तकमें सामान्यत भारतीय तर्कशास्त्रके और विशेषत जैन तर्कशास्त्रके अनुमान-सम्बन्धी विचारोका विशद आकलन हुआ ह। सभवत हिन्दीमें कोई दूसरा ऐसा ग्रन्थ नही है जिसमें एक जगह अनुमानसे सम्बन्धित विचारणाओंका इतना सूक्ष्म और सटीक प्रतिपादन हुआ हो। जो दो चार पुस्तकें मेरी नजरमें आयी हैं उनमें प्राय न्यायके तर्कसग्रह जैसे सग्रहग्रन्थपर आधारित नैयायिकोंके तर्कसिद्धान्तका छात्रोपकारी सकलन रहता है। इसके विपरीत प्रस्तुत ग्रन्थ भारतीय दर्शनके समग्र तर्क साहित्यके आलोडन विलोडनका परिणाम है। लेखकने निष्पक्षभावसे वात्स्यायन, उद्योतकर आदि हिन्दू तार्किकोंके और धर्मकीर्ति, धर्मोत्तर, अर्चट आदि बौद्ध तार्किकोंके मतोंका विवेचन उतनी ही सहानुभूतिसे किया है जितना कि जैनाचार्योंके मन्तव्योंका। विद्वान् लेखकने सूक्ष्म-से-सूक्ष्म समस्याओंको उठाया और उनका समाधान किया है। विभिन्न अध्यायोंके अन्तगत सस्कृतके लेखकों और ग्रन्थोंके प्रचुर सकेत समाविष्ट हुए हैं, जिससे भारतीय तर्कशास्त्रमें शोध करनेवाले विद्यार्थी विशेष लाभान्वित होंगे। अपनी इस परिश्रमसे लिखी गयी विद्वत्तापूर्ण कृतिके लिए लेखक दर्शन प्रेमियों और हिन्दी जगतकी बधाईके पात्र हैं।

२५ अप्रैल, १९६९
हिन्दू विश्वविद्यालय

—देवराज

पुरोवाक्

भारतीय चिन्तकोंने सही तर्क करनेके नियमोंको न्यायशास्त्र कहा है। सही ज्ञान या तत्त्वज्ञानके लिए ज्ञानका स्वरूप, ज्ञानके साधन, ज्ञानकी प्रक्रिया, ज्ञानकी कसौटी, ज्ञानका विस्तार प्रभृति ज्ञानसम्बन्धी प्रश्नोंका विधिवत् अध्ययन अपेक्षित है। भारतीय न्यायशास्त्रमें तर्क, अनुमान आदि प्रमाणविषयक प्रश्नोंका सविस्तर अध्ययन किया जाता है। अतः न्यायशास्त्र ज्ञानके सही साधना द्वारा वस्तुकी सम्यक् परीक्षा प्रस्तुत करता है। पर्याप्त बौद्धिक विश्लेषणके अनन्तर जो चरम सत्य सिद्ध होता है, वही सिद्धान्तरूपमें ग्राह्य है।

तर्कका कार्य ज्ञानकी सत्यता और असत्यताका परीक्षण करना है। मनुष्य तर्कद्वारा ज्ञानका बहुत बड़ा अंश अर्जित करता है। नया अनुभव नये हेतुके मिलनेपर ही स्वीकृत होता है। अतएव यह स्पष्ट है कि तर्ककी सहायतासे मनुष्य अपने ज्ञानका संवर्द्धन एवं सत्यापन करता है। तर्कजन्य ज्ञान ही उसे असत्यसे सत्यकी ओर ले जाता है।

न्यायशास्त्रमें तर्क और अनुमान दो भिन्न ज्ञानबिन्दु हैं। अनुमानमें किसी लिङ्ग या हेतुके ज्ञानके आधारपर किसी दूसरी वस्तुका ज्ञान प्राप्त किया जाता है, क्योंकि उस वस्तु तथा लिङ्गके बीच एक प्रकारका सम्बन्ध है, जो व्याप्ति द्वारा अभिहित किया जाता है। आशय यह है कि अनुमानके पक्षधर्मता और व्याप्ति ये दो आधार हैं। पक्षधर्मताका ज्ञान हुए बिना अनुमानकी उत्पत्ति सम्भव नहीं है। पक्षधर्मता अनुमानकी प्रथम आवश्यकता है, किन्तु पक्षधर्मताके रहनेपर भी व्याप्तिज्ञानके बिना अनुमान हो नहीं सकता। अतएव अनुमानके लिए पक्षधर्मता और व्याप्ति दोनोंके संयुक्त ज्ञानकी आवश्यकता है। यथा—"पर्वतो वह्निमान् धूमवत्त्वात्" इस उदाहरणमें पर्वत पक्ष है, यतः पर्वतके सम्बन्ध या पक्षमें ही अग्निका अनुमान होता है। 'अग्नि' साध्य है, क्योंकि इसीको पर्वतके सम्बन्धमें सिद्ध करना है। धूम साधन है, क्योंकि इसीके द्वारा पर्वतमें अग्निकी सिद्धि की जाती है। इस प्रकार अनुमानमें पक्ष, साधन और साध्य ये तीन पद रहते हैं।

अन्वय और व्यतिरेकके निमित्तसे होनेवाले व्याप्तिके ज्ञानको तर्क कहा जाता है[1]। किसी भी अनुमानमें हेतुकी गमकता अविनाभावपर निर्भर करती है और

---

१ उपलम्भानुपलम्भनिमित्तं व्याप्तिज्ञानमूहः —परीक्षामुख ३।७।
तर्को व्याप्यस्य व्यापकस्य च बाधनिश्चय कारणमिति—न्यायबोधिनी, पूना, पृष्ठ २१।
तर्को आपाद्यव्यतिरेकनिश्चय आपाद्यापादकयोर्व्याप्तिनिश्चयश्च कारणमिति—नीलकण्ठी। पृष्ठ ३८।

इस अविनाभावका ज्ञान तर्कके द्वारा होता है[1]। अतएव स्पष्ट है कि अनुमानकी सत्यताका निर्णय तर्क द्वारा ही किया जाता है। इस प्रकार भारतीय न्यायशास्त्रमें तर्क और अनुमानके मध्यम विभेदक सीमारेखा विद्यमान है। दूसरे शब्दोंमें यों कहा जा सकता है कि तर्कका क्षेत्र अनुमानसे आगे है। अनुमानके दोषों का निराकरण कर उसके अध्ययनको व्यवस्थित रूप प्रदान करना तर्कका कार्य है। अतः "तर्कशास्त्र वह विज्ञान है, जो अनुमानके व्यापक नियमों तथा अन्य सहायक मानसिक क्रियाओंका अध्ययन इस ध्येयसे करता है कि उनके व्यवहारसे सत्यताकी प्राप्ति हो"। इस परिभाषाके विश्लेषणसे दो तथ्य प्रस्फुटित होते हैं—

१ अनुमानके दोषोंका विश्लेषण तर्क द्वारा होता है तथा उसकी अविसंवादिताकी पुष्टि भी तर्कसे होती है।

२ तर्कद्वारा अनुमानमें सहायक मानसिक क्रियाओंका भी अध्ययन किया जाता है।

आशय यह है कि गलत अनुमानसे बचनेका उपाय तर्कका आश्रय ग्रहण करना है। यतः तर्कशास्त्रका सम्बन्ध विशेषतः अनुमानसे है। अनुमानको तर्कशास्त्रसे हटा देनेपर तर्कशास्त्रका अस्तित्व ही खतरेमें पड़ जायगा। भूत और भविष्यको मानवके सम्पर्कमें लानेका कार्य अनुमान ही करता है। अनुमानके सहारे ही भविष्यकी खोज और भूतकी परीक्षा की जाती है। यहाँ यह स्मरणीय है कि अनुमानजन्य ज्ञानका क्षेत्र प्रत्यक्ष ज्ञानके क्षेत्रसे बहुत बड़ा है। अल्प ज्ञानसे महत् अर्थोंकी जानकारी अनुमान द्वारा होती है। प्रत्यक्षकी प्रमाणतामें सन्देह होनेपर अनुमान ही उक्त सन्देहका निराकरण कर प्रामाण्यकी प्रतिष्ठा करता है। प्रत्यक्ष जहाँ अनुमानके मूलमें रहता है वहाँ प्रत्यक्षकी प्रामाणिकता कभी-कभी अनुमानपर अवलम्बित देखी जाती है। जहाँ युक्ति द्वारा प्रत्यक्षके किसी विषयका समर्थन किया जाता है वहाँ आपाततः अनुमान आ जाता है।

अनुमानके महत्त्वका निरूपण करते हुए श्री गङ्गेश उपाध्यायने लिखा है— "प्रत्यक्षपरिकलितमप्यर्थमनुमानेन बुभुत्सन्ते तर्करसिकाः"[2] अर्थात् विचारशील तार्किक प्रत्यक्षद्वारा अवगत भी अर्थको अनुमानसे जाननेकी इच्छा करते हैं। अतएव असम्बद्ध और अवर्तमान—अतीत, अनागत, दूरवर्ती और सूक्ष्म-व्यवहित पदार्थोंका ज्ञान अनुमानसे होता है। इस प्रकार भारतीय चिन्तकोंने वस्तुज्ञान और व्यवस्थाके लिए अनुमानकी आवश्यकता एवं उपयोगितापर प्रकाश डाला है। पाश्चात्य तर्कशास्त्रमें वर्णित 'काज एण्ड इफैक्ट्स' (Cause and effects) की अन्वेषणविधियाँ भी भारतीय अनुमानमें समाविष्ट हैं। अतः स्पष्ट है कि भारतीय तर्कशास्त्रमें अनुमानका महत्त्व अन्य प्रमाणोंसे कम नहीं है।

१ तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक—परा गानुमग्रुज २।१५।   २ तत्त्वचिन्तामणि पृष्ठ ४२४।

डॉ० प्रो० दरबारीलाल कोठियाने जैन अनुमानके अध्ययनके सन्दर्भमें भारतीय तर्कशास्त्रमें अनुमानका तुलनात्मक एवं समीक्षात्मक अध्ययन प्रस्तुत कर भारतीय न्यायशास्त्रको एक मौलिक कृति प्रदान की है। उनका यह अध्ययन तथ्योंके प्रस्तुतीकरणकी दृष्टिसे तो महत्त्वपूर्ण है ही, पर तथ्योंकी पुष्टिके लिए ग्रन्थान्तरसे उपस्थित किये गये प्रमाणोंकी दृष्टिसे भी समृद्ध है। विषय सामग्रीकी मौलिकता एवं विषय प्रतिपादनकी स्वच्छ और विशद शैली नवीन शोध-कर्त्ताओंके लिए अनुकरणीय है।

इसकी सामग्री शोध-खोजकी दिशामें एक नया चरणचिन्ह है। व्याप्ति और हेतुस्वरूपके सम्बन्धमें इतनी विचारपूर्ण सामग्री अन्य किसी ग्रन्थमें उपलब्ध नहीं है। व्याप्तिग्रहके साधनोंकी तटस्थ वृत्तिसे आलोचना करते हुए जैन नैयायिकोंने व्याप्तिग्राहक तर्कका विशेषरूपसे निरूपण किया है। डॉ० कोठियाने तर्कके क्षेत्रकी व्यापकता बतलाते हुए प्रभाचन्द्रके आधार पर लिखा है—"प्रत्यक्ष जहाँ सन्निहितको, अनुमान नियत देश-कालमें विद्यमान अनुमेयको, उपमान सादृश्यको और आगम शब्दसंकेतादिपर निर्भरितको जानते हैं, वहाँ तर्क सन्निहित-असन्निहित, नियत अनियत देश-कालमें विद्यमान साध्य साधनगत अविनाभावको विषय करता है।"[1] इस प्रकार अनेक प्रमाण और युक्तियोंके आधार पर व्याप्ति-सम्बन्धग्राही तर्ककी प्रामाणिकता सिद्ध की है।

उल्लेखनीय है कि डॉ० कोठियाने इसमें जैन दृष्टिसे अनुमानके लिए साध्य, साधन और उनके व्याप्तिसम्बन्धको आवश्यक तथा पक्ष और पक्षधर्मताको अनावश्यक बतलाकर भारतीय चिन्तकोंके समक्ष एक नये विचारका और उद्घाटन किया है। साथ ही अनुमानके समस्त घटकोंका विस्तारपूर्वक समालोचनात्मक अध्ययन कर केवल जैन परम्पराके अनुमानका वैशिष्ट्य ही प्रदर्शित नहीं किया है, अपितु भारतीय तर्कशास्त्रमें अनुमानकी सर्वाङ्गीण महत्ता स्थापित की है।

निस्सन्देह अनुमानपर इतना अच्छा शोधपूर्ण ग्रन्थ हिन्दी भाषामें सर्वप्रथम लिखा गया है। इसके अध्ययनसे न्यायशास्त्रमें रुचि रखनेवाले प्रत्येक जिज्ञासुका ज्ञान वर्द्धन होगा। डॉ० कोठिया अपने विषयके मर्मज्ञ एवं प्रतिभासम्पन्न मनीषी हैं, उन्होंने विषयके प्रामाणिक विश्लेषणात्मक अध्ययनके साथ प्रत्येक मान्यताके सम्बन्धमें अपनी प्रतिक्रिया भी व्यक्त की है। उनकी प्रतिक्रिया एक ऐसे विद्वान्की प्रतिक्रिया है, जिसने मूलग्रन्थ, भाष्य और टीकाओंके गम्भीर अध्ययनके साथ सूक्ष्मतम समस्याओंका भी अनुचिन्तन किया है।

विषय प्रतिपादनकी शैली चित्ताकर्षक और सुबोध है तथा विषयके साथ भाषापर भी अच्छा अधिकार है। तर्कशास्त्रकी गहन और दुरूह सामग्रीको सरल

एव स्पष्टरूपमें प्रस्तुत कर देना इस ग्रन्थका अपना मूल्य है। मैं विश्वासपूर्वक कह सकता हूँ कि प्रस्तुत ग्रन्थने न्यायशास्त्रकी श्रीवृद्धि की है। मैं डॉ० कोठियाको हृदयसे बधाई देता हूँ और आशा व्यक्त करता हूँ कि उनकी लेखनीसे इस प्रकार की समालोचनात्मक महत्त्वपूर्ण तर्कशास्त्र सम्बन्धी अन्य कृतियाँ भी निबद्ध होंगी। हिन्दी भाषा और साहित्यकी यह अभिवृद्धि तत्त्वकी वाङ्मयके निर्माणकी दृष्टिसे विशेष श्लाघ्य है।

सरस्वती श्रुतमहती न हीयताम्

नेमिचन्द्र शास्त्री,
एम० ए०, पी एच० डी०, डी० लिट०
ज्योतिषाचार्य न्याय-काव्यतीर्थ
अध्यक्ष—संस्कृत प्राकृत विभाग

ह० दा० जैन कॉलेज, आरा
मगध विश्वविद्यालय
वैशाखी पूर्णिमा, वि० सं० २०२६

प्रकाशकीय

प्राक्तनविद्यामहार्णव, प्रसिद्ध साहित्यकार आचार्य जुगलकिशोर मुख्तार 'युगवीर' द्वारा संस्थापित एवं प्रवर्तित वीर सेवा मन्दिर-ट्रस्टसे मार्च १९६३ में उनके निबन्धोंका प्रथम संग्रह—युगवीर निबन्धावली प्रथम भाग, दिसम्बर १९६३ में उन्हींके द्वारा सम्पादित अनूदित तत्त्वानुशासन, सितम्बर १९६४ में पण्डित हीरालालजी शास्त्री द्वारा अनुवादित तथा मेरे द्वारा सम्पादित एवं लिखी प्रस्तावना सहित समाधिमरणोत्साहदीपक, जून १९६७ में मुख्तारसाहबद्वारा अनूदित सम्पादित और मेरी प्रस्तावना युक्त देवागम (आप्तमीमांसा) और दिसम्बर १९६७ में उनके ही निबन्धोंका द्वितीय संग्रह—युगवीर निबन्धावली द्वितीय भाग ये पाँच महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ प्रकाशित हो चुके हैं।

आज उसी ट्रस्टसे 'जैन तर्कशास्त्रमें अनुमान-विचार : ऐतिहासिक एवं समीक्षात्मक अध्ययन' नामकी कृति, जो मेरा शोध-प्रबन्ध (thesis) है, 'युगवीर-समन्तभद्र ग्रन्थमालाके' अन्तर्गत उसके प्रथम ग्रन्थाङ्कके रूपमें प्रकट हो रही है। खेद है कि इसे ट्रस्टसे प्रकाशित करनेकी जिनकी प्रेरणा, योजना और स्वीकृति रही उन ट्रस्ट संस्थापक श्रद्धेय आ० जुगलकिशोर मुख्तार 'युगवीरका' गत २२ दिसम्बर १९६८ को निधन हो गया। वे होते तो उन्हें इसके प्रकाशनसे बड़ी प्रसन्नता होती।

प्रस्तुत सन्दर्भमें इतना ही प्रकट कर देना पर्याप्त होगा कि इसके प्रकाशमें आनेपर जैन अनुमानके विषयमें ही नहीं, अन्य भारतीय दर्शनोंके अनुमान-सम्बन्धमें भी अध्येताओंको कितनी ही महत्त्वपूर्ण एवं नयी जानकारी प्राप्त होगी। अतएव विश्वास है जिज्ञासु विद्वानों और अनुसन्धित्सु छात्रों द्वारा यह अवश्य समादृत होगी तथा राष्ट्रभाषा हिन्दीके दार्शनिक साहित्य भण्डारको अभिवृद्धिमें योगदान करेगी।

१९ अप्रैल १९६९
अक्षयतृतीया, वि० सं० २०२६
वाराणसी

दरबारीलाल जैन कोठिया
मन्त्री, वीर सेवा मन्दिर-ट्रस्ट

प्रस्तुत कृति

जैन वाङ्मय इतना विशाल और अगाध है कि उसके अनेक प्रमेय कितने ही विद्वानोंके लिए अज्ञात एवं अपरिचित हैं और जिनका सूक्ष्म तथा गहरा अध्ययन अपेक्षित है। जीवसिद्धान्त, कर्मवाद, स्याद्वाद, अनेकान्तवाद, नयवाद, निक्षेपवाद, सप्तभङ्गी, गुणस्थान, मार्गणा, जीवसमास प्रभृति ऐसे महत्त्वपूर्ण विषय हैं जिनकी चर्चा और विवेचन जैन श्रुतमें ही उपलब्ध है। परन्तु यह भारतीय ज्ञानराशि-की बहुमूल्य एवं असामान्य ज्ञान सम्पदा होने पर भी अध्येताओंका उसके अध्ययन, मनन और शोधकी ओर बहुत ही कम ध्यान गया है।

ऐसा ही एक विषय 'जैन तर्कशास्त्रमें अनुमान विचार' है, जिसपर शोधा-त्मक विमर्श प्रायः नहीं हुआ है। जहाँ तक हमें ज्ञात है, जैन अनुमानपर अभी-तक किसीने शोध प्रबन्ध उपस्थित नहीं किया। अतएव हमने जनवरी १९६५ में डा० नन्दकिशोर देवराजके परामर्श से उन्हींके निर्देशनमें उसपर शोध-कार्य करनेका निश्चय किया और काशी हिन्दूविश्वविद्यालयसे उसकी विधिवत अनुमति प्राप्त की। फलतः तीन वर्ष और तीन माह बाद ९ मई १९६८ को उक्त विषयपर अपना शोध प्रबन्ध विश्वविद्यालयको प्रस्तुत किया, जिसे विश्वविद्यालयने स्वीकृत कर गत ३० मार्च १९६९ को अपने दीक्षान्त-समारोहमें 'डॉक्टर आफ फिलॉसाफी' की उपाधि प्रदान की। प्रसन्नता है कि वही प्रबन्ध प्रस्तुत कृतिके रूपमें मनीषियोंके समक्ष है।

स्मरणीय है कि इस प्रबन्धमें जैन तर्कशास्त्रमें उपलब्ध अनुमान विचारका ऐतिहासिक एवं समीक्षात्मक अध्ययन प्रस्तुत करते समय भारतीय तर्कशास्त्रकी सभी शाखाओंमें विहित अनुमान विचारका भी सर्वेक्षण किया गया है, क्योंकि उनका घनिष्ठ सम्बन्ध है और परस्परमें वे कई विषयोंमें एक-दूसरेके ऋणी हैं। इससे तुलनात्मक अध्ययन करनेवालोंको एक जगह भारतीय अनुमानकी प्रायः पूरी सामग्री मिल सकेगी।

इसमें पाँच अध्याय और बारह परिच्छेद हैं। प्रथम अध्यायमें, जो प्रास्ताविक-रूप है, चार परिच्छेद हैं। प्रथम परिच्छेदमें भारतीय वाङ्मयके आधारसे अनु-मानके प्राचीन मूल रूप और न्याय, वैशेषिक, बौद्ध, मीमांसा, वेदान्त एवं सांख्य दर्शनगत अनुमान निरूपणको दिखाया है। द्वितीयमें जैन परम्पराका अनुमान विकास प्रदर्शित है। तृतीयमें अनुमानका स्वरूप, अनुमानाङ्ग (पक्षधर्मता और व्याप्ति तथा जैन दृष्टिसे केवल व्याप्ति), अनुमानभेद, अनुमानावयव और अनुमानदोष इन सभी अनुमानीय उपादानोंका समीक्षित चिन्तन अङ्कित है। चतुर्थ परिच्छेदमें भार-तीय अनुमान और पाश्चात्य तर्कशास्त्रपर दिङ्मात्र तुलनात्मक अध्ययन निबद्ध है।

द्वितीय अध्यायमें दो परिच्छेद हैं। प्रथममें जैन प्रमाणवादका विवेचन करते हुए उसमें अनुमानका क्या स्थान है, इसे बतलाकर प्रमाणके प्रत्यक्ष और परोक्ष दो भेदोंकी मीमांसा, परोक्षप्रमाणमें अनुमानका अन्तर्भाव, स्मृति आदि परोक्ष प्रमाणोंका संक्षिप्त विवेचन किया गया है। द्वितीय परिच्छेदमें जैनागमके आलोकमें अनुमानका प्राचीन रूप, अनुमानका महत्त्व एवं अनिवार्यता, जैन दृष्टिसे अनुमान परिभाषा एवं क्षेत्र विस्तार इन सबपर प्रकाश डाला गया है।

तृतीय अध्यायमें भी दो परिच्छेद हैं। पहलेमें अनुमानके विविध भेदोंपर भारतीय दर्शनोंमें किया गया विचार ग्रथित है तथा अकलङ्क, विद्यानन्द, वादिराज, प्रभाचन्द्र आदि जैन तार्किकोंकी तत्सम्बन्धी मीमांसा एवं विमर्श निबद्ध है। प्रत्यक्षको अनुमानकी तरह परार्थ माननेवाले सिद्धसेन और देवसूरिका मत तथा उसकी समीक्षा प्रदर्शित है। स्वार्थ और परार्थ अनुमानोंकी मूलकल्पना, उद्गम स्थान एवं पृष्ठभूमि, उनके अङ्ग एवं अवयवोंका चिन्तन भी इसमें अङ्कित है। द्वितीय परिच्छेदमें व्याप्तिका स्वरूप, उपाधिमीमांसा, उपाधि विमर्श प्रयोजन, व्याप्तिस्वरूपके सम्बन्धमें जैन तार्किकोंका नया दृष्टिकोण, व्याप्तिग्रहण-समीक्षा, व्याप्तिग्राहकरूपमें एकमात्र तर्कको स्वीकार करनेवाले जैन विचारकोंका अभिनव चिन्तन तथा व्याप्तिभेद (समव्याप्ति विषमव्याप्ति, अन्वयव्याप्ति-व्यतिरेकव्याप्ति, बहिर्व्याप्ति, सकलव्याप्ति, अन्तर्व्याप्ति, साधर्म्य-वैधर्म्य-व्याप्ति, तथोपपत्ति-अन्यथानुपपत्ति) इन सबका निमर्श है।

चतुर्थ अध्यायमें दो परिच्छेद हैं। प्रथममें सामान्य तथा व्युत्पन्न और अव्युत्पन्न प्रतिपाद्योंकी अपेक्षासे अवयवोंका विचार, प्रतिज्ञा, हेतु आदि प्रत्येक अवयवका विशिष्ट स्वरूप चिन्तन और भद्रबाहु प्रतिपादित पञ्चशुद्धियों सहित दशावयवोंके सम्बन्धमें दिगम्बर और श्वेताम्बर तार्किकोंका विचारभेद विवेचित है। द्वितीयमें हेतुके विभिन्न दार्शनिकलक्षणों (द्विलक्षण, त्रिलक्षण, चतुर्लक्षण, पञ्चलक्षण, षड्लक्षण, और सप्तलक्षण) की समीक्षा तथा एकलक्षण (अन्यथानुपपन्नत्व) की जैन मान्यताका विमर्श है। परिच्छेदके अन्तमें हेतुके विभिन्न प्रकारों—भेदोंका चिन्तन है।

पञ्चम अध्यायके अन्तर्गत दो परिच्छेद हैं। आद्य परिच्छेदमें समन्तभद्र, सिद्धसेन अकलङ्क, माणिक्यनन्दि, देवसूरि और हेमचन्द्र द्वारा प्रतिपादित पक्षाभासादि अनुमानाभासोंका विवेचन है। धर्मभूषण, चारुकीर्ति और यशोविजयने अनुमानदोषोंपर जो चिन्तन किया है वह भी इसमें संक्षेपमें निबद्ध है। माणिक्यनन्दि द्वारा अभिहित चतुर्विध बालप्रयोगाभास भी इसीमें विवेचित है जो सर्वथा नया है और अन्य भारतीय तर्कग्रन्थोंमें अनुपलब्ध है। दूसरे परिच्छेदमें वैशेषिक, न्याय और बौद्ध परम्पराओंमें चर्चित एवं विकसित अनुमानदोषोंका विचार अङ्कित है, जो तुलनात्मक अध्ययनकी दृष्टिसे उपादेय एवं ज्ञातव्य है।

उपसंहारमें जैन अनुमानकी कतिपय उपलब्धियोंका निर्देश है जो जैन तार्किकोंके स्वतन्त्र चिन्तनका फल कही जा सकती हैं।

ऊपर कहा गया है कि यह शोध-प्रबन्ध माननीय डा० नन्दकिशोर देवराज एम० ए०, डी० फिल०, डी० लिट्०, अध्यक्ष दर्शन विभाग तथा निर्देशक उच्चानुशील्न दर्शन-संस्थान और डीन आर्टस् फैकल्टी काशी हिन्दू विश्वविद्यालयके निर्देशनमें तयार किया। डा० देवराजसे समय-समयपर बहुमूल्य निर्देश और मार्गदर्शन प्राप्त हुआ। सम्प्रति उन्होंने प्राक्कथन भी लिख देनेकी कृपा की है। इसके लिए मैं उनका बहुत आभारी हूँ।

सुहृद्वर डा० नेमिचन्द्र शास्त्री एम० ए० (संस्कृत, प्राकृत, हिन्दी), पी-एच० डी०, डी० लिट्०, ज्योतिषाचार्य, अध्यक्ष प्राकृत-संस्कृत विभाग जैन कालेज आराको नहीं भूल सकता, जिन्होंने निरन्तर प्रेरणा, परामर्श और प्रवर्त्तन तो किया ही है अपना पुरोवाक् भी लिखा है। वे मुझे अग्रज मानते हैं, पर विशिष्ट और बहुमुखी मेधावी अपेक्षा मैं उन्हें नानाग्रजके रूपमें देखता व मानता हूँ। अतएव मैं उन्हें धन्यवाद दूँ तो उचित ही है।

जिन साहित्य-तपस्वी श्रद्धेय आ० जुगलकिशोर मुख्तारने सत्तर वर्ष तक निरन्तर साहित्य-साधना और समाज-सेवा की तथा साधना और सेवाका कभी प्रतिदान या पुरस्कार नहीं चाहा, आज उनका अभाव अखर रहा है। आशा है इस ग्रन्थ कृतिसे, जिसे मैंने उनके ९२ वें जन्मदिनपर उन्हें एक मुद्रित फर्मा द्वारा समर्पण किया था और जिसका प्रकाशन उनकी सदिच्छानुसार उन्हींके ट्रस्टसे हो रहा है, उनकी उस मदिच्छाकी अवश्य पूर्णता होगी। मेरा उन्हें परोक्ष नमन है।

स्याद्वाद महाविद्यालय वाराणसीके आठ सरस्वतीभवनके दर्शन ग्रन्थोंका उपयोग किया और जिन्हें अधिक काल तक अपने पास रखा। काशी हिन्दू विश्वविद्यालयके गायकवाड़ ग्रन्थागार, जैन सिद्धान्त भवन आरा और पार्श्वनाथ जैन विद्याश्रम वाराणसीसे भी कुछ ग्रन्थ प्राप्त हुए। हमारे कालेजके सहयोगी प्राध्यापक मित्रवर डा० गजानन मुशलगावकरने मीमांसादर्शनके और श्री मूलशंकर व्यासने वेदान्तके दुर्लभ ग्रन्थ देकर सहायता की। अनेक ग्रन्थकारों और ग्रन्थ सम्पादकोंके ग्रन्थोंसे उद्धरण लिए। प्रिय धर्मचन्द्र जैन एम० ए० ने विषय-सूची और परिशिष्ट बनाये। इन सबका हृदयसे धन्यवाद करता हूँ। साथ ही अपनी गृहिणी सौ० चमेलीबाई 'हिन्दीरत्न' को भी उसकी सतत प्रेरणा, सहायता, परिचर्या और अनुरूप सुविधा प्रदानके लिए धन्यवाद है।

अन्तमें महावीर प्रेसके संचालक श्री बाबूलालजी फागुल्लको भी धन्यवाद दिये बिना नहीं रह सकता, जिन्होंने ग्रन्थका सुन्दर मुद्रण किया और मुद्रण-सम्बन्धी परामर्श दिये।

—दरबारीलाल कोठिया

विषय-सूची

प्रथम-अध्याय

प्रास्ताविक

प्रथम परिच्छेद	१—२२
भारतीय वाङ्मय और अनुमान	१
अनुमानका विकास-क्रम	८
(क) न्याय-परम्परामें अनुमान विकास	८
(ख) वैशेषिक-परम्परामें अनुमानका विकास	१७
(ग) बौद्ध परम्परामें अनुमानका विकास	१९
(घ) मीमासक-परम्परामें अनुमानका विकास	२२
(ङ) वेदान्त और सांख्य-परम्परामें अनुमान विकास	२२
द्वितीय परिच्छेद	२३ ३२
जैन परम्परामे अनुमान विकास	२२
(क) षटखण्डागममें हेतुवादका उल्लेख	२३
(ख) स्थानाङ्गसूत्रमे हेतु निरूपण	२३
(ग) भगवतीसूत्रमें अनुमानका निर्देश	२५
(घ) अनुयोगसूत्रमें अनुमान निरूपण	२५
१—अनुमान भेद	२५
१ पुव्वव	२५
२ सेसव	२५
३ दिट्ठसाहम्मव	२५
१—पुव्वव	२५
२—सेसव	२५
(१) कार्यानुमान	२६
(२) कारणानुमान	२६
(३) गुणानुमान	२६
(४) अवयवानुमान	२६
(५) आश्रयी-अनुमान	२८
३—दिट्ठसाहम्मव	
(१) सामन्नदिट्ठ	२७
(२) विसेसदिट्ठ	२७

२—कालभेदसे अनुमानका त्रैविध्य २७
१ अतीतकालग्रहण २७
२ प्रत्युत्पन्नकालग्रहण २८
३ अनागतकालग्रहण २८
(ट) अवयव चर्चा २९
(च) अनुमानका मूल रूप ३०
(छ) अनुमानका तार्किक-विकास ३१
तृतीय परिच्छेद ३३-५२
संक्षिप्त अनुमान विवेचन ३३
अनुमानका स्वरूप ३३
अनुमानके अंग ३४
(क) पक्षधर्मता ३५
(ख) व्याप्ति ३७
अनुमानभेद ४१
अनुमानावयव ४४
अनुमानदोष ४८
चतुर्थ परिच्छेद ५३-५७
भारतीय अनुमान और पाश्चात्य तर्कशास्त्र ५३
अन्वयविधि ५३
संयुक्त अन्वय-व्यतिरेकविधि ५४
व्यतिरेकविधि ५४
सहचारी वैविध्यविधि ५५
अवशेषविधि ५६

द्वितीय अध्याय

प्रथम परिच्छेद ५८-७५
जैन प्रमाणवाद और उसमें अनुमानका स्थान ५८
(क) तत्त्व ५८
(ख) प्रमाणका प्रयोजन ५९
(ग) अन्य तार्किकों द्वारा अभिहित प्रमाणका स्वरूप ६०
(घ) जैन चिन्तकों द्वारा प्रमाणका स्वरूप-विमर्श ६२

समन्तभद्र और सिद्धसेन ६२
पूज्यपाद ६३
अकलङ्क ६५
विद्यानन्द ६६
माणिक्यनन्दि ६७
देवसूरि ६७
हेमचन्द्र ६७
धर्मभूषण ६८
निष्कर्ष ६८
(घ) प्रमाण-भेद ६९
(ङ) जैनन्यायमें प्रमाण-भेद ७०
(च) परोक्ष-प्रमाणका दिग्दर्शन ७४
द्वितीय परिच्छेद ७६–१०७
अनुमान समीक्षा ७६
(क) अनुमानका मूल रूप : जैनागमके आलोकमें ७६
(ख) अनुमानका महत्त्व एवं आवश्यकता ८५
(ग) अनुमानकी परिभाषा ९०
(घ) अनुमानका क्षेत्रविस्तार : अर्थापत्ति और अभावका अन्तर्भाव ९८
अर्थापत्ति और अभाव अनुमानसे पृथक् नहीं हैं १०१
सम्भवका अनुमानमें अन्तर्भाव १०४
प्रातिभका अनुमानमें समावेश १०५

तृतीय अध्याय

प्रथम परिच्छेद १०८–१२९
अनुमानभेद-विमर्श १०८
वैशेषिक १०८
मीमांसा १०९
न्याय १०९
सांख्य १११
बौद्ध ११२
जैन तार्किकों द्वारा अनुमानभेद-समीक्षा ११२
(क) अकलङ्कोक्त अनुमानभेद-समीक्षा ११३
(ख) विद्यानन्दकृत अनुमानभेद-मीमांसा ११५

(ग) वादिराज द्वारा अभिहित अनुमानभेद-समीक्षण		११७
(घ) प्रभाचन्द्र प्रतिपादित अनुमानभेद-आलोचना		११८
अनुमानभेद-समीक्षाका उपसंहार		११८
स्वार्थ और परार्थ		११९
वादिराजकृत मुख्य और गौण अनुमानभेद	११–१२	१२१
प्रत्यक्ष परार्थ है : सिद्धसेन और देवसूरिका मत : उसकी मीमांसा		१२४
स्वार्थानुमानके अङ्ग		१२६
धर्मीकी प्रसिद्धता		१२६
परार्थानुमानके अङ्ग और अवयव		१२९
द्वितीय परिच्छेद		**१३०–१५८**
व्याप्ति विमर्श		१३०
(क) व्याप्तिस्वरूप		१३०
(ख) उपाधि		१३२
(ग) उपाधिनिरूपणका प्रयोजन		१३३
(घ) जैन दृष्टिकोण		१३४
(ङ) व्याप्ति ग्रहण		१३७
(१) बौद्ध व्याप्ति-ग्रहण		१३८
(२) वेदान्त व्याप्ति-स्थापना		१३९
(३) सांख्य व्याप्ति-ग्रहण		१४०
(४) मीमांसा व्याप्ति-ग्रह		१४०
(५) वैशेषिक व्याप्ति-ग्रह		१४१
(६) न्याय व्याप्ति-ग्रह		१४२
(च) जैन विचारकोंका मत : तर्क द्वारा व्याप्तिग्रहण		१४६
निष्कर्ष		१५३
(छ) व्याप्ति भेद		१५५
समव्याप्ति विषमव्याप्ति		१५५
अन्वयव्याप्ति-व्यतिरेकव्याप्ति		१५५
साधर्म्यव्याप्ति-वैधर्म्यव्याप्ति		१५६
तथोपपत्ति-अन्यथानुपपत्ति		१५६
बहिर्व्याप्ति, सकलव्याप्ति, अन्तर्व्याप्ति		१५७

चतुर्थ-अध्याय

प्रथम परिच्छेद	**१५९–१८८**
अवयव विमर्श	१५९

अवयवोंका विकासक्रम	१५९
प्रतिपाद्योंकी दृष्टिसे अवयवप्रयोग	१६३
तुलनात्मक अवयव विचार	१६६
(१) प्रतिज्ञा	१६९
(२) हेतु	१७३
(३) दृष्टान्त	१७६
(४) उपनय	१८१
(५)निगमन	१८३
(६-१०) पच शुद्धियाँ	१८६
द्वितीय परिच्छेद	**१८९–२२५**
हेतु विमर्श	**१८९**
१—हेतुस्वरूप	१८९
द्विलक्षण	१९०
त्रिलक्षण	१९०
चतुर्लक्षण	१९२
पचलक्षण	१९२
षड्लक्षण	१९३
सप्तलक्षण	१९४
जैन तार्किको द्वारा स्वीकृत हेतुका एकलक्षण अन्य—लक्षणसमीक्षा—	१९४
२—हेतु भेद	२०४
हेतुभेदोंका सर्वेक्षण	२०४
जैन परम्परामे हेतुभेद	२०६
स्थानागसूत्रनिर्दिष्ट हेतुभेद	२०७
अकलङ्कप्रतिपादित हेतुभेद	२०८
विद्यानन्दोक्त हेतुभेद	२११
(१) विधिसाधक विधिसाधन (भूत-भूत) हेतु	२१२
(१) कार्य	२१२
(२) कारण	२१२
(३) अकार्यकारण	२१२
१ व्याप्य	२१२
२ सहचर	२१२
३ पूर्वचर	२१२
४ उत्तरचर	२१२

(२) प्रतिषेधसाधक विधिसाधन (अभूत भूत) २१२
(क) साक्षात्हेतु २१२
(१) विरुद्धकार्य २१३
(२) विरुद्धकारण २१३
(३) विरुद्धाकार्यकारण २१३
१ विरुद्धव्याप्य २१३
२ विरुद्धसहचर २१३
३ विरुद्धपूर्वचर २१३
४ विरुद्धउत्तरचर २१३
(ख) परम्पराहेतु २१३
(१) कारणविरुद्धकार्य २१४
(२) व्यापकविरुद्धकार्य २१४
(३) कारणव्यापकविरुद्धकार्य २१४
(४) व्यापककारणविरुद्धकार्य २१४
(५) कारणविरुद्धकारण २१४
(६) व्यापकविरुद्धकारण २१४
(७) कारणव्यापकविरुद्धकारण २१४
(८) व्यापककारणविरुद्धकारण २१४
(९) कारणविरुद्धव्याप्य २१४
(१०) व्यापकविरुद्धव्याप्य २१५
(११) कारणव्यापकविरुद्धव्याप्य २१५
(१२) व्यापककारणविरुद्धव्याप्य २१५
(१३) कारणविरुद्धसहचर २१५
(१४) व्यापकविरुद्धसहचर २१५
(१५) कारणव्यापकविरुद्धसहचर २१५
(१६) व्यापककारणविरुद्धसहचर २१५
(३) विधिसाधक प्रतिषेधसाधन (भूत-अभूत) २१६
१ विरुद्धकार्यानुपलब्धि २१६
२ विरुद्धकारणानुपलब्धि २१६
३ विरुद्धस्वभावानुपलब्धि २१६
४ विरुद्धसहचरानुपलब्धि २१६
(४) विधिप्रतिषेधक प्रतिषेधसाधन (अभूत-अभूत) २१७
(१) अविरुद्धकार्यानुपलब्धि २१७

(२) अविरुद्धकारणानुपलब्धि २१७
(३) अविरुद्धव्यापकानुपलब्धि २१७
(४) अविरुद्धसहचरानुपलब्धि २१७
(५) अविरुद्धपूर्वचरानुपलब्धि २१७
(६) अविरुद्धउत्तरचरानुपलब्धि २१७

पचम अध्याय

पथम परिच्छेद २२६-२४६
जैन परम्पराम अनुमानाभास विमर्श २२६
समन्तभद्रद्वारा निर्दिष्ट अनुमानदोष २२६
सिद्धसेननिरूपित अनुमानाभास २२७
अकलङ्कीय अनुमानदोपनिरूपण २२८
१ साध्याभास २२९
२ साधनाभास २३०
(१) असिद्ध २३३
(२) विरुद्ध २३३
(३) सदिग्ध २३४
(४) अकिञ्चित्कर २३४
३ दृष्टाताभास २३५
(१) साधर्म्यदृष्टाताभास २३५
(१) साध्यविकल २३५
(२) साधनविकल २३५
(३) उभयविकल २३५
(४) सदिग्धसाध्यान्वय २३५
(५) सदिग्धसाधनान्वय २३५
(६) सदिग्धोभयान्वय २३६
(७) अनन्वय २३६
(८) अप्रदर्शितान्वय २३६
(९) विपरीतान्वय २३६
(२) वैधर्म्यदृष्टान्ताभास २३६
(१) साध्याव्यावृत्त २३६
(२) साधनाव्यावृत्त २३६

(३) उभयाव्यावृत्त — २३६
(४) सदिग्धसाध्यव्यतिरेक — २३६
(५) सदिग्धसाधनव्यतिरेक — २३६
(६) सदिग्धोभयव्यतिरेक — २३७
(७) अव्यतिरेक — २३७
(८) अप्रदर्शितव्यतिरेक — २३७
(९) विपरीतव्यतिरेक — २३७

माणिक्यनन्दिद्वारा अनुमानाभास प्रतिपादन — २३७

(१) त्रिविध पक्षाभास — २३८
१ बाधित — २३८
२ अनिष्ट — २३८
३ सिद्धबाधित — २३८
(१) प्रत्यक्षबाधित — २३८
(२) अनुमानबाधित — २३८
(३) आगमबाधित — २३९
(४) लोकबाधित — २३९
(५) स्ववचनबाधित — २३९

(२) चतुर्विध हेत्वाभास — २४०

(३) द्विविध दृष्टान्ताभास — २४०
(१) अन्वयदृष्टान्ताभास — २४०
(२) व्यतिरेकदृष्टान्ताभास — २४०

(४) चतुर्विध बालप्रयोगाभास — २४०
(१) द्वि अवयवप्रयोगाभास — २४१
(२) त्रि-अवयवप्रयोगाभास — २४१
(३) चतुरवयवप्रयोगाभास — २४१
(४) विपरीतावयवप्रयोगाभास — २४१

देवसूरि प्रतिपादित अनुमानाभास — २४२
हेमचन्द्रोक्त अनुमानाभास — २४४
अन्य जैन तार्किकोंका मन्तव्य — २४४
(१) धर्मभूषण — २४४
(२) चारुकीर्ति — २४५
(३) यशोविजय — २४६

द्वितीय परिच्छेद २४७-२५४

इतरपरम्पराओमे अनुमानाभास-विमर्श २४७

वैशेषिकपरम्परा २४७

न्यायपरम्परा २४८

बौद्धपरम्परा २५०

उपसहार २५५-२६३

अनुमानका परोक्ष प्रमाणमें अन्तर्भाव २५७

अर्थापत्ति अनुमानसे पृथक् नही २५७

अनुमानका विशिष्ट स्वरूप २५८

हेतुका एकलक्षण (अन्यथानुपपन्नत्व) स्वरूप २५९

अनुमानका अग एकमात्र व्याप्ति २५९

पूर्वचर, उत्तरचर और सहचर हेतुओकी परिकल्पना २५९

प्रतिपाद्योकी अपेक्षा अनुमानप्रयोग २६०

व्याप्तिका ग्राहक एकमात्र तर्क २६०

तथोपपत्ति और अन्यथानुपपत्ति २६१

साध्याभास २६१

अकिञ्चित्कर हेत्वाभास २६१

बालप्रयोगाभास २६२

अनुमानमें अभिनिवोध-मतिज्ञानरूपता और श्रुतरूपता २६२

०

जैन तर्कशास्त्रमे अनुमान-विचार : ऐतिहासिक एवं समीक्षात्मक अध्ययन

अध्याय : १ :

प्रथम परिच्छेद

प्रास्ताविक

भारतीय वाड्मय और अनुमान

भारतीय तर्कशास्त्रमें अनुमानका महत्त्वपूर्ण स्थान है। चार्वाक (लोकायत) दर्शनके अतिरिक्त शेष सभी भारतीय दर्शनोंने अनुमानको प्रमाणरूपमें स्वीकार किया है और उसे परोक्ष पदार्थोंकी व्यवस्था एवं तत्त्वज्ञानका अन्यतम साधन माना है।

विचारणीय है कि भारतीय वाड्मयके तर्कग्रन्थोंमें[1] सर्वाधिक विवेचित एवं प्रतिपादित इस महत्त्वपूर्ण और अधिक उपयोगी प्रमाणका सव्यवहार कबसे आरम्भ हुआ? दूसरे, क्या सुदूरकालमें उसे अनुमान ही कहा जाता था या किसी अन्य नामसे वह व्यवहृत होता था? जहाँ तक हमारा अध्ययन है भारतीय वाड्मयके निबद्धरूपमें उपलब्ध ऋग्वेद आदि संहिता-ग्रन्थोंमें अनुमान या उसका पर्याय शब्द उपलब्ध नहीं होता। हाँ, उपनिषद-साहित्यमें एक शब्द ऐसा अवश्य आता है जिसे अनुमानका पूर्व संस्करण कहा जा सकता है और वह शब्द है 'वाकोवाक्यम्'[2]। छान्दोग्योपनिषद्के इस शब्दके अतिरिक्त ब्रह्मबिन्दूपनिषद्-

---

१ गौतम अक्षपाद, न्यायसू० १।१।३, भारतीय विद्या प्रकाशन, वाराणसी।

२ ऋग्वेदं भगवोऽध्येमि ... वाकोवाक्यमेकायनं ... अध्येमि।

—छान्दो० ७।१।२, निर्णयसागर प्रेस बम्बई, सन् १९३२।

वाल्मीकि रामायणकी तरह पण्डितक, हेतुक और वेदनिन्दक कहकर उनकी भर्त्सना भी की है। तात्पर्य यह कि तर्कविद्याके सदुपयोग और दुरुपयोगकी ओर उन्होंने संकेत किया है। एक अन्य प्रकरणमें[1] नारदको पञ्चावयवयुक्त वाक्यके गुणदोषोंका वेत्ता और 'अनुमानविभागवित' बतलाया है। इन समस्त उल्लेखोंसे अवगत होता है कि महाभारतमें अनुमानके उपादानों और उसके व्यवहारकी चर्चा है।

आन्वीक्षिकी शब्द अनुमानका बोधक है। इसका यौगिक अर्थ है अनु—पश्चात + ईक्षा—देखना अर्थात फिर जाँच करना। वात्स्यायनके[2] अनुसार प्रत्यक्ष और आगमसे देखे-जाने पदार्थको विशेष रूपसे जाननेका नाम 'अन्वीक्षा' है और यह अन्वीक्षा ही अनुमान है। अन्वीक्षापूर्वक प्रवृत्ति करनेवाली विद्या आन्वीक्षिकी—न्यायविद्या—न्यायशास्त्र है। तात्पर्य यह कि जिस शास्त्रमें वस्तु सिद्धिके लिए अनुमानका विशेष व्यवहार होता है उसे वात्स्यायनने अनुमानशास्त्र, न्यायशास्त्र, न्यायविद्या और आन्वीक्षिकी बतलाया है। इस प्रकार आन्वीक्षिकी न्यायशास्त्रकी संज्ञाको धारण करती हुई अनुमानके रूपको प्राप्त हुई है। डा० सतीशचन्द्र विद्याभूषणने[3] आन्वीक्षिकीमें आत्मा और हेतु दोनों विद्याओंका समावेश किया है। उनका मत है कि सांख्य, योग और लोकायत आत्माके अस्तित्वकी सिद्धि और असिद्धिमें प्राचीन कालसे ही हेतुवाद या आन्वीक्षिकीका व्यवहार करते आ रहे हैं।

कौटिल्यके अर्थशास्त्रमें[4] आन्वीक्षिकीके समर्थनमें कहा गया है कि विभिन्न युक्तियों द्वारा विषयोंका बलाबल इसी विद्याके आश्रयसे ज्ञात होता है। यह

१ व्यास, महाभा० सभा पर्व ५।५,८।

२ प्रत्यक्षागमाश्रितमनुमानं साऽन्वीक्षा। प्रत्यक्षागमाभ्यामीक्षितस्यान्वीक्षणमन्वीक्षा। तया प्रवर्तत इत्यान्वीक्षिकी न्यायविद्या न्यायशास्त्रम्।—वात्स्यायन, न्यायभा० १।१।१, पृ० ७।

3 Ānviksiki dealt in fact with two subjects viz Ātmā, Soul and Hetu, theory of reasons Vatsyāyana observes that Ānviksiki without the theory of reasons would have like the upanisad been a mere Ātma vidyā or Adhyātma-vidyā It is the theory of reasons which distinguished it from the same the Samkhya, yoga & Lokāyata in so far as they treated of reasons affirming or denying the existence of Soul were included by Kautilya in the Ānviksiki

—A History of Indian Logice, Calcutta University 1921, page 5

४ कौटिल्य, अर्थशास्त्र विद्यासमुद्देश १।१, पृ० १०, ११।

लोकका उपकार करती है, दुःख-सुखमें बुद्धिको स्थैर्य प्रदान करती है, प्रज्ञा, वचन और क्रियामें कुशलता लाती है। जिस प्रकार दीपक समस्त पदार्थोंका प्रकाशक है उसी प्रकार यह विद्या भी सब विद्याओं, समस्त कार्यों और समस्त धर्मोंकी प्रकाशिका है। कौटिल्यके इस विवेचन और उपर्युक्त वर्णनसे आन्वीक्षिकी विद्याको अनुमानका पूर्वरूप कहा जा सकता है[1]।

मनुस्मृतिमें[2] जहाँ तक और तर्की शब्दोंका प्रयोग मिलता है वहाँ हैतुक, आन्वीक्षिकी और हेतुशास्त्र शब्द भी उपलब्ध होते हैं। एक स्थानपर[3] तो धर्म-तत्त्वके जिज्ञासुके लिए प्रत्यक्ष और विविध आगमरूप शास्त्रके अतिरिक्त अनुमानको भी जाननेका स्पष्ट निर्देश किया है। इससे प्रतीत होता है कि मनुस्मृतिकारके समयमें हेतुशास्त्र और आन्वीक्षिकी शब्दोंके साथ अनुमान शब्द भी व्यवहृत होने लगा था और उसे असिद्ध या विवादापन्न वस्तुओंकी सिद्धिके लिए उपयोगी माना जाता था।

षट्खण्डागममें[4] 'हेतुवाद', स्थानाङ्गसूत्रमें[5] 'हेतु', भगवतीसूत्रमें[6] 'अनुमान' और अनुयोगसूत्रमें[7] अनुमानके भेद प्रभेदोंकी चर्चा समाहित है। अतः जैनागमोंमें भी अनुमानका पूर्वरूप और अनुमान प्रतिपादित है।

इस प्रकार भारतीय वाङ्मयके अनुशीलनसे अवगत होता है कि भारतीय तर्कशास्त्र आरम्भमें 'वाकोवाक्यम्', उसके पश्चात् आन्वीक्षिकी, हेतुशास्त्र, तर्क-विद्या और न्यायशास्त्र या प्रमाणशास्त्रके रूपोंमें व्यवहृत हुआ। उत्तरकालमें प्रमाणमीमांसाका विकास होनेपर हेतुविद्यापर अधिक बल दिया गया। फलतः आन्वीक्षिकीमें अर्थसंकोच होकर वह हेतुपूर्वक होनेवाले अनुमानकी बोधक हो गयी। अतः 'वाकोवाक्यम्' आन्वीक्षिकीका और आन्वीक्षिकी अनुमानका प्राचीन मूल रूप ज्ञात होता है।

---

१ विशेषके लिए देखिए डा० सतीशचन्द्र विद्याभूषण, ए हिस्टरी ऑफ इण्डियन लॉजिक पृ० ४०।

२ मनुस्मृति १२।१०६, २।११, ७।४३, २।११, चौखम्बा सं० सी० वाराणसी।

३ प्रत्यक्षं चानुमानं च शास्त्रं च विविधागमम्।
त्रयं सुविदितं कार्यं धर्मशुद्धिमभीप्सता ॥
—वही, १२।१०५।

४ भूतवली-पुष्पदन्त, षट्ख० ५।५।५१ सोलापुर संस्करण, सन् १९६५ ई०।

५ मुनि कन्हैयालाल, स्था० सू० पृ० ३०९, ३१०, ब्यावर संस्करण वि० सं० २०१०।

६ मुनि कन्हैयालाल, भ० सू० ५।३।१९१ ९२, धनपतसिंह कलकत्ता।

७ मुनि कन्हैयालाल, अनु० सू० मूलसुत्ताणि, पृ० ५३९, ब्यावर संस्करण, वि० सं० २०१०।

अनुमानका विकास-क्रम

अनुमानका विकास निबद्धरूपमें अक्षपादके न्यायसूत्रसे आरम्भ होता है। न्यायसूत्रके व्याख्याकारों—वात्स्यायन, उद्योतकर, वाचस्पति, जयन्त भट्ट, उदयन, श्रीकण्ठ, गंगेश, वर्द्धमानउपाध्याय, विश्वनाथ प्रभृति—ने अनुमानके स्वरूप, आधार, भेदोपभेद, व्याप्ति, पक्षधर्मता, व्याप्तिग्रहण, अवयव आदिका विस्तारपूर्वक विवेचन किया है। इसके विकासमें प्रशस्तपाद, माठर, कुमारिल जैसे वैदिक दार्शनिकोंके अतिरिक्त वसुबन्धु, दिङ्नाग, धर्मकीर्ति, धर्मोत्तर, प्रज्ञाकर, शान्तरक्षित, अर्चट आदि बौद्ध नैयायिकों तथा समन्तभद्र, सिद्धसेन, पात्रस्वामी, अकलंक, विद्यानन्द, माणिक्यनन्दि, प्रभाचन्द्र, देवसूरि, हेमचन्द्र प्रमुख जैन तार्किकोंने भी योगदान किया है। निःसन्देह अनुमानका क्रमिक विकास तर्कशास्त्रकी दृष्टिसे जितना महत्त्वपूर्ण एवं रोचक है उससे कहीं अधिक भारतीय धर्म और दर्शनके इतिहासकी दृष्टिसे भी। यतः भारतीय अनुमान केवल कार्यकारणरूप बौद्धिक व्यायाम ही नहीं है, बल्कि निःश्रेयस-उपलब्धिके साधनोंमें परिगणित है[1]। यही कारण है कि भारतीय अनुमान-परम्पराका जितना विचार तर्कग्रन्थोंमें उपलब्ध होता है उतना या उससे कुछ कम धर्मशास्त्र, दर्शनशास्त्र और पुराणग्रन्थोंमें भी पाया जाता है। पर हमारा उद्देश्य स्वतन्त्र दृष्टिसे भारतीय तर्कग्रन्थोंमें अनुमानपर जो चिन्तन उपलब्ध होता है उसीके विकासपर यहाँ समीक्षात्मक विचार प्रस्तुत करना है।

(क) न्याय-परम्परामें अनुमान विकास

गौतमने अनुमानकी परिभाषा केवल "तत्पूर्वकम्"[2] पद द्वारा ही उपस्थित की है। इस परिभाषामें "तत्" शब्द केवल स्पष्ट है, जो पूर्वकथित प्रत्यक्षके लिए प्रयुक्त हुआ है और यह बतलाता है कि प्रत्यक्ष-पूर्वक अनुमान होता है, किन्तु वह अनुमान है क्या? यह जिज्ञासा अनुत्त ही रह जाती है। सूत्रके अग्रांशमें अनुमानके पूर्ववत्, शेषवत् और सामान्यतोदृष्ट ये तीन भेद उपलब्ध होते हैं। इनमें प्रथमके दो भेदोंमें आगत 'वत्' शब्द भी विचारणीय है। शब्दकी दृष्टिसे 'पूर्वके समान' और 'शेषके समान' यही अर्थ उससे उपलब्ध होता है तथा 'सामान्यतोदृष्ट'से 'सामान्यतः दृष्ट' अर्थ ज्ञात होता है। इसके अतिरिक्त

---

१ प्रदीपः सर्वविद्यानामुपायः सर्वकर्मणाम् । आश्रयः सर्वधर्माणां विद्योद्देशे प्रकीर्तिता ।
—वात्स्यायन न्यायभा० १।१।१, पृष्ठ ११।

२ गौतम अक्षपाद न्यायसू० १।१।५।

उसमें प्रयुक्त व्याप्ति[1] और पक्षधर्मता[2] पदोंका उन्होंने सर्वथा अभिनव तथा विस्तृत स्वरूप प्रदर्शित किया है। व्याप्तिग्रहके साधनोंमें सामान्यलक्षणाप्रत्यासत्तिपर[3] उन्होंने सर्वाधिक बल दिया है। उनका अभिमत है कि यदि सामान्यलक्षणा न हो तो अनुकूल तर्कादिकके बिना धूमादिमें आशंकित व्यभिचार नहीं बन सकेगा, क्योंकि प्रसिद्ध धूममें वह्निसम्बन्धका ज्ञान हो जानेसे कालान्तरीय एवं देशान्तरीय धूमके सद्भावका साधक प्रमाण न होनेसे उसका ज्ञान नहीं होता। सामान्यलक्षणा द्वारा तो समस्त धूमोंकी उपस्थिति हो जाने और धूमान्तरका विशेष दर्शन न होनेसे व्यभिचारकी आशंका सम्भव है। तात्पर्य यह कि व्यभिचारशंकाके लिए सामान्यलक्षणाका मानना आवश्यक है और व्यभिचारशंकाके होने पर ही तर्कादिकी उपयोगिता प्रमाणित होती है। इसी प्रकार गंगेशने अनुमानके सम्बन्धमें मौलिक विवेचन नव्यन्यायके आलोकमें कर नये सिद्धान्त प्रस्तुत किये हैं।

विश्वनाथ, जगदीश तर्कालंकार, मथुरानाथ तर्कवागीश, गदाधर आदि नव्य-नैयायिकोंने भी अनुमानपर बहुत ही सूक्ष्म विचार करके उसे समृद्ध किया है। केशव मिश्रकी तर्कभाषा और अन्नम्भट्टकी तर्कसंग्रह प्राचीन और नवीन न्यायकी प्रतिनिधि तर्ककृतियां हैं जिनमें अनुमानका सुबोध और सरल भाषामें विवेचन उपलब्ध है।

(ख) वैशेषिक परम्परामें अनुमानका विकास

वैशेषिकदर्शनसूत्रप्रणेता कणादने[4] स्वतन्त्र दर्शनका प्रणयन करके उसमें पदार्थोंकी सिद्धि (व्यवस्था) प्रत्यक्षके अतिरिक्त लैंगिक द्वारा भी प्रतिपादित की है और हेतु, अपदेश, लिंग, प्रमाण जैसे हेतुवाची पर्याय शब्दोंका प्रयोग तथा कार्य, कारण, संयोगि, विरोधि एवं समवायि इन पांच लैंगिकप्रकारों और त्रिविध हेत्वाभासोंका निर्देश किया है। उनके इस संक्षिप्त अनुमान निरूपणमें अनुमानका सूत्रपात मात्र दिखता है, विकसित रूप कम मिलता है। पर उनके भाष्यकार प्रशस्तपादके भाष्यमें अनुमान-समीक्षा विशेष रूपमें उपलब्ध होती है। अनुमानका

१ नन्वनुमितिहेतुव्याप्तिज्ञाने का व्याप्तिः। न तावदव्यभिचरितत्वम्। नापि ...। अत्रोच्यते। प्रतियोग्यसमानाधिकरणयत्समानाधिकरणात्यन्ताभावप्रतियोगितावच्छेदकावच्छिन्नं यन्न भवति तेन समं तस्य सामानाधिकरण्यं व्याप्तिः।
—त० चि० अनुमान खण्ड, पृष्ठ ७७, ८६, १७१, १७८, १८१, १८६, २०१।

२ वही, पृष्ठ ६३१।

३ व्याप्तिग्रहश्च सामान्यलक्षणाप्रत्यासत्त्या सकलधूमादिविषयकः ...। यदि सामान्यलक्षणा नास्ति तदा ...।
—वही, पृष्ठ ४३३, ४५३।

४ वैशेषि० द० १०।१।३, तथा ९।२।१,४।

लक्षण प्रशस्तपादने इस प्रकार दिया है— 'लिंगदर्शनात्संजायमानं लैंगिकम्'[1] अर्थात् लिंगदर्शनसे होनेवाले ज्ञानको लैंगिक कहते हैं। इसी सन्दर्भमें उन्होंने[2] लिंगका स्वरूप बतलानेके लिए काश्यपकी दो कारिकाएँ उद्धृत की हैं जिनका आशय प्रस्तुत करते हुए लिखा है[3] कि जो अनुमेय अर्थके साथ किसी देशविशेष या कालविशेषमें सहचरित हो, अनुमेयधर्मसे समन्वित किसी दूसरे सभी अथवा एक स्थानमें प्रसिद्ध (विद्यमान) हो और अनुमेयसे विपरीत सभी स्थानोंमें प्रमाणसे असत् (व्यावृत्त) हो वह अप्रसिद्ध अर्थका अनुमापक लिंग है। किन्तु जो ऐसा नहीं वह अनुमेयके ज्ञानमें लिंग नहीं है—लिंगाभास है। इस प्रकार प्रशस्तपादने सर्वप्रथम लिंगका त्रिरूप वर्णित किया है। बौद्ध तार्किक दिङ्नागने[4] भी हेतुको त्रिरूप बतलाया है। सम्भवत यह प्रशस्तपादका अनुसरण है।

व्याप्तिग्रहणके प्रकारका निरूपण भी हम प्रशस्तपादके भाष्यमें[5] सर्वप्रथम देखते हैं। वहाँ उसे बतलाते हुए लिखा है कि 'जहाँ धूम होता है वहाँ अग्नि होती है और अग्नि न होने पर धूम भी नहीं होता, इस प्रकारसे व्याप्तिको ग्रहण करने वाले व्यक्तिको असन्दिग्ध धूमको देखने और धूम तथा वह्निके साहचर्यका स्मरण होनेके अनन्तर अग्निका ज्ञान होता है। इसी तरह सभी अनुमानोंमें व्याप्ति का निश्चय अन्वय-व्यतिरेकपूर्वक होता है। अत समस्त देश तथा कालमें साध्या विनाभूत लिंग साध्यका अनुमापक होता है।' व्याप्तिग्रहणके प्रकारका इस तरहका स्पष्ट निरूपण प्रशस्तपादसे पूर्व उपलब्ध नहीं होता।

प्रशस्तपादने[6] ऐसे कतिपय हेतुओंके उदाहरण प्रस्तुत किये हैं जिनका अन्तर्भाव सूत्रकार कणादके उक्त कार्यादि पंचविध हेतुओंमें नहीं होता। यथा—चन्द्रोदयका समुद्रवृद्धि और कुमुदविकासका, शरद्में जलप्रसादका अगस्त्योदयका अनुमान करना। अतएव वे सूत्रकारके हेतुवचनको अवधारणार्थक न मानकर 'अस्येदम्'

---

१ प्रश० भा० पृष्ठ ११।

२,३ वही, पृष्ठ १००, १०१।

४ हेतुस्त्रिरूप। किं पुनस्त्रैरूप्यम्। प ।। धर्म ? सपक्षे सत्त्वं विपक्षे चासत्त्वमिति।
—न्यायप्र० पृ० १।

५ विधिस्तु यत्र धूमस्तत्राग्निरग्न्यभावे धूमोऽपि न भवतीति। एवं प्रसिद्धसमयस्यासन्दिग्ध धूमदर्शनात् साहचर्यानुस्मरणात् तदनन्तरमग्न्यध्यवसायो भवतीति। एवं सर्वत्र देशकालाविनाभूतमितरस्य लिङ्गम्।
—प्रश० भा० पृष्ठ १०२ १०३

६ शास्त्रे कार्यादिग्रहणं निदर्शनार्थं कृतं नावधारणार्थम्। कस्मात्? व्यतिरेकदर्शनात्। तद्यथा—अध्वर्युरोमिति ब्रुवन् ... हेतुर्लिङ्गम्, चन्द्रोदय समुद्रवृद्धे कुमुदविकासस्य च [illegible]।
वही, पृष्ठ १०४।

इस सम्भावनाके सूचक वचनमे चन्द्रोदयादि हेतुओंका, जो कार्यादिरूप नहो है, सग्रह कर लेते है। यह प्रतिपादन भी प्रशस्तपादकी अनुमानके क्षेत्रमें एक देन है।

अनुमानके दृष्ट और सामान्यतोदृष्टके भेदसे दो भेदों[1] तथा स्वनिश्चितार्थानुमान और परार्थानुमानके भेदसे भी दो भेदों[2] का वर्णन, शब्द, चेष्टा, उपमान, अर्थापत्ति, सम्भव, अभाव और ऐतिह्यका अनुमानमें अन्तर्भाव प्रतिपादन,[3] परार्थानुमानवाक्यके प्रतिज्ञा, अपदेश, निदर्शन, अनुसन्धान, प्रत्याम्नाय इन पाँच अवयवोकी परिकल्पना,[4] हेत्वाभासोका अपने ढगका चिन्तन,[5] अनध्यवसितनामक हेत्वाभासकी कल्पना और फिर उसे असिद्धके भेदोमें ही अन्तर्भूत करना[6] तथा निदर्शनके विवेचनप्रसगमें निदर्शनाभासोका कथन,[7] जो न्यायदर्शनमें उपलब्ध नही होता, केवल जैन और बौद्ध तर्कग्रन्थोमें वह मिलता है, आदि अनुमान सम्बन्धी सामग्री प्रशस्तपादभाष्यमें पर्याप्त विद्यमान है।

व्योमशिव, श्रीधर आदि वैशेषिक तार्किकोंने भी अनुमानपर विचार किया है और उसे समृद्ध बनाया है।

(ग) बौद्ध परम्परामे अनुमानका विकास

बौद्ध तार्किकोने तो भारतीय तर्कशास्त्रको इतना प्रभावित किया है कि अनुमानपर उनके द्वारा सख्याबद्ध ग्रन्थ लिखे गये है। उपलब्ध बौद्ध तर्कग्रन्थोमें सबसे प्राचीन तर्कशास्त्र[8] और उपायहृदय[9] नामक दो ग्रन्थ माने जाते हैं। तर्कशास्त्रमें तीन प्रकरण है। प्रथममें परस्पर दोषापादन, खण्डनप्रक्रिया, प्रत्यक्षविरुद्ध, अनुमानविरुद्ध, लोकविरुद्ध तीन विरुद्धोंका कथन, हेतुफलन्याय, सापेक्षन्याय, साधनन्याय, तथतान्याय चार न्यायोंका प्रतिपादन आदि है। द्वितीयमें खण्डनभेदा और तृतीयमें उन्हीं बाइस निग्रहस्थानोका अभिधान है, जिनका गौतमके न्यायसूत्रमे है। किन्तु गौतमकी तरह हेत्वाभास पाँच वर्णित नही है,

---

१ प्रश० भा० पृष्ठ १०४।
२ वही, पृष्ठ १०६, ११३।
३ वही, पृष्ठ १०६ ११२।
४ वही, पृष्ठ ११४ १२७।
५. वही, पृष्ठ ११६ १२१।
६ वही, पृष्ठ ११६ तथा १२०।
७ वही पृष्ठ १२२।
८ ओरियंटल इंस्टीट्यूट बडौदा द्वारा प्रकाशित Pre Dinnaga Buddhist texts on Logic From Chinese Sources के अन्तर्गत।
९ वही।

अपितु असिद्ध विरुद्ध और अनैकान्तिक तीन अभिहित हैं।[1] जैसी युक्तियाँ और प्रतियुक्तियाँ इसमें प्रदर्शित हैं उनसे अनुमानका उपहास ज्ञात होता है। पर[2] इतना स्पष्ट है कि शास्त्रार्थमें विजय पाने और विरोधीका मुँह बन्द करनेके लिए सद्-असद् तर्क उपस्थित करना उस समयकी प्रवृत्ति रही जान पड़ती है।

उपायहृदय चार प्रकरण हैं। प्रथममें वादके गुण-दोषोंका वर्णन करते हुए कहा गया है[3] कि वाद नहीं करना चाहिए क्योंकि उससे वाद करनेवालेको विपुल क्रोध और अहंकार उत्पन्न हो जाता है, चित्त विभ्रान्त, मन कठोर, पर-पाप प्रकाशक और स्वकीय पाण्डित्यका अनुमोदक बन जाता है। इसके उत्तरमें कहा गया है कि तिरस्कार, लाभ और ख्यातिके लिए वाद नहीं, अपितु सुलक्षण और दुर्लक्षण उपदेशकी इच्छासे वह किया जाना चाहिए। यदि लोकमें वाद न हो तो मूर्खोंका बाहुल्य हो जाएगा और उससे मिथ्याज्ञानादिका साम्राज्य जम जाएगा। फलतः संसारकी दुर्गति तथा उत्तम कार्योंकी क्षति होगी। इस प्रकरणमें न्यायसूत्रकी तरह प्रत्यक्षादि चार प्रमाण और पूर्ववदादि तीन अनुमान वर्णित हैं। आठ प्रकारके हेत्वाभासों आदिका भी निरूपण है। द्वितीयमें वादधर्मों आदिका, तृतीयमें दूषणा आदिका और चतुर्थमें बीस प्रकारके प्रश्नोत्तर धर्मों, जिनका न्यायसूत्रमें जातियोंके रूपमें कथन है, आदिका वर्णन है।[4] उल्लेख्य है कि इसमें पूर्ववत् शेषवत् और सामान्यतोदृष्ट इन अनुमानोंके जो उदाहरण दिये गये हैं[5] वे न्यायभाष्यगत उदाहरणोंसे भिन्न तथा अनुयोगसूत्र[6] और युक्तिदीपिका[7] के समान हैं। इससे प्रतीत होता है कि इसमें किसी प्राचीन परम्पराका अनुसरण है।

यहाँ इन दोनों ग्रन्थोंके संक्षिप्त परिचयका प्रयोजन केवल अनुमानके प्राचीन स्रोतको दिखाना है। परन्तु उत्तरकालमें इन ग्रन्थोंकी परम्परा नहीं अपनायी गयी। न्यायप्रवेश[8] में अनुमानतत्त्वकी अभिनव परम्पराएँ स्थापित की गयी हैं।

---

१ यथापूर्वमुत्तरास्त्रिविधा। असिद्धानैकान्तिकविरुद्धभेदेन हेत्वाभासाः।
—तर्कशास्त्र पृष्ठ ४०।

२ वही पृष्ठ ३।

३ उपायहृदय पृष्ठ ३।

४ वही पृष्ठ ६-१७, १८-२१, २२-२७, २९-३२।

५ यथा षडंगुलि सपिटकमूर्धानं बालं दृष्ट्वा पश्चाद् वृद्धं दृष्ट्वा ... रणात् सादृश्य ... पूर्ववत्। ... यथा, ... मपि ... —वही, पृष्ठ १३।

६ स० ... , सू० पृष्ठ ...।

७ यु० दी० का० ५, पृष्ठ ४५।

८ न्या० प्र० पृष्ठ १-८।

साधन (परार्थानुमान) के पक्ष, हेतु और दृष्टान्त तीन अवयव, हेतुके पक्षधर्मत्व, सपक्षसत्व और विपक्षासत्व तीन रूप, पक्ष, सपक्ष और विपक्षके लक्षण तथा पक्ष-लक्षणमें प्रत्यक्षाद्यविरुद्ध विशेषणका प्रवेश, जो प्रशस्तपादके अनुसरणका सूचक है, नवविध पक्षाभास, तीन हेत्वाभास और उनके प्रभेद द्विविध दृष्टान्ताभास और प्रत्येकके पाँच पाँच भेद, प्रत्यक्ष और अनुमानके भेदसे द्विविध प्रमाण लिंगसे होने वाले अर्थ (अनुमेय) दर्शनको अनुमान हेत्वाभासपूर्वक होनेवाले ज्ञानको अनुमानाभास, दूषण और दूषणाभास आदि अनुमानोपयोगी तत्त्वोंका स्पष्ट निरूपण करके बौद्ध तर्कशास्त्रको अत्यधिक पुष्ट तथा पल्लवित किया गया है। इसी प्रयोजनको पुष्ट और बढ़ावा देनेके लिए दिङ्नागने न्यायद्वार, प्रमाणसमुच्चय सवृत्ति, हेतुचक्रसमर्थन आदि ग्रन्थोंकी[1] रचना करके उनमें प्रमाणका विशेषतया अनुमानका विचार किया है।

धर्मकीर्तिने प्रमाणसमुच्चयपर अपना प्रमाणवार्तिक लिखा है, जो उद्योतकरके न्यायवार्तिककी तरह व्याख्येय ग्रन्थसे भी अधिक महत्त्वपूर्ण और यशस्वी हुआ। इन्होंने हेतुबिन्दु न्यायबिन्दु आदि स्वतन्त्र प्रकरण-ग्रन्थोंकी भी रचना की है[2] और जिनसे बौद्ध तर्कशास्त्र न केवल समृद्ध हुआ, अपितु अनेक उपलब्धियाँ भी उसे प्राप्त हुई हैं। न्यायबिन्दुमें अनुमानका लक्षण और उसके द्विविध भेद तो न्यायप्रवेश प्रतिपादित ही है। पर अनुमानके अवयव धर्मकीर्तिने तीन न मानकर हेतु और दृष्टान्त ये दो[3] अथवा केवल एक हेतु[4] ही माना है। हेतुके तीन भेद (स्वभाव, कार्य और अनुपलब्धि), अविनाभावनियामक तादात्म्य और तदुत्पत्तिसम्बन्धद्वय, ग्यारह अनुपलब्धियाँ आदि चिन्तन धर्मकीर्तिकी देन है। इन्होंने जहाँ दिङ्नागके विचारोंका समर्थन किया है वहाँ उनकी कई मान्यताओंकी आलोचना भी की है। दिङ्नागने विरुद्ध हेत्वाभासके भेदोंमें इष्टविघातकृत् नामक तृतीय विरुद्ध हेत्वाभास, अनैकान्तिकभेदोंमें विरुद्धाव्यभिचारी और साधनावयवोंमें दृष्टान्तको स्वीकार किया है। धर्मकीर्तिने न्यायबिन्दुमें इन तीनोंकी समीक्षा की है।[5] इनकी विचार धाराको

---

१ पं० दलसुखभाई मालवणिया धर्मोत्तर प्रदीप, प्रस्ता० पृष्ठ ४१।

२ धर्मोत्तरप्रदीप, प्रस्तावना, पृष्ठ ४४।

३ अथवा तस्यैव साधनस्य यन्नाङ्गं प्रतिज्ञोपनयनिगमनादि ।
—राहुल सांकृत्यायन, वादन्या० पृष्ठ ६१।

४ धर्मकीर्ति, न्यायबिन्दु तृतीय परि० पृष्ठ ९१।

५ (क) तत्र च तृतीयाऽपीष्टविघातकृद्विरुद्धः। स इह कस्मान्नोक्तः। अनयोरेवान्तर्भावात्।
(ख) विरुद्धाव्यभिचार्यपि संशयहेतुरुक्तः। स इह कस्मान्नोक्तः। अनुमानविषयेऽसम्भवात्।
(ग) त्रिरूपो हेतुरुक्तः। तावतैवार्थप्रतीतिरिति न पृथग्दृष्टान्तो नाम साधनावयवः कश्चित्।
—न्यायबि० पृष्ठ ७९, ८०, ८६, ९१।

उनकी शिष्यपरम्परामें होनेवाले देवेन्द्रबुद्धि, शान्तभद्र, विनीतदेव, अर्चट, धर्मोत्तर, प्रज्ञाकर आदिने पुष्ट किया और अपनी व्याख्याओं-टीकाओं आदि द्वारा प्रवृद्ध किया है। इस प्रकार बौद्धतर्कशास्त्रके विकाससे भी भारतीय अनुमानको अनेक रूपमें समृद्ध किया है।

(घ) मीमांसक-परम्परामें अनुमानका विकास

बौद्धों और नैयायिकोंके न्यायशास्त्रके विकासका अवश्यम्भावी परिणाम यह हुआ कि मीमांसक उस स्थानमें, जहाँ प्रमाणकी चर्चा गौण थी, कुमारिलने श्लोकवार्तिक, प्रभाकरने बृहती, शालिकानाथने बृहतीपर पंचिका और पार्थसारथिने शास्त्रदीपिकागत तर्कपाद जैसे ग्रन्थ लिखकर तर्कशास्त्रको मीमांसक दृष्टिसे प्रतिष्ठित किया। श्लोकवार्तिकमें तो कुमारिलने[1] एक स्वतन्त्र अनुमान परिच्छेदकी रचना करके अनुमानका विशिष्ट चिन्तन किया है और व्याप्य ही क्यों गमक होता है इसका सूक्ष्म विचार करते हुए उन्होंने व्याप्य एवं व्याप्तिके सम और विषम दो रूप बतलाकर अनुमानकी समृद्धि की है।

(ङ) वेदान्त और सांख्यपरम्परामें अनुमान विकास

वेदान्तमें भी प्रमाणशास्त्रकी दृष्टिसे वेदान्तपरिभाषा जैसे ग्रन्थ लिखे गये हैं। सांख्य विद्वान् भी पीछे नहीं रहे। ईश्वरकृष्णने अनुमानका प्रामाण्य स्वीकार करते हुए उसे त्रिविध प्रतिपादित किया है। माठर, युक्तिदीपिकाकार, विज्ञानभिक्षु और वाचस्पति आदिने अपनी व्याख्याओं द्वारा उसे सम्पुष्ट और विकसित किया है।

---

१ मी० श्लो० अनुमा० परि० श्लोक ४-७ तथा ८-१०१।

द्वितीय परिच्छेद

जैन-परम्परामें अनुमान-विकास

सम्प्रति विचारणीय है कि जैन वाङ्मयमें अनुमानका विकास किस प्रकार हुआ और आरम्भमें उसका क्या रूप था ?

(क) षट्खण्डागममें हेतुवादका उल्लेख

जैन श्रुतका आलोडन करनेपर ज्ञात होता है कि षट्खण्डागममें श्रुतके पर्याय नामोंमें एक 'हेतुवाद'[1] नाम भी परिगणित है, जिसका व्याख्यान आचार्य वीरसेनने हेतुद्वारा तत्सम्बद्ध अन्य वस्तुका ज्ञान करना किया है और जिसपरसे उसे स्पष्टतया अनुमानार्थक माना जा सकता है, क्योंकि अनुमानका भी हेतुसे साध्यका ज्ञान करना अर्थ है। अतएव हेतुवादका व्याख्यान हेतुविद्या, तर्कशास्त्र, युक्तिशास्त्र और अनुमानशास्त्र किया जाता है। स्वामी समन्तभद्रने सम्भवतः ऐसे ही शास्त्रको 'युक्त्यनुशासन'[2] कहा है और जिसे उन्होंने दृष्ट (प्रत्यक्ष) और आगमसे अविरुद्ध अर्थका प्ररूपक बतलाया है।

(ख) स्थानांगसूत्रमें हेतु निरूपण

स्थानांगसूत्र[3] में 'हेतु' शब्द प्रयुक्त है और उसका प्रयोग प्रमाणसामान्य[4] तथा अनुमानके प्रमुख अंग हेतु (साधन) दोनोंके अर्थमें हुआ है। प्रमाणसामान्यके अर्थमें उसका प्रयोग इस प्रकार है—

---

१ हेदुवादो णयवादो पवरवादो मग्गवादो सुदवादो ।
—भूतबली पुष्पदन्त, षट्खण्डा० ५।५।५१, सोलापुर संस्करण १९६५।

२ दृष्टागमाभ्यामविरुद्धमर्थप्ररूपणं युक्त्यनुशासनं ते।
—समन्तभद्र, युक्त्यनुशा० का० ४८, वीरसेवामन्दिर दिल्ली।

३ अथवा हेऊ चउव्विहे पन्नत्ते तं जहा—पच्चक्खे अनुमाने उवमे आगमे। अथवा हेऊ चउव्विहे पन्नत्ते तं जहा—अत्थि तं अत्थि सो हेऊ, अत्थि तं णत्थि सो हेऊ, णत्थि तं अत्थि सो हेऊ, णत्थि तं णत्थि सो हेऊ।
—स्थानांगसू० पृष्ठ ३०९-३१०।

४ हिनोति परिच्छिनत्त्यर्थमिति हेतुः ।

१ हेतु चार प्रकारका है—

(१) प्रत्यक्ष
(२) अनुमान
(३) उपमान
(४) आगम

गौतमके न्यायसूत्रमें भी ये चार भेद अभिहित हैं। पर वहाँ इन्हें प्रमाणके भेद कहा है।

हेतुके अर्थमें हेतु शब्द निम्न प्रकार व्यवहृत हुआ है—

२ हेतुके चार भेद हैं—

(१) विधि विधि—(साध्य और साधन दोनों सद्भावरूप हों)
(२) विधि निषेध—(साध्य विधिरूप और साधन निषेधरूप)
(३) निषेध विधि—(साध्य निषेधरूप और हेतु विधिरूप)
(४) निषेध निषेध—(साध्य और साधन दोनों निषेध रूप हों)

इन्हें हम क्रमशः निम्न नामोंसे व्यवहृत कर सकते हैं—

(१) विधिसाधक विधिरूप[1]	अविरुद्धोपलब्धि[2]
(२) विधिसाधक निषेधरूप	विरुद्धानुपलब्धि
(३) निषेधसाधक विधिरूप	विरुद्धोपलब्धि
(४) प्रतिषेधसाधक प्रतिषेधरूप	अविरुद्धानुपलब्धि[3]

इनके उदाहरण निम्न प्रकार दिये जा सकते हैं—

(१) अग्नि है, क्योंकि धूम है।
(२) इस प्राणीमें व्याधिविशेष है, क्योंकि निरामय चेष्टा नहीं है।
(३) यहाँ शीतस्पर्श नहीं है, क्योंकि उष्णता है।
(४) यहाँ धूम नहीं है, क्योंकि अग्नि का अभाव है।

---

१. धर्मभूषण, न्यायदी० पृ० ९५–९९।
२ माणिक्यनन्दि, परीक्षामु० ३।५७–५८।
३ तुलना कीजिए—
१ पर्वतोऽयमग्निमान् धूमवत्त्वान्यथानुपपत्तेः —धर्मभूषण, न्यायदी० पृ० ९५।
२. यथास्मिन् प्राणिनि व्याधिविशेषोऽस्ति निरामयचेष्टानुपलब्धेः।
३ नास्त्यत्र शीतस्पर्श औष्ण्यात्।
४ नास्त्यत्र धूमोऽनग्नेः।
—माणिक्यनन्दि, परीक्षामु० ३।८७ ७९, ८२।

(ग) भगवतीसूत्रमे अनुमानका निर्देश

भगवतीसूत्रमें[1] भगवान् महावीर और उनके प्रधान शिष्य गौतम (इन्द्रभूति) गणधरके संवादमे प्रमाणके पूर्वोक्त चार भेदोका उल्लेख आया है, जिनमें अनुमान भी सम्मिलित है।

(घ) अनुयोगसूत्रमे अनुमान निरूपण

अनुमानकी कुछ अधिक विस्तृत चर्चा अनुयोगसूत्रमे उपलब्ध होती है। इसमें अनुमानके भेदोका निर्देश करके उनका सोदाहरण निरूपण किया गया है।

१ अनुमान भेद

इसमें[2] अनुमानके तीन भेद बताए है। यथा—

(१) पुव्ववं (पूर्ववत्)
(२) सेसवं (शेषवत्)
(३) दिट्ठसाहम्मवं (दृष्टसाधर्म्यवत्)

१ पुव्ववं[3]—जो वस्तु पहले देखी गयी थी, कालान्तरमें किंचित् परिवर्तन होनेपर भी उसे प्रत्यभिज्ञाद्वारा पूर्वलिंगदर्शनसे अवगत करना 'पुव्ववं' अनुमान है। जैसे बचपनमें देखे गये बच्चेको युवावस्थामें किंचित परिवर्तनके साथ देखने पर भी पूर्व चिह्नो द्वारा ज्ञात करना कि 'वही शिशु' है। यह 'पुव्ववं' अनुमान क्षेत्र, वर्ण, लाछन, मस्सा और तिल प्रभृति चिह्नोसे सम्पादित किया जाता है।

२ सेसवं[4]—इसके हेतुभेदसे पाँच भेद है—

(१) कार्यानुमान
(२) कारणानुमान
(३) गुणानुमान

---

१ गोयमा णो तिणट्ठे समट्ठे। से किं त पमाणे ? पमाणे चउव्विहे पण्णत्ते। तं जहा— पच्चक्खे अणुमाणे ओवम्मे जहा अणुयोगद्दारे तहा णयव्वं पमाणं।
—भगवती० ५,३,१९१ ९२।

२ ३ ४ अणुमाणे तिविहे पण्णत्ते। त जहा—१ पुव्ववं, २ सेसवं, ३ दिट्ठसाहम्मवं। से किं पुव्ववं ? पुव्ववं—

माया पुत्त जहा नट्ठ जुवाणं पुणरागयं।
काइ पच्चभिजाणेज्जा पुव्वलिंगेण केणइ ॥

तं जहा—खेत्तेण वा वण्णेण वा, लंछणेणं वा, मसेण वा, तिलएण वा। से तं पुव्ववं। से किं त सेसवं ? सेसवं पचविहं पण्णत्तं। त जहा—१ कज्जेणं, २ कारणेणं, ३ गुणेणं, ४ अवयवेणं, ५ आसएणं।
—मुनि श्री कन्हैयालाल, अनुयोगद्दारसुत्त मूलसुत्ताणि, पृष्ठ ५३९।

(४) अवयवानुमान
(५) आश्रयी अनुमान

(१) कार्यानुमान—कार्यसे कारणको अवगत करना कार्यानुमान है। जैसे—शब्दसे शंखका, ताडनसे भेरीको, ढाडनेसे वृषभका, केकारवसे मयूरका, हिनहिनाने (हेषित) से अश्वको, गुलगुलायित (चिंघाडने) से हाथीको और घणघणायित (घनघनाने) से रथको अनुमित करना।[1]

(२) कारणानुमान—कारणसे कार्यका अनुमान करना कारणानुमान है। जैसे—तन्तुसे पटका, वीरणसे कटका, मृत्पिण्डसे घडेका अनुमान करना। तात्पर्य यह कि जिन कारणोंसे कार्योंकी उत्पत्ति होती है, उनके द्वारा उन कार्योंका अवगम प्राप्त करना 'कारण' नामका 'सत्य' अनुमान है।[2]

(३) गुणानुमान—गुणसे गुणीका अनुमान करना गुणानुमान है। यथा—गन्धसे पुष्पका, रससे लवणका, स्पर्शसे वस्त्रका और निकषसे सुवर्णका अनुमान करना।[3]

(४) अवयवानुमान—अवयवसे अवयवीका अनुमान करना अवयवानुमान है। यथा—सींगसे महिषका, शिखासे कुक्कुटका, शुण्डादण्डसे हाथीका, दाढ़से वराहका, पिच्छसे मयूरका, लांगूलसे वानरका, खुरसे अश्वका, नखसे व्याघ्रका, बालाग्रसे चमरीगायका, दो पैरसे मनुष्यका, चार पैरसे गौ आदिका, बहुपादसे कानखजूर (पटार) का, केसरसे सिंहका, ककुभसे वृषभका, चूड़ीसहित बाहुसे महिलाका, बद्धपरिकरतासे योद्धाका, वस्त्रसे महिलाका, धान्यके एक कणसे द्रोण पाकका और एक गाथासे कविका अनुमान करना।[4]

---

१ कज्जेणं—संखं सद्देणं, भेरिं ताडिएणं, वसभं ढिक्किएणं, मोरं किंकाइएणं, हयं हेसिएणं, गयं गुलगुलाइएणं, रहं घणघणाइएणं, से तं कज्जेणं।
—अनुयोग० उपक्रमाधिकार प्रमाणद्वार पृष्ठ ५१६।

२ कारणेणं—तंतवो पडस्स कारणं ण पडो तंतुकारणं, वीरणा कडस्स कारणं ण कडो वीरणाकारणं, मिप्पिंडो घडस्स कारणं ण घडो मिप्पिंडकारणं, से तं कारणेणं।
—वही, पृष्ठ ५१९।

३ गुणेणं—सुवण्णं निकसेणं, पुप्फं गंधेणं, लवणं रसेणं, मइरं आसाएणं, वत्थं फासेणं, से तं गुणेणं।
—वही पृष्ठ ५१९।

४ अवयवेणं—महिसं सिंगेणं, कुक्कुडं सिहाएणं, हत्थिं विसाणेणं, वराहं दाढाएणं, मोरं पिच्छेणं, आसं खुरेणं, वग्घं नहेणं, चमरिं वालग्गेणं, वानरं लंगूलेणं, दुपयं मणुस्सादि, चउप्पयं गवयादि, बहुपयं गोमियादि, सीहं केसरेणं, वसहं ककुहेणं, महिलं वलयबाहाए, गाहा—परियरबंधेण भडं जाणिज्जा महिलियं निवसणेणं, सित्थेण दोणपागं कविं च एक्काए गाहाए, से तं अवयवेणं।
—वही, पृष्ठ ५१९।

(५) आश्रयी अनुमान—आश्रयीसे आश्रयका अनुमान करना आश्रयी अनुमान है। यथा—धूमसे अग्निका, बलाकासे जलका, विशिष्ट मेघोंसे वृष्टिका और शील समाचारसे कुलपुत्रका अनुमान करना।

शेषवत्के इन पाँचों भेदोंमें अविनाभावी एकसे शेष (अवशेष) का अनुमान होनेसे उन्हें शेषवत् कहा है।

३ दिट्ठसाहम्मव—इस अनुमानके दो भेद हैं। यथा—

(१) सामन्नदिट्ठ (सामान्य दृष्ट)

(२) विसेसदिट्ठ (विशेषदृष्ट)

(१) किसी एक वस्तुको देखकर तत्सजातीय सभी वस्तुओंका साधर्म्य ज्ञात करना या बहुत वस्तुओंको एक-सा देखकर किसी विशेष (एक) में तत्साधर्म्यका ज्ञान करना सामान्यदृष्ट है। यथा—जैसा एक मनुष्य है, वैसे बहुतसे मनुष्य हैं। जैसे बहुतसे मनुष्य हैं वैसा एक मनुष्य है। जैसा एक करिशावक है वैसे बहुतसे करिशावक हैं, जैसे बहुतसे करिशावक हैं वैसा एक करिशावक है। जैसा एक कार्षापण है वैसे अनेक कार्षापण हैं, जैसे अनेक कार्षापण हैं, वैसा एक कार्षापण है। इस प्रकार सामान्यधर्मदर्शनद्वारा ज्ञातसे अज्ञातका ज्ञान करना सामान्यदृष्ट अनुमानका प्रयोजन है।

(२) जो अनेक वस्तुओंमेंसे किसी एकको पृथक् करके उसके वैशिष्ट्यका प्रत्यभिज्ञान कराता है वह विशेषदृष्ट है। यथा—कोई एक पुरुष बहुतसे पुरुषोंके बीचमेंसे पूर्वदृष्ट पुरुषका प्रत्यभिज्ञान करता है कि यह वही पुरुष है। या बहुतसे कार्षापणोंके मध्यमें पूर्वदृष्ट कार्षापणको देखकर प्रत्यभिज्ञा करना कि यह वही कार्षापण है। इस प्रकारका ज्ञान विशेषदृष्ट दृष्टसाधर्म्यवत अनुमान है।

२ कालभेदसे अनुमानका त्रैविध्य[3]

कालकी दृष्टिसे भी अनुयोग द्वारमें अनुमानके तीन प्रकारोंका प्रतिपादन उपलब्ध है। यथा—१ अतीतकालग्रहण, २ प्रत्युत्पन्नकालग्रहण और अनागतकालग्रहण।

---

१ आसएण—अग्गि धूमेण सलिलं बलागेण, वुट्ठि अब्भविकारेण, कुलपुत्तं सीलसमायारेणं। से त्तं आसएणं। से त्तं सेसवं।

—अनुयोग० उपक्रमाधिकार प्रमाणद्वार, पृष्ठ ५४०-४१

२ से किं तं दिट्ठसाहम्मवं ? दिट्ठसाहम्मवं दुविहं पण्णत्तं। जहा—सामन्नदिट्ठं च विसेसदिट्ठं च। —वही, पृष्ठ ५४१-४२

३ तस्स समासओ तिविहं गहणं भवई। तं जहा—१ अतीतकालगहणं, २ पडुप्पण्णकालगहणं, ३ अणागयकालगहणं। —वही पृष्ठ ५४१-५४२।

प्रमाणशास्त्रके सूक्ष्म ग्रन्थोंमें परिगणित हैं। हरिभद्रके शास्त्रवार्तासमुच्चय, अनेकान्त-जयपताका आदि ग्रन्थोंमें अनुमान चर्चा निहित है। विद्यानन्दने अष्टसहस्री, तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, प्रमाणपरीक्षा, पत्रपरीक्षा जैसे दर्शन एवं न्याय ग्रन्थोंको रचकर जैन न्यायवाङ्मयको समृद्ध किया है। माणिक्यनन्दिका परीक्षामुख, प्रभाचन्द्रका प्रमेयकमलमार्तण्ड-न्यायकुमुदचन्द्र-युगल, अभयदेवकी सन्मतितर्कटीका, देवसूरिका प्रमाणनयतत्त्वालोकालङ्कार, अनन्तवीर्यकी सिद्धिविनिश्चयटीका, वादिराजका न्यायविनिश्चयविवरण, लघु अनन्तवीर्यकी प्रमेयरत्नमाला, हेमचन्द्रकी प्रमाण-मीमांसा, धर्मभूषणकी न्यायदीपिका और यशोविजयकी जैन तर्कभाषा जैन अनुमानके विवेचक प्रमाणग्रन्थ हैं।

○

तृतीय परिच्छेद

संक्षिप्त अनुमान-विवेचन

अनुमानका स्वरूप

व्याकरणके अनुसार 'अनुमान' शब्दकी निष्पत्ति अनु + √मा + ल्युट् से होती है। अनुका अर्थ है पश्चात और मानका अर्थ है ज्ञान। अत अनुमानका शाब्दिक अर्थ है पश्चादवर्ती ज्ञान। अर्थात् एक ज्ञानके बाद होने वाला उत्तरवर्ती ज्ञान अनुमान है। यहाँ 'एक ज्ञान' से क्या तात्पर्य है? मनीषियोंका अभिमत है कि प्रत्यक्ष ज्ञान ही एक ज्ञान है जिसके अनन्तर अनुमानकी उत्पत्ति या प्रवृत्ति पायी जाती है। गौतमने इसी कारण अनुमानको 'तत्पूर्वकम्'[1]—प्रत्यक्षपूर्वकम्' कहा है। वात्स्यायनका[2] भी अभिमत है कि प्रत्यक्षके बिना कोई अनुमान सम्भव नहीं। अत अनुमानके स्वरूप लाभमें प्रत्यक्षका सहकार पूर्वकारणके रूपमें अपेक्षित होता है। अतएव तर्कशास्त्री ज्ञात—प्रत्यक्षप्रतिपन्न अर्थसे अज्ञात—परोक्ष वस्तुकी जानकारी अनुमान द्वारा करते हैं।[3]

कभी-कभी अनुमानका आधार प्रत्यक्ष न रहने पर आगम भी होता है। उदाहरणार्थ शास्त्र द्वारा आत्माकी सत्ताका ज्ञान होने पर हम यह अनुमान करते हैं कि 'आत्मा शाश्वत है, क्योंकि वह सत है'। इसी कारण वात्स्यायनने[4] 'प्रत्यक्षागमाश्रितमनुमानम्' अनुमानको प्रत्यक्ष या आगमपर आश्रित कहा है। अनुमानका पर्यायशब्द अन्वीक्षा[5] भी है, जिसका शाब्दिक अर्थ एक वस्तुज्ञानकी प्राप्तिके पश्चात दूसरी वस्तुका ज्ञान प्राप्त करना है। यथा—धूमका ज्ञान प्राप्त करनेके बाद अग्निका ज्ञान करना।

---

१ अथ तत्पूर्वकं त्रिविधमनुमानम्।
—न्यायसू० १।१।५।

२ अथवा पूर्ववदिति—यत्र यथापूर्वं प्रत्यक्षभूतयोरन्यतरदर्शनेनान्यतरस्याप्रत्यक्षस्यानुमानम्। यथा धूमेनाग्निरिति।
—न्यायभा० १।१।५, पृष्ठ २२।

३ यथा धूमेन प्रत्यक्षेणाप्रत्यक्षस्य वह्निग्रहणमनुमानम्।
—वही, २।१।४७ पृष्ठ १२०।

४ वही १।१।१। पृष्ठ ७।

५ वही, १।१।१, पृष्ठ ७।

उपर्युक्त उदाहरणमें धूमद्वारा वह्निका ज्ञान इसी कारण होता है कि धूम वह्निका साधन है। धूमको अग्निका साधन या हेतु[1] माननेका भी कारण यह है कि धूमका अग्निके साथ नियत साहचर्य सम्बन्ध—अविनाभाव है। जहाँ धूम रहता है वहाँ अग्नि अवश्य रहती है। इसका कोई अपवाद नहीं पाया जाता। तात्पर्य यह कि एक अविनाभावी वस्तुके ज्ञान द्वारा तत्सम्बद्ध इतर वस्तुका निश्चय करना अनुमान है।[2]

अनुमानके अंग

अनुमानके उपर्युक्त स्वरूपका विश्लेषण करने पर ज्ञात होता है कि धूमसे अग्निका ज्ञान करनेके लिए दो तत्त्व आवश्यक हैं—१ पर्वतमें धूमका रहना और २ धूमका अग्निके साथ नियत साहचर्य सम्बन्ध होना। प्रथमको पक्षधर्मता और द्वितीयको व्याप्ति कहा गया है। ये ही दो अनुमानके आधार अथवा अंग हैं[3]। जिस वस्तुसे जहाँ सिद्धि करना है उसका वहाँ अनिवार्य रूपसे पाया जाना पक्षधर्मता है। जैसे धूमसे पर्वतमें अग्निकी सिद्धि करना है तो धूमका पर्वतमें अनिवार्य रूपसे पाया जाना आवश्यक है। अर्थात् व्याप्यका पक्षमें रहना पक्षधर्मता है।[4] तथा साधनरूप वस्तुका साध्यरूप वस्तुके साथ ही सर्वदा पाया जाना व्याप्ति है। जैसे धूम अग्निके होने पर ही पाया जाता है—उसके अभावमें नहीं, अतः धूमकी वह्निके साथ व्याप्ति है। पक्षधर्मता और व्याप्ति दोनों अनुमानके आधार हैं। पक्षधर्मताका ज्ञान हुए बिना अनुमानका उद्भव सम्भव नहीं है। उदाहरणार्थ—पर्वतमें धूमकी वृत्तिताका ज्ञान न होने पर वहाँ उसके अग्निका अनुमान नहीं किया जा सकता। अतः पक्षधर्मताका ज्ञान आवश्यक है। इसी प्रकार व्याप्तिका ज्ञान भी अनुमानके लिए परमावश्यक है। यतः पर्वतमें धूमदर्शनके होने पर भी तब तक अनुमानकी प्रवृत्ति नहीं हो सकती, जब तक धूमका अग्निके साथ अनिवार्य सम्बन्ध स्थापित न हो जाए। इस अनिवार्य सम्बन्धका नाम ही

---

१ साध्याविनाभावित्वेन निश्चितो हेतुः।
—माणिक्यनन्दि, परीक्षामु० ३।१५।

२ [illegible]
—[illegible] अनुमान[illegible] पृष्ठ १८?, चौखम्बा वाराणसी सन् १९६? ई०।

३ अनुमानस्य द्वे अङ्गे व्याप्तिः पक्षधर्मता च।
—केशवमिश्र, तर्कभाषा, अनु० निरू० पृष्ठ ८८, ८९।

४ व्याप्यस्य पर्वतादिवृत्तित्वं पक्षधर्मता।
—अन्नंभट्ट, तर्कसं० अनु० नि०, पृ० ५०।

नियत साहचर्य सम्बन्ध या व्याप्ति है।[1] इसके अभावमें अनुमानकी उत्पत्तिमें धूमज्ञानका कुछ भी महत्त्व नहीं है। किन्तु व्याप्तिज्ञानके होने पर अनुमानके लिए उक्त धूमज्ञान महत्त्वपूर्ण बन जाता है और वह अग्निज्ञानको उत्पन्न कर देता है। अत अनुमानके लिए पक्षधर्मता और व्याप्ति इन दोनोंके संयुक्त ज्ञानकी आवश्यकता है। स्मरण रहे कि जैन तार्किकोंने[2] व्याप्तिज्ञानको ही अनुमानके लिए आवश्यक माना है, पक्षधर्मताके ज्ञानको नहीं, क्योंकि अपक्षधर्म कृत्तिकोदय आदि हेतुओंसे भी अनुमान होता है।

(क) पक्षधर्मता

जिस पक्षधर्मताका अनुमानके आवश्यक अंगके रूपमें ऊपर निर्देश किया गया है उसका व्यवहार न्यायशास्त्रमें कबसे आरम्भ हुआ, इसका यहाँ ऐतिहासिक विमर्श किया जाता है।

कणादके वैशेषिकसूत्र और अक्षपादके न्यायसूत्रमें न पक्ष शब्द मिलता है और न पक्षधर्मता शब्द। न्यायसूत्रमें[3] साध्य और प्रतिज्ञा शब्दोंका प्रयोग पाया जाता है, जिनका न्यायभाष्यकारने[4] प्रज्ञापनीय धर्मसे विशिष्ट धर्मी अर्थ प्रस्तुत किया है और जिसे पक्षका प्रतिनिधि कहा जा सकता है, पर पक्षशब्द प्रयुक्त नहीं है। प्रशस्तपादभाष्यमें[5] यद्यपि न्यायभाष्यकारकी तरह धर्मी और न्यायसूत्रकी तरह प्रतिज्ञा दोनों शब्द एकत्र उपलब्ध हैं। तथा लिंगको त्रिरूप बतलाकर उन तीनों रूपोंका प्रतिपादन काश्यपके नामसे दो कारिकाएँ उद्धृत करके किया है।[6] किन्तु

---

१ यत्र यत्र धूमस्तत्र तत्राग्निरिति साहचर्यनियमो व्याप्तिः।
—तर्कसं०, पृष्ठ ५४। तथा केशवमिश्र, तर्कभा० पृष्ठ ७२।

२ पक्षधर्मत्वहीनोऽपि गमकः कृत्तिकोदयः।
अन्तर्व्याप्तेरतः सैव गमकत्वप्रसाधनी॥
—वादीभसिंह, स्या० सि० ४।८३-८४।

३ साध्यनिर्देशः प्रतिज्ञा।
—अक्षपाद, न्यायसू० १।१।३३।

४ प्रज्ञापनीयेन धर्मेण धर्मिणो विशिष्टस्य परिग्रहवचनं प्रतिज्ञा साध्यनिर्देशः अनित्यः शब्द इति।
—वात्स्यायन, न्यायभा० १।१।३३ तथा १।१।३४।

५ अनुमेयोद्देशोऽविरोधी प्रतिज्ञा। प्रतिपिपादयिषितधर्मविशिष्टस्य धर्मिणोऽपदेशविषयमापादयितुमुद्देशमात्रं प्रतिज्ञा।
—प्रशस्तपाद, वैशि० भाष्य पृष्ठ ११४।

६ यदनुमेयेन सम्बद्धं प्रसिद्धं च तदन्विते।
तदभावे च नास्त्येव तल्लिंगमनुमापकम्॥
—वही, पृष्ठ १००।

उन तीन रूपोंमें भी पक्ष और पक्षधर्मता शब्दोंका प्रयोग नहीं है।[1] हाँ, 'अनुमेय सम्बद्धलिंग' शब्द अवश्य पक्षधर्मताका बोधक है। पर 'पक्षधर्म' शब्द स्वयं उपलब्ध नहीं है।

पक्ष और पक्षधर्मता शब्दोंका स्पष्ट प्रयोग सर्वप्रथम सम्भवतः बौद्ध तार्किक शंकरस्वामीके न्यायप्रवेशमें[2] हुआ है। इसमें पक्ष, सपक्ष, विपक्ष, पक्षवचन, पक्षधर्म, पक्षधर्मवचन और पक्षधर्मत्व ये सभी शब्द प्रयुक्त हुए हैं। साथमें उनका स्वरूप विवेचन भी किया है। जो धर्मीरूपसे प्रसिद्ध है वह पक्ष है। 'शब्द अनित्य है' ऐसा प्रयोग पक्षवचन है। 'क्योंकि वह कृतक है' ऐसा कथन पक्षधर्म (हेतु) वचन है। 'जो कृतक होता है वह अनित्य होता है, यथा घटादि' इस प्रकारका वचन सपक्षानुगम (सपक्षसत्त्व) वचन है। 'जो नित्य होता है वह अकृतक देखा गया है, यथा आकाश' यह व्यतिरेक (विपक्षासत्त्व) वचन है। इस प्रकार हेतुका त्रिरूप प्रतिपादन करके उसके तीनों रूपोंका भी स्पष्टीकरण किया है। वे तीन रूप हैं—१ पक्षधर्मत्व २ सपक्षसत्त्व और ३ विपक्षासत्त्व। ध्यान रहे, यहाँ 'पक्षधर्मत्व' पक्षधर्मताके लिए ही आया है। प्रशस्तपादने जिस तथ्यको 'अनुमेयसम्बद्धत्व' शब्दसे प्रकट किया है उसे न्यायप्रवेशकारने 'पक्षधर्मत्व' शब्द द्वारा बतलाया है। तात्पर्य यह कि प्रशस्तपादके मतसे हेतुके तीन रूपोंमें परिगणित प्रथम रूप 'अनुमेयसम्बद्धत्व' है और न्यायप्रवेशके अनुसार पक्षधर्मत्व। दोनोंमें केवल शब्दभेद है, अर्थभेद नहीं। उत्तरकालमें तो प्रायः सभी भारतीय तार्किकों द्वारा तीन रूपों अथवा पाँच रूपोंके अन्तर्गत पक्षधर्मत्वका बोधक पक्षधर्मत्व या पक्षधर्मता पद ही अभिप्रेत हुआ है। उद्योतकर[3], वाचस्पति[4], उदयन[5], गंगेश[6], केशव[7] प्रभृति वैदिक मनीषियों तथा धर्मकीर्ति,[8] धर्मोत्तर[9], अर्चट[10] आदि बौद्ध तार्किकोंने अपने ग्रन्थोंमें उसका प्रतिपादन किया

१ प्र० भा० पृष्ठ १००।

२ तत्र पक्षः प्रसिद्धो धर्मी। हेतुस्त्रिरूपः। किं पुनस्त्रैरूप्यम्? पक्षधर्मत्वं सपक्षे सत्त्वं विपक्षे चासत्त्वमिति। तद्यथा। अनित्यः शब्द इति पक्षवचनम्। कृतकत्वादिति पक्षधर्मवचनम्। यत्कृतकं तदनित्यं दृष्टं यथा घटादिरिति सपक्षानुगमवचनम्। यन्नित्यं तदकृतकं दृष्टं यथाकाशमिति व्यतिरेकवचनम्।
—शंकरस्वामी, न्यायप्र० पृष्ठ १-२।

३ उद्योतकर, न्यायवा० १।१।३५ पृष्ठ १२८, १३१।

४ वाचस्पति, न्यायवा० ता० टी० १।१।५ पृष्ठ १०१।

५ उदयन, किरणा० पृष्ठ २९०, २९४।

६ त० चि० अनुमा० टी० पृ० ११, ७१।

७ तर्कभा० मिश्र सहकार० अनु० निरू० पृष्ठ ८८, ८९।

८, ९ न्यायबि० द्वि० परि०, टी० धर्मो० पृष्ठ २२।

१० अर्चट हेतुबि० टी० पृष्ठ २४।

है। पर जैन नैयायिकोंने[1] पक्षधर्मतापर उतना बल नहीं दिया, जितना व्याप्ति-पर दिया है। सिद्धसेन[2], अकलंक[3], विद्यानन्द[4], वादीभसिंह[5] आदिने तो उसे अनावश्यक एवं व्यर्थ भी बतलाया है। उनका मन्तव्य है[6] कि 'कल सूर्यका उदय होगा, क्योंकि वह आज उदय हो रहा है, 'कल शनिवार होगा, क्योंकि आज शुक्रवार है', 'ऊपर देशमें वृष्टि हुई है, क्योंकि अधोदेशमें प्रवाह दृष्टिगोचर हो रहा है', 'अद्वैतवादीको भी प्रमाण इष्ट है, क्योंकि इष्टका साधन और अनिष्टका दूषण अन्यथा नहीं हो सकता' जैसे प्रचुर हेतु पक्षधर्मताके अभावमें भी मात्र अन्तर्व्याप्तिके बलपर साध्यके अनुमापक हैं।

(ख) व्याप्ति

अनुमानका सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण और अनिवार्य अंग व्याप्ति है। इसके होनेपर ही साधन साध्यका गमक होता है, उसके अभावमें नहीं। अतएव इसका दूसरा नाम 'अविनाभाव' भी है। देखना है कि इन दोनों शब्दोंका प्रयोग कबसे आरम्भ हुआ है।

अक्षपाद[7] के न्यायसूत्र और वात्स्यायन[8] के न्यायभाष्यमें न व्याप्ति शब्द उपलब्ध होता है और न अविनाभाव। न्यायभाष्यमें[9] मात्र इतना मिलता है कि लिंग और लिंगीमें सम्बन्ध होता है अथवा वे सम्बद्ध होते हैं। पर वह सम्बन्ध व्याप्ति अथवा अविनाभाव है, इसका वहाँ कोई निर्देश नहीं है। गौतमके हेतुलक्षण-प्रदर्शक सूत्रों[10] से भी केवल यही ज्ञान होता है कि हेतु वह है जो उदाहरणके साधर्म्य अथवा वैधर्म्यसे साध्यका साधन करे। तात्पर्य यह कि हेतुको पक्षमें रहने के अतिरिक्त सपक्षमें विद्यमान और विपक्षमें व्यावृत्त होना चाहिए, इतना ही अर्थ हेतुलक्षणसूत्रोंमें ध्वनित होता है हेतुका व्याप्त (व्याप्तिविशिष्ट या अविना-

---

१ न्यायवि० २।१७६।
२ सिद्धसेन, न्यायाव० का० २०।
३ न्यायवि० २।२२१।
४ प्रमाणपरी० पृष्ठ ७२।
५ वादीभसिंह, स्या० सि० ४।८७।
६ अकलंक, लघीय० १।३।१४।
७ न्यायसू० १।१।५, ३४, ३५।
८ न्यायभा० १।१।५, ३४, ३५।
९ लिंगलिंगिनोः सम्बन्धदर्शनं लिंगदर्शनं चाभिसम्बध्यते। लिंगलिंगिनोः सम्बद्धयोर्दर्शनेन लिंगस्मृतिरभिसम्बध्यते।
—न्यायभा० १।१।५।
१० उदाहरणसाधर्म्यात् साध्यसाधनं हेतुः। तथा वैधर्म्यात्।
—न्यायसू० १।१।३४, ३५।

भावी) भी होना चाहिए, इसका उत्तर कोई संकेत नहीं मिलता। उद्योतकरने[1] न्यायवार्तिकमें अविनाभाव और व्याप्ति दोनों नाम प्राप्त हैं। पर उद्योतकरने उन्हें परमतके रूपमें प्रस्तुत किया है तथा उनकी आलोचना भी की है। इससे प्रतीत होता है कि न्यायवार्तिककारको भी न्यायसूत्रकार और न्यायभाष्यकारकी तरह अविनाभाव और व्याप्ति दोनों अमान्य हैं। उल्लेख्य है कि उद्योतकर अविनाभाव और व्याप्तिकी आलोचना (न्यायवा० १।१।५ पृष्ठ ५४, ५५) कर तो गये। पर स्वकीय सिद्धान्तकी व्यवस्थामें उनका उपयोग उन्होंने असन्दिग्ध रूपमें किया है।[2] उनके परवर्ती वाचस्पति मिश्रने[3] अविनाभावको हेतुके पाँच रूपोंमें समाप्त कहकर उसके द्वारा ही समस्त हेतुरूपोंका संग्रह किया है। किन्तु उन्होंने भी अपने पूर्वजोंकी परम्परा विरोधी समझकर अविनाभावका परित्याग कर दिया है और उद्योतकरके अभिप्रायानुसार पक्षधर्मत्वादि पाँच हेतुरूपोंको ही महत्त्व दिया है, अविनाभावको नहीं। जयन्त भट्टने[4] अविनाभावको स्वीकार करते हुए भी उसे पक्षधर्मत्वादि पाँच रूपोंमें समाप्त बतलाया है।

इस प्रकार वाचस्पति और जयन्त भट्टके द्वारा जब स्पष्टतया अविनाभाव और व्याप्तिका प्रवेश न्यायपरम्परामें हो गया तो उत्तरवर्ती न्यायग्रन्थकारोंने उन्हें अपना लिया और उनकी व्याख्याएँ आरम्भ कर दी। यही कारण है कि बौद्ध

---

१ (क) अविनाभावेन [illegible]

—उद्योतकर, न्यायवा० १।१।५ पृष्ठ ५०, चौखम्बा, काशी, १९१६ ई०।

(ख) [illegible]

—वही १।१।५, पृष्ठ ५४ ५५।

२ (क) [illegible]

—न्यायवा० १।१।५, पृष्ठ ४७।

(ख) [illegible]

—वही १।१।५, पृष्ठ ४९।

३ [illegible] ... अविनाभावे [illegible]

—न्यायवा० ता० टी० १।१।५, पृष्ठ [illegible] चौखम्बा, [illegible] ई०।

४ एतेषु पञ्चलक्षणेषु [illegible] समाप्यते।

—न्यायकलिका पृष्ठ २।

तार्किकों द्वारा मुख्यतया प्रयुक्त अनन्तरीयक (या नान्तरीयक) तथा प्रतिबन्ध और जैन तर्कग्रन्थकारों द्वारा प्रधानतया प्रयोगमें आने वाले अविनाभाव एवं व्याप्ति जैसे शब्द उद्योतकरके बाद न्यायदर्शनमें समाविष्ट हो गये एवं उन्हें एक-दूसरेका पर्याय माना जाने लगा। जयन्त भट्टने[1] अविनाभावका स्पष्टीकरण करनेके लिए व्याप्ति, नियम, प्रतिबन्ध और साध्याविनाभावित्वको उसीका पर्याय बतलाया है। वाचस्पति मिश्र[2] कहते हैं कि हेतुका कोई भी सम्बन्ध हो उसे स्वाभाविक एवं नियत होना चाहिये और स्वाभाविकका अर्थ वे उपाधिरहित बतलाते हैं। इस प्रकारका हेतु ही गमक होता है और दूसरा सम्बन्धी (साध्य) गम्य। तात्पर्य यह कि उनका अविनाभाव या व्याप्तिशब्दोंपर जोर नहीं है। पर उदयन[3], केशव मिश्र[4] अन्नम्भट्ट[5], विश्वनाथ पचानन[6] प्रभृति नैयायिकोंने व्याप्ति शब्दको अपनाकर उसीका विशेष व्याख्यान किया है तथा पक्षधर्मताके साथ उसे अनुमानका प्रमुख अंग बतलाया है। गंगेश और उनके अनुवर्ती वर्द्धमान उपाध्याय, पक्षधरमिश्र, वासुदेव मिश्र, रघुनाथ शिरोमणि, मथुरानाथ तर्कवागीश, जगदीश तर्कालंकार, गदाधर भट्टाचार्य आदि नव्य नैयायिकोंने[7] व्याप्तिपर सर्वाधिक चिन्तन और निबन्धन किया है। गङ्गेशने तत्त्वचिन्तामणिमें अनुमानलक्षण[8] प्रस्तुत करके उसके व्याप्ति[9] और पक्षधर्मता[10] दोनों अंगोंका नव्यपद्धतिसे विवेचन किया है।

प्रशस्तपाद-भाष्यमें[11] भी अविनाभावका प्रयोग उपलब्ध होता है। उन्होंने अविनाभूत लिंगको लिंगीका गमक बतलाया है। पर वह उन्हें त्रिलक्षणरूप ही अभिप्रेत है।[12] यही कारण है कि टिप्पणकारने[13] अविनाभावका अर्थ 'व्याप्ति' एवं

१ अविनाभावो व्याप्तिर्नियमः प्रतिबन्धः साध्याविनाभावित्वमित्यर्थः ।
—न्यायकलि० पृष्ठ २।

२ तस्माद्यो वा स वाऽस्तु, सम्बन्धः, केवलं यस्यासौ स्वाभाविको नियतः स एव गमको गम्यश्चेतरः सम्बन्धीति युज्यते। तथा हि धूमादीनां वह्न्यादिसम्बन्धः स्वाभाविकः, न तु वह्न्यादीनां धूमादिभिः। ... तस्मादुपाधिं प्रयत्नेनान्विष्यन्तोऽनुपलभमाना नास्तीत्यवगम्य स्वाभाविकत्वं सम्बन्धस्य निश्चिनुमः।
—न्यायवा० ता० टी० १।१।५, पृष्ठ १६५।

३ किरणा० पृष्ठ २९०, २९४, २९८ ३०२।

४ तर्कभा० पृष्ठ ७२, ७८, ८२, ८३, ८८।

५ तर्कस० पृष्ठ ५२ ५७।

६ सि० मु० का० ६८, पृष्ठ ५१ ८५।

७ इनके ग्रन्थोद्धरण विस्तारभयसे यहाँ अप्रस्तुत हैं।

८ त० चि० अनु० खण्ड, पृ० १३।

९ वही, पृ० ७७-८२ ८६-८९, १७१ २०८,२०९ ४३२।

१० वही अनु० ख० पृष्ठ ६२३ ६३१।

११ १२ प्र० भा० पृ० १०३ तथा १००। १३ वही, दुण्ढिराज शास्त्री, टिप्प० पृ० १०३।

'अव्यभिचरित सम्बन्ध' देकर भी शंकरमिश्र द्वारा किये गये अविनाभावके खण्डनसे सहमति प्रकट की है और 'वस्तुतस्त्वनौपाधिकसम्बन्ध एव व्याप्तिः'[1] इस उदयनोक्त[2] व्याप्तिलक्षणको ही मान्य किया है। इससे प्रतीत होता है कि अविनाभावकी मान्यता वैशेषिकदर्शनकी भी स्वोपज्ञ एवं मौलिक नहीं है।

कुमारिलके मीमांसाश्लोकवार्तिकमें[3] व्याप्ति और अविनाभाव दोनों शब्द मिलते हैं। पर उनसे पूर्व न जैमिनिसूत्रमें वे हैं और न शाबरभाष्यमें।

बौद्ध तार्किक शंकरस्वामीके न्यायप्रवेशमें[4] भी अविनाभाव और व्याप्ति शब्द नहीं हैं। पर उनके अर्थका बोधक नान्तरीयक (अनान्तरीयक) शब्द पाया जाता है। धर्मकीर्ति[5], धर्मोत्तर[6], अर्चट[7] आदि बौद्ध नैयायिकोंने अवश्य प्रतिबन्ध और नान्तरीयक शब्दोंके साथ इन शब्दोंका भी प्रयोग किया है। इसके पश्चात् तो उक्त शब्द बौद्ध तर्कग्रन्थोंमें बहुलतया उपलब्ध हैं।

तब प्रश्न है कि अविनाभाव और व्याप्तिका मूल स्थान क्या है? अनुसन्धान करने पर ज्ञात होता है कि प्रशस्तपाद और कुमारिलसे पूर्व जैन तार्किक समन्तभद्रने[8], जिनका समय विक्रमकी दूसरी, तीसरी शती माना जाता है, अस्तित्वको नास्तित्वका और नास्तित्वको अस्तित्वका अविनाभावी बतलाते हुए अविनाभावका व्यवहार किया है। एक दूसरे स्थल पर[9] भी उन्होंने उसे स्पष्ट स्वीकार किया है। और इस प्रकार अविनाभावका निर्देश शास्त्रकारोंमें सर्वप्रथम समन्तभद्रने किया जान पड़ता है। प्रशस्तपादकी तरह उन्होंने उसे त्रिलक्षणरूप स्वीकार नहीं किया। उनके पश्चात् तो वह जैन परम्परामें हेतुलक्षणरूपमें ही प्रतिष्ठित हो गया। पूज्यपाद[10] जिनका अस्तित्व-समय ईसाकी पाँचवीं शताब्दी है, अवि

1. प्र० भा० कि० पृष्ठ ७०१।
2. किरणा० पृ० २९७।
3. मी० श्लो० अनु० श्लो० ४, १२, ४३ तथा १६१।
4. न्याय० प्र० पृष्ठ ४, ५।
5. प्रमाणवा० १।३, ३।३२ तथा न्यायबि० पृ० ३०, ९३। हेतुबि० पृ० ५४।
6. न्यायबि० टी० पृष्ठ ३०।
7. हेतुबि० टी० पृष्ठ ७, ८, १०, ११ आदि।
8. श्री जुगलकिशोर मुख्तार, स्वामी समन्तभद्र पृष्ठ १९६।
9. अस्तित्वं प्रतिषेध्येनाविनाभाव्येकधर्मिणि।
   नास्तित्वं प्रतिषेध्येनाविनाभाव्येकधर्मिणि।
   —आप्तमी० श्लो० १७, १८।
10. सर्वार्थसिद्धि [illegible]
   —वही, का० [illegible]
11. स० सि० ५।१८।

नाभाव और व्याप्ति दोनो शब्दोंका प्रयोग किया है। सिद्धसेन[1], पात्रस्वामी[2], कुमारनन्दि[3] अकलक[4] माणिक्यनन्दि[5] आदि जन तर्कग्रन्थकारोने अविनाभाव, व्याप्ति और अन्यथानुपपत्ति या अन्यथानुपपन्नत्व तीनोका व्यवहार पर्यायशब्दोंके रूपमें किया है। जो (साधन) जिस (साध्य)के विना उपपन्न न हो उसे अन्यथानुपपन्न कहा गया है।[6] असम्भव नही कि शाबरभाष्यगत[7] अर्थापत्त्युत्थापक अन्यथानुपपद्यमान और प्रभाकरकी बृहतीमे[8] उसके लिए प्रयुक्त अन्यथानुपपत्ति शब्द अर्थापत्ति और अनुमानको अभिन्न मानने वाले जैन तार्किकोंसे अपनाये गये हो, क्योकि ये शब्द जैन न्यायग्रन्थोमे अधिक प्रचलित एव प्रयुक्त मिलते है और शान्तरक्षित[9] आदि प्राचीन तार्किकोने उन्हें पात्रस्वामीका मत कह कर उद्धृत तथा समालोचित किया है। अत उनका उद्गम जैन तर्कग्रन्थोंसे बहुत कुछ सम्भव है।

प्रस्तुत अनुशीलनसे हम इस निष्कर्षपर पहुँचते है कि न्याय वैशेषिक और बौद्ध दर्शनामें आरम्भमे पक्षधर्मता (सपक्षसत्त्व और विपक्षव्यावृत्ति सहित) को तथा मध्यकाल और नव्ययुगमें पक्षधर्मता और व्याप्ति दोनाको अनुमानका आधार माना गया है। पर जैन तार्किकोंने आरम्भसे अन्त तक पक्षधर्मता (अन्य दोना रूपो सहित) को अनावश्यक तथा एकमात्र व्याप्ति (अविनाभाव, अन्यथानुपपन्नत्व) को अनुमानका अपरिहाय अग बतलाया है।

अनुमान भेद

प्रश्न है कि यह अनुमान कितने प्रकारका माना गया है ? अध्ययन करनेपर प्रतीत होता ह कि सवप्रथम कणादने[10] अनुमानके प्रकारोंका निर्देश किया है। उन्होने उसको कण्ठत सख्याका तो उल्लेख नही किया, किन्तु उसके प्रकारोको

---

१ न्यायाव० १३, १८, २० २२।

२ तत्त्वस० पृ० ४०६ पर उद्धृत 'अन्यथानुपपन्नत्व' आदि का०।

३ प्र० प० पृ० ७२ में उद्धृत 'अन्यथानुपपत्त्येकलक्षण' आदि कारि०।

४ न्या० वि० २।१८७ ३२३, ३२७, ३२९।

५ परी० मु० ३।११, १५, १६, ९४, ९५ ९६।

६ साधनं प्रकृताभावेऽनुपपन्न—। —न्यायवि० २।६९, तथा प्रमाणस० २१।

७ अर्थापत्तिरपि दृष्ट श्रुतो वार्थोऽन्यथा नोपपद्यत इत्यर्थकल्पना।
—शाबरभा० १।१।५, बृहती, पृष्ठ ११०।

८ केयमन्यथानुपपत्तिर्नाम ? न हि अन्यथानुपपत्ति प्रत्यक्षसमधिगम्या।
—बृहती पृ० ११०, १११।

९ तत्त्वस० पृ० ४०५ ४०८।

१० वैशे सू० ९।२।१।

गिनाया है। उनके परिगणित प्रकार निम्न हैं—(१) कार्य, (२) कारण, (३) संयोगी, (४) विरोधि और (५) समवायि। यतः हेतुके पाँच भेद हैं अतः उनसे उत्पन्न अनुमान भी पाँच हैं।

न्यायसूत्र[1], उपायहृदय[2], चरक[3], सांख्यकारिका[4] और अनुयोगद्वारसूत्रमें[5] अनुमानके पूर्वोल्लिखित पूर्ववत् आदि तीन भेद बताये हैं। विशेष यह कि चरकमें त्रित्वसंख्याका उल्लेख है, उनके नाम नहीं दिये। सांख्यकारिकामें भी त्रिविधत्व का निर्देश है और केवल तीसरे सामान्यतोदृष्टका नाम है।[6] किन्तु माठर[7] तथा युक्तिदीपिकाकार[8] ने तीनोंके नाम दिये हैं और वे उपर्युक्त ही हैं। अनुयोगद्वारमें प्रथम दो भेद तो वही हैं, पर तीसरेका नाम सामान्यतोदृष्ट न होकर दृष्टसाधर्म्यवत् नाम है।

इस विवेचनसे ज्ञात होता है कि तार्किकोंने उस प्राचीन कालमें कणादकी पञ्चविध अनुमान-परम्पराको नहीं अपनाया, किन्तु पूर्ववदादि त्रिविध अनुमानकी परम्पराको स्वीकार किया है। इस परम्पराका मूल क्या है? न्यायसूत्र है या अनुयोगसूत्र आदिमेंसे कोई एक? इस सम्बन्धमें निश्चयपूर्वक कहना कठिन है। पर इतना अवश्य कहा जा सकता है कि उस समय पूर्वोक्त त्रिविध अनुमानकी कोई सामान्य परम्परा रही है, जो अनुमान चर्चामें वर्तमान थी और जिसके स्वीकारमें किसीको सम्भवतः विवाद नहीं था।

पर उत्तरकालमें यह त्रिविध अनुमान-परम्परा भी यथावत् नहीं रह सकी। प्रशस्तपादने[9] दो तरहका अनुमान बतलाया है—१ दृष्ट और २ सामान्यतोदृष्ट। अथवा १ स्वनिश्चितार्थानुमान और २ परार्थानुमान। मीमांसादर्शनके शबरने[10] प्रशस्तपादके प्रथमोक्त अनुमानद्वैविध्यको ही कुछ परिवर्तनके साथ स्वीकार किया है—१ प्रत्यक्षतोदृष्टसम्बन्ध और २ सामान्यतोदृष्टसम्बन्ध।

---

१ न्यायसू० १।१।५।
२ उपायहृ० पृ० १३।
३ चरकसूत्रस्थान ११।२१, २२।
४ सां० का० का० ५।
५ मुनि कन्हैयालाल, अनुयो० सू० पृ० ५३९।
६ सां० का० का० ६।
७ माठरवृ० का० ५।
८ युक्तिदी० का० ५, पृष्ठ ४३, ४४।
९ प्रश० भा० पृ० १०४, १०६, १११।
१० शाबरभा० १।१।५, पृष्ठ ३६।

साख्यदर्शनमें वाचस्पतिके[1] अनुसार वीत और अवीत ये दो भेद भी मान लिये हैं। वीतानुमानको उन्होंने पूर्ववत और सामान्यतोदृष्ट द्विविधरूप और अवीतानुमानको शेषवत्‌रूप मानकर उक्त अनुमानत्रैविध्यके साथ समन्वय भी किया है। ध्यातव्य है कि साख्योंकी सप्तविध अनुमान-मान्यताका भी उल्लेख उद्योतकर[2], वाचस्पति[3] और प्रभाचन्द्रने[4] किया है। पर वह हमें साख्यदर्शनके उपलब्ध ग्रन्थोंमें प्राप्त नहीं हो सकी। प्रभाचन्द्रने तो प्रत्येकका स्वरूप और उदाहरण देकर उन्हें स्पष्ट भी किया है।

आगे चलकर जो सर्वाधिक अनुमानभेद-परम्परा प्रतिष्ठित हुई वह है प्रशस्तपादकी उक्त—१ स्वार्थ और २ परार्थभेदवाली परम्परा। उद्योतकरने[5] पूर्ववदादि अनुमानत्रैविध्यकी तरह केवलान्वयी, केवलव्यतिरेकी और अन्वयव्यतिरेकी इन तीन नये अनुमान भेदोका भी प्रदर्शन किया है। किन्तु उन्होंने और उनके उत्तरवर्ती वाचस्पति तकके नैयायिकोंने प्रशस्तपादनिर्दिष्ट उक्त स्वार्थ परार्थके अनुमानद्वैविध्यको अंगीकार नहीं किया। पर जयन्तभट्ट[6] और उनके पाश्चात्‌वर्ती केशव मिश्र[7] आदिने उक्त अनुमानद्वैविध्यको मान लिया है।

बौद्ध दर्शनमें दिङ्नागसे पूर्व उक्त द्वैविध्यकी परम्परा नहीं देखी जाती। परन्तु दिङ्नागने[8] उसका प्रतिपादन किया है। उनके पश्चात् तो धर्मकीर्ति[9] आदिने इसीका निरूपण एवं विशेष व्याख्यान किया है।

जैन तार्किकोंने[10] इसी स्वार्थ-परार्थ अनुमानद्वैविध्यको अंगीकार किया है और अनुयोगद्वारादिप्रतिपादित अनुमानत्रैविध्यको स्थान नहीं दिया, प्रत्युत उसकी समीक्षा की है।[11]

---

१ सा० त० कौ० का० ५, पृ० ३०-३२।
२ न्यायवा० १।१।५ पृष्ठ ५७।
३ न्यायवा० ता० टी० १।१।५ पृष्ठ १६५।
४ न्यायकु० च० ३।१४, पृष्ठ ४६२।
५ न्यायवा० १।१।५, पृष्ठ ४६।
६ न्यायम० पृष्ठ १३०, १३१।
७ तर्कभा० पृ० ७९।
८ प्रमाणसमु० २।१।
९ न्यायबि० पृ० २१, द्वि० परि०।
१० सिद्धसेन, न्यायाव० का० १०। अकलंक, सि० वि० ६।२ पृष्ठ ३७३,। विद्यानन्द, प्र० प० पृ० ७६। माणिक्यनन्दि, परी० मु० ३।५२, ५३। देवसूरि, प्र० न० त० ३।९,१०,। हेमचन्द्र प्रमाणमी० १।२।८, पृष्ठ ३९ आदि।
११ अकलंक, न्यायविनि० ३४१,३४२,। स्याद्वादर० पृष्ठ ५२७। आदि।

गिनाया है। उनके परिगणित प्रकार निम्न हैं—(१) कार्य, (२) कारण, (३) संयोगी, (४) विरोधि और (५) समवायि। यत हेतुके पाँच भेद हैं, अत उनसे उत्पन्न अनुमान भी पाँच हैं।

न्यायसूत्र[1], उपायहृदय[2], चरक[3], साख्यकारिका[4] और अनुयोगद्वारसूत्रमें[5] अनुमानके पूर्वोल्लिखित पूर्ववत् आदि तीन भेद बताये हैं। विशेष यह कि चरकमें त्रित्वसख्याका उल्लेख है उनके नाम नही दिये। साख्यकारिकामें भी त्रिविधत्व का निर्देश है और केवल तीसरे सामान्यतोदृष्टका नाम है।[6] किन्तु माठर[7] तथा युक्तिदीपिकाकार[8] ने तीनोंके नाम दिये हैं और वे उपर्युक्त ही हैं। अनुयोगद्वार में प्रथम दो भेद ता वही हैं, पर तीसरेका नाम सामान्यतोदृष्ट न होकर दृष्टसा धर्म्यवत नाम है।

इस विवेचनसे ज्ञात होता है कि तार्किकोंने उस प्राचीन कालमें कणादकी पचविध अनुमान-परम्पराको नही अपनाया किन्तु पूर्ववदादि त्रिविध अनुमानकी परम्पराको स्वीकार किया है। इस परम्पराका मूल क्या है ? न्यायसूत्र है या अनुयोगसूत्र आदिमेंसे कोई एक ? इस सम्बन्धमें निर्णयपूर्वक कहना कठिन है। पर इतना अवश्य कहा जा सकता है कि उस समय पूर्वागत त्रिविध अनुमानकी कोई सामान्य परम्परा रही है जो अनुमान चर्चामें वर्तमान थी और जिसके स्वीकारमें किसीको सम्भवत विवाद नही था।

पर उत्तरकालमें यह त्रिविध अनुमान-परम्परा भी सर्वमान्य नही रह सकी। प्रशस्तपादने[9] दो तरहसे अनुमान-भेद बतलाये हैं—१ दृष्ट और २ सामान्यतो दृष्ट। अथवा १ स्वनिश्चितार्थानुमान और २ परार्थानुमान। मीमासादर्शनमें शबरने[10] प्रशस्तपादके प्रथमोक्त अनुमानद्वैविध्यको ही कुछ परिवर्तनके साथ स्वीकार किया है—१ प्रत्यक्षतोदृष्टसम्बन्ध और २ सामान्यतोदृष्टसम्बन्ध।

---

१ न्यायसू० १।१।५।
२ उपायहृ० पृ० १३।
३ चरकसूत्रस्थान ११।२१, २२।
४ सां० का० का० ५।
५ मुनि कन्हैयालाल, अनुयो० सू० पृ० ५३६।
६ सां० का० का० ६।
७ माठरवृ० का० ५।
८ युक्तिदी० का० ५, पृष्ठ ४३, ४४।
९ प्रश० भा० पृ० १०४, १०६, ११३।
१० शाबरभा० १।१।५, पृष्ठ ३६।

सांख्यदर्शनमें वाचस्पतिके[1] अनुसार वीत और अवीत ये दो भेद भी मान लिये हैं। वीतानुमानको उन्होंने पूर्ववत् और सामान्यतोदृष्ट द्विविधरूप और अवीतानुमानको शेषवत्रूप मानकर उक्त अनुमानत्रैविध्यके साथ समन्वय भी किया है। ध्यातव्य है कि सांख्योंकी सप्तविध अनुमान-मान्यताका भी उल्लेख उद्योतकर[2], वाचस्पति[3] और प्रभाचन्द्रने[4] किया है। पर वह हमें सांख्यदर्शनके उपलब्ध ग्रन्थोंमें प्राप्त नहीं हो सकी। प्रभाचन्द्रने तो प्रत्येकका स्वरूप और उदाहरण देकर उन्हें स्पष्ट भी किया है।

आगे चलकर जो सर्वाधिक अनुमानभेद परम्परा प्रतिष्ठित हुई वह है प्रशस्तपादकी उक्त—१ स्वार्थ और २ परार्थभेदवाली परम्परा। उद्योतकरने[5] पूर्ववदादि अनुमानत्रैविध्यकी तरह केवलान्वयी, केवलव्यतिरेकी और अन्वयव्यतिरेकी इन तीन नये अनुमान भेदोंका भी प्रदर्शन किया है। किन्तु उन्होंने और उनके उत्तरवर्ती वाचस्पति तकके नैयायिकोंने प्रशस्तपादनिर्दिष्ट उक्त स्वार्थ परार्थके अनुमानद्वैविध्यको अंगीकार नहीं किया। पर जयन्तभट्ट और उनके पश्चात्वर्ती केशव मिश्र[6] आदिने उक्त अनुमानद्वैविध्यको मान लिया है।

बौद्ध दर्शनमें दिङ्नागसे पूर्व उक्त द्वैविध्यकी परम्परा नहीं देखी जाती। परन्तु दिङ्नागने[7] उसका प्रतिपादन किया है। उनके पश्चात् धर्मकीर्ति[8] आदिने इसीका निरूपण एवं विशेष व्याख्यान किया है।

जैन तार्किकोंने[10] इसी स्वार्थ-परार्थ अनुमानद्वैविध्यको अंगीकार किया है और अनुयोगद्वारादिप्रतिपादित अनुमानत्रैविध्यको स्थान नहीं दिया, प्रत्युत उसकी समीक्षा की है।[11]

---

१ सा० त० कौ० का० ५, पृ० ३०-३२।
२ न्यायवा० १।१।५ पृष्ठ ५७।
३ न्यायवा० ता० टी० १।१।५, पृष्ठ १६५।
४ न्यायकु० च० ३।१४, पृष्ठ ४६२।
५ न्यायवा० १।१।५ पृष्ठ ४६।
६ न्यायम० पृष्ठ १३०, १३१।
७ तर्कभा० पृ० ७९।
८ प्रमाणसमु० २।१।
९ न्यायबि० पृ० २१, द्वि० परि०।
१० सिद्धसेन, न्यायाव० का० १०। अकलंक सि० वि० ६।२ पृष्ठ ३७३,। विद्यानन्द प्र० प० पृ० ७६। माणिक्यनन्दि, परी० मु० ३।५२, ५३। देवसूरि, प्र० न० त० ३।९, १०,। हेमचन्द्र, प्रमाणमी० १।२।८, पृष्ठ ३९ आदि।
११ अकलंक, न्यायविनि० ३४१, ३४२,। स्याद्वादर० पृष्ठ ५२७। आदि।

इस प्रकार अनुमान भेदोंके विषयमें भारतीय तार्किकोंकी विभिन्न मान्यताएँ तकग्रन्थोंमें उपलब्ध होती हैं। तथ्य यह कि कणाद जहाँ साधनभेदसे अनुमानभेदका निरूपण करते हैं वहाँ न्यायसूत्र आदिमें विषयभेद तथा प्रशस्तपादभाष्य आदिमें प्रतिपत्ताभेदसे अनुमान भेदका प्रतिपादन ज्ञात होता है। साधन अनेक हो सकते हैं, जैसा कि प्रशस्तपादने[1] कहा है, अतः अनुमानके भेदोंकी संख्या पाँचसे अधिक भी हो सकती है। न्यायसूत्रकार आदिकी दृष्टिमें चूँकि अनुमेय या तो कार्य होगा, या कारण या अकार्यकारण। अतः अनुमेयके त्रैविध्यसे अनुमान त्रिविध है। प्रशस्तपाद द्विविध प्रतिपत्ताओंकी द्विविध प्रतिपत्तियोंकी दृष्टिसे अनुमानके स्वार्थ और परार्थ दो ही भेद मानते हैं, जो बुद्धिको लगता है, क्योंकि अनुमान एक प्रकारकी प्रतिपत्ति है और वह स्व तथा पर दोके द्वारा की जाती है। सम्भवतः इसीसे उत्तरकालमें अनुमानका स्वार्थ परार्थद्वैविध्य सर्वाधिक प्रतिष्ठित और लोकप्रिय हुआ।

अनुमानावयव

अनुमानके तीन उपादान हैं,[2] जिनसे वह निष्पन्न होता है—१ साधन, २ साध्य और ३ धर्मी। अथवा[3] १ पक्ष और २ हेतु ये दो उसके अंग हैं, क्योंकि साध्यधर्म विशिष्ट धर्मीको पक्ष कहा गया है, अतः पक्षका कहनेसे धर्म और धर्मी दोनोंका ग्रहण हो जाता है। साधन गमकरूपसे उपादान है, साध्य गम्यरूपसे और धर्मी साध्यधर्मके आधाररूपसे, क्योंकि किसी आधार विशेषमें साध्यकी सिद्धि करना अनुमानका प्रयोजन है। सच यह है कि केवल धर्मकी सिद्धि करना अनुमानका ध्येय नहीं है, क्योंकि वह व्याप्ति निश्चयकालमें ही अवगत हो जाता और न केवल धर्मीकी सिद्धि अनुमानके लिए अपेक्षित है, क्योंकि वह सिद्ध रहता है। किन्तु 'पर्वत अग्निवाला है' इस प्रकार पर्वतमें रहने वाली अग्निका ज्ञान करना अनुमानका लक्ष्य है। अतः धर्मी भी साध्यधर्मके आधार रूपमें अनुमानका अंग है। इस तरह साधन साध्य और धर्मी ये तीन अथवा पक्ष और हेतु ये दो स्वार्थानुमान तथा परार्थानुमान दोनोंके अंग हैं। कुछ अनुमान ऐसे भी होते हैं जहाँ धर्मी नहीं होता। जैसे—सोमवारसे मंगलका अनुमान आदि। ऐसे अनुमानोंमें साधन और साध्य दो ही अंग है।

उपर्युक्त अंग स्वार्थानुमान और ज्ञानात्मक परार्थानुमानके कहे गये हैं। किन्तु वचनप्रयोग द्वारा प्रतिवादियों या प्रतिपाद्योंको अभिधेय प्रतिपत्ति कराना जब अभिप्रेत होता है तब यह वचनप्रयोग परार्थानुमान-वाक्यके नामसे अभिहित

---

१ प्रश० भा० पृ० १०४।
२ धर्मभूषण, न्यायदी० तृ० प्रकाश पृ० ७२।
३ वही, पृष्ठ ७२-७३।

होता है और उसके निष्पादक अंगोको अवयव कहा गया है। परार्थानुमानवाक्य के कितने अवयव होने चाहिए, इस सम्बन्धमें तार्किकोंके विभिन्न मत हैं। न्यायसूत्रकारका[1] मत है कि परार्थानुमान वाक्यके पांच अवयव हैं—१ प्रतिज्ञा, २ हेतु, ३ उदाहरण, ४ उपनय और ५ निगमन। भाष्यकारने[2] सूत्रकारके इस मतका न केवल समर्थन ही किया है, अपितु अपने कालमें प्रचलित दशावयव मान्यताका निरास भी किया है। वे दशावयव हैं—उक्त ५ तथा ६ जिज्ञासा, ७ संशय, ८ शक्यप्राप्ति, ९ प्रयोजन और १० संशयव्युदास।

यहाँ प्रश्न है कि ये दश अवयव किनके द्वारा माने गये हैं? भाष्यकारने उन्हें 'दशावयवानेके नैयायिका वाक्ये संचक्षते[3]' शब्दों द्वारा 'किन्हीं नैयायिकों'की मान्यता बतलाई है। पर मूल प्रश्न असमाधेय ही रहता है।

हमारा अनुमान है कि भाष्यकारको 'एके नैयायिका' पदसे प्राचीन सांख्य विद्वान् युक्तिदीपिकाकार अभिप्रेत हैं, क्योंकि युक्तिदीपिकामें[4] उक्त दशावयवोंका न केवल निर्देश है किन्तु स्वमतरूपमें उनका विशद एवं विस्तृत व्याख्यान भी है। युक्तिदीपिकाकार उन अवयवोंको बतलाते हुए प्रतिपादन करते हैं[5] कि 'जिज्ञासा, संशय, प्रयोजन, शक्यप्राप्ति और संशयव्युदास ये पांच अवयव व्याख्यांग हैं तथा प्रतिज्ञा, हेतु, दृष्टान्त, उपसंहार और निगमन ये पाँच परप्रतिपादनांग। तात्पर्य यह कि अभिधेयका प्रतिपादन दूसरोंके लिए प्रतिज्ञादि द्वारा होता है और व्याख्या जिज्ञासादि द्वारा। पुनरुक्ति, वैयर्थ्य आदि दोषोंका निरास करते हुए युक्तिदीपिकामें कहा गया है[6] कि विद्वान् सबके अनुग्रहके लिए जिज्ञासादिका अभिधान करते हैं। यतः व्युत्पाद्य अनेक तरहके होते हैं—सन्दिग्ध, विपर्यस्त और अव्युत्पन्न। अतः इन सभीके लिए सन्तोंका प्रयास होता है। दूसरे, यदि प्रतिवादी प्रश्न करे कि क्या जानना चाहते हो? तो उसके लिए जिज्ञासादि अवयवोंका वचन आवश्यक है। किन्तु प्रश्न न करे तो उसके लिए वे नहीं भी कहे जाएँ।

---

१ न्यायसू० १।१।३२।

२ ३ न्यायभा० १।१।३२, पृष्ठ ४७।

४ ५ तस्य पुनरवयवाः—जिज्ञासा-संशय-प्रयोजन-शक्यप्राप्ति-संशयव्युदासलक्षणाश्च व्याख्याङ्गम्, प्रतिज्ञा-हेतु-दृष्टान्तोपसंहार-निगमनानि परप्रतिपादनाङ्गमिति।
—युक्तिदी० का० ६, पृष्ठ ४७।

६ अत्र ब्रूमः—न, उक्तत्वात्। उक्तमेतत् पुरस्तात् व्याख्याङ्गं जिज्ञासादयः। सर्वस्य चानुग्रहः कर्तव्य इत्येवमर्थं च शास्त्रव्याख्यानं विपश्चिद्भिः प्रत्याय्यते, न स्वार्थं सम्पदर्थं बुद्ध्यर्थं वा।
—वही० का० ६, पृष्ठ ४९।

अन्तमें निष्कर्ष निकालते हुए युक्तिदीपिकाकार[1] कहते हैं कि इसीसे हमने जो वीतानुमानके दशावयव कहे वे सर्वथा उचित हैं। आचार्य[2] (ईश्वरकृष्ण) उनके प्रयोगको न्याय सगत मानते हैं।' इससे अवगत होता है कि दशावयवकी मान्यता युक्तिदीपिकाकारकी रही है। यह भी सम्भव है कि ईश्वरकृष्ण या उनसे पूर्व किसी सांख्य विद्वान्ने दशावयवोंको माना हो और युक्तिदीपिकाकारने उनका समर्थन किया हो।

जैन विद्वान् भद्रबाहुने[3] भी दशावयवोंका उल्लेख किया है। जैसा कि पूर्वमें लिखा गया है। किन्तु उनके वे दशावयव उपर्युक्त दशावयवोंसे कुछ भिन्न हैं।

प्रशस्तपादने[4] पाँच अवयव माने हैं। पर उनके अवयवनामों और न्यायसूत्रकारके अवयवनामोंमें कुछ अन्तर है। प्रतिज्ञाके स्थानमें तो प्रतिज्ञा नाम ही है। किन्तु हेतुके लिए अपदेश, दृष्टान्तके लिए निदर्शन, उपनयके स्थानमें अनुसन्धान और निगमनको जगह प्रत्याम्नाय नाम दिये हैं। यहाँ प्रशस्तपादकी[5] एक विशेषता उल्लेखनीय है। न्यायसूत्रकारने जहाँ प्रतिज्ञाका लक्षण 'साध्यनिर्देश प्रतिज्ञा' यह किया है वहाँ प्रशस्तपादने 'अनुमेयोद्देशोऽविरोधी प्रतिज्ञा' यह कहकर उसमें 'अविरोधी' पदके द्वारा प्रत्यक्ष विरुद्ध आदि पाँच विरुद्धसाध्यों (साध्याभासों) का भी निरास किया है। न्यायप्रवेशकारने[7] भी प्रशस्तपादका अनुसरण करते हुए स्वकीय पक्षलक्षणमें 'अविरोधि' जैसा ही 'प्रत्यक्षाद्यविरुद्ध' विशेषण दिया है और उसके द्वारा प्रत्यक्षविरुद्धादि साध्याभासोंका परिहार किया है।

न्यायप्रवेश[7] और माठरवृत्तिमें[8] पक्ष, हेतु और दृष्टान्त ये तीन अवयव स्वीकार

---

१ 'तस्मात् सूक्तं दशावयवो वीतः। तस्य पुरस्तात् प्रयोगं न्याय्यमाचार्या मन्यन्ते।'
—यु० दी० का० ६, पृष्ठ ५१।
अवयवाः पुनर्जिज्ञासादयः प्रतिज्ञादयश्च। तत्र जिज्ञासादयो व्याख्याङ्गम्, प्रतिज्ञादयः परप्रत्यायनाङ्गम्। तानुत्तरत्र वक्ष्यामः।'
—वही० का० १ की भूमिका पृष्ठ ३।

२ युक्तिदीपिकाकारने इस बातको आचार्य (ईश्वरकृष्ण) की कारिकाओं—१ १५, १६, ३५ और ५७ के प्रतीकों द्वारा समर्थित किया है।
—यु० दी० का० १ की भूमिका पृष्ठ ३।

३ दशवै० नि० गा० ४९, १३७।

४ अवयवाः पुनः प्रतिज्ञापदेशनिदर्शनानुसन्धानप्रत्याम्नायाः।
—प्रश० भा० पृ० ११४।

५ वही, पृष्ठ ११४, ११५।

६ न्यायप्र० पृ० १।

७ वही पृ० १, २।

८ माठरवृ० का० ५।

किये हैं। धर्मकीर्तिने[1] उक्त तीन अवयवोंमेंसे पक्षको निकाल दिया है और हेतु तथा दृष्टान्त ये दो अवयव माने हैं। न्यायबिन्दु और प्रमाणवार्तिकमें उन्होंने केवल हेतुको ही अनुमानावयव माना है।[2]

मीमांसक विद्वान् शालिकानाथने[3] प्रकरणपंचिकामें, नारायण भट्टने[4] मानमेयोदयमें और पार्थसारथिने[5] न्यायरत्नाकरमें प्रतिज्ञा, हेतु और दृष्टान्त इन तीन अवयवोंके प्रयोगको प्रतिपादित किया है।

जैन तार्किक समन्तभद्रका संकेत तत्त्वार्थसूत्रकारके अभिप्रायानुसार पक्ष, हेतु और दृष्टान्त इन तीन अवयवोंका माननेकी ओर प्रतीत होता है। उन्होंने आप्तमीमांसा (का० ६, १७, १८, २७ आदि) में उक्त तीन अवयवोंसे साध्य सिद्धि प्रस्तुत की है। सिद्धसेनने[6] भी उक्त तीन अवयवोंका प्रतिपादन किया है। पर अकलंक[7] और उनके अनुवर्ती विद्यानन्द[8], माणिक्यनन्दि[9], देवसूरि[10], हेमचन्द्र[11], धर्मभूषण[12], यशोविजय[13] आदिने पक्ष और हेतु ये दो ही अवयव स्वीकार किये हैं और दृष्टान्तादि अन्य अवयवोंका निरास किया है। देवसूरिने[14] अत्यन्त व्युत्पन्नकी अपेक्षा मात्र हेतुके प्रयोगको भी मान्य किया है। पर साथ ही वे यह भी बतलाते हैं कि बहुलतासे एकमात्र हेतुका प्रयोग न होनेसे उसे सूत्रमें ग्रथित नहीं किया। स्मरण रहे कि जैन न्यायमें उक्त दो अवयवोंका प्रयोग व्युत्पन्न प्रतिपाद्यकी दृष्टिसे अभिहित है। किन्तु अव्युत्पन्न प्रतिपाद्योंकी अपेक्षासे तो दृष्टान्तादि अन्य अवयवोंका भी प्रयोग स्वीकृत है।[15] देवसूरि[16], हेमचन्द्र[17] और यशोविजयने[18]

१ वादन्या० पृ० ६१। प्रमाणवा० १।१२८। न्यायवि० पृष्ठ ९१।
२ प्रमाणवा १ १२८। न्यायवि० पृष्ठ ९१।
३ प्र० प० पृ० २२०।
४ मा० मे० पृ० ६४।
५ न्यायरत्ना० पृष्ठ ३६१ (मी० श्लोक अनु० परि० श्लोक ५३)।
६ न्यायाव० १३ १९।
७ न्या० वि० का० ३८१।
८ पत्रपरी० पृ० ९
९ परीक्षामु० ३.३७।
१० प्र० न० त० ३।२८, २३।
११ प्र० मी० २।१।९।
१२ न्याय० दी० पृष्ठ ७६।
१३ जैनत० पृ० १६।
१४ प्र० न० त० ३।२३, पृ० ५४८।
१५ परी० मु० ३।४६। प्र० न० त० ३।४२। प्र० मी० २।१।१०।
१६ प्र० न० त० ३।४२, पृ० ५६५।
१७ प्र० मी० २।१।१०, पृष्ठ ५२। १८ जैनत० भा० पृष्ठ १६।

भद्रबाहुकथित पक्षादि पाच शुद्धियोंके भी वाक्यमें समावेशका कथन किया और भद्रबाहुके दशावयवोंका समर्थन किया है।

अनुमान दोष

अनुमान निरूपणके सन्दर्भमें भारतीय तार्किकोंने अनुमानके सम्भव दोषोंपर भी विचार किया है। यह विचार इसलिए आवश्यक रहा है कि उससे यह जानना शक्य है कि प्रयुक्त अनुमान सदोष है या निर्दोष? क्योंकि जब तक किसी ज्ञानके प्रामाण्य या अप्रामाण्यका निश्चय नहीं होता तब तक वह ज्ञान अभिप्रेत अर्थकी सिद्धि या असिद्धि नहीं कर सकता। इसीसे यह कहा गया है[1] कि प्रमाणसे अर्थ ससिद्धि होती है और प्रमाणाभाससे नहीं। और यह प्रकट है कि प्रामाण्यका कारण गुण है और अप्रामाण्यका कारण दोष। अतएव अनुमानप्रामाण्यके हेतु उसकी निर्दोषताका पता लगाना बहुत आवश्यक है। यही कारण है कि तर्क ग्रन्थोंमें प्रमाण निरूपणके परिप्रेक्ष्यमें प्रमाणाभास निरूपण भी पाया जाता है। न्यायसूत्रमें[2] प्रमाणपरीक्षा प्रकरणमें अनुमानकी परीक्षा करते हुए उसमें दोषाशका और उसका निरास किया गया है। वात्स्यायनने[3] अननुमान (अनुमानाभास) को अनुमान समझनेकी चर्चा द्वारा स्पष्ट बतलाया है कि दूषितानुमान भी सम्भव है।

अब देखना है कि अनुमानमें क्या दोष हो सकते हैं और वे कितने प्रकारके सम्भव हैं? स्पष्ट है कि अनुमानका गठन मुख्यतया दो अङ्गों पर निर्भर है—१ साधन और २ साध्य (पक्ष)। अतएव दोष भी साधनगत और साध्यगत दो ही प्रकारके हो सकते हैं और उन्हें क्रमशः साधनाभास तथा साध्याभास (पक्षाभास) नाम दिया जा सकता है। साधन अनुमान प्रासादका वह प्रधान एव महत्त्वपूर्ण स्तम्भ है जिसपर उसका भव्य भवन निर्मित होता है। यदि प्रधान स्तम्भ निर्बल हो तो प्रासाद किसी भी क्षण क्षतिग्रस्त एव धराशायी हो सकता है। सम्भवतः इसीसे गौतमने[4] साध्यगत दोषोंका विचार न कर मात्र साधनगत दोषोंका विचार किया और उन्हें अवयवोंकी तरह सोलह पदार्थोंके अन्तर्गत स्वतन्त्र पदार्थका स्थान प्रदान

---

१ प्रमाणादर्थससिद्धिस्तदाभासाद्विपर्ययः।
—माणिक्यनन्दि परी० मु० मंगलश्लो० १।

२ न्यायसू० २।१।३८, ३९।

३ न्यायभा० २।१।३९।

४ न्यायसू० १।२।४९।

किया है। इससे गौतमकी दृष्टिमें उनकी अनुमानमें प्रमुख प्रतिबन्धकता प्रकट होती है। उन्होंने[1] उन साधनगत दोषोंको, जिन्हें हेत्वाभासके नामसे उल्लिखित किया गया है पाँच बतलाया है। वे हैं—१ सव्यभिचार, २ विरुद्ध, ३ प्रकरणसम, ४ साध्यसम और ५ कालातीत। हेत्वाभासोंकी पाँच संख्या सम्भवतः हेतुके पाँच रूपोंके अभावपर आधारित जान पड़ती है। यद्यपि हेतुके पाँच रूपोंका निर्देश न्यायसूत्रमें उपलब्ध नहीं है। पर उसके व्याख्याकार उद्योतकर प्रभृतिने उनका उल्लेख किया है। उद्योतकरने[2] हेतुका प्रयोजक समस्तरूपसम्पत्तिको और हेत्वाभासका प्रयोजक असमस्तरूपसम्पत्तिको बतला कर उन रूपोंका संकेत किया है। वाचस्पतिने[3] उनकी स्पष्ट परिगणना भी कर दी है। वे पाँच रूप हैं— पक्षधर्मत्व, सपक्षसत्त्व, विपक्षासत्त्व, अबाधितविषयत्व और असत्प्रतिपक्षत्व। इनके अभावसे हेत्वाभास पाँच ही सम्भव हैं। जयन्तभट्टने[4] तो स्पष्ट लिखा है कि एक-एक रूपके अभावमें पाँच हेत्वाभास होते हैं। न्यायसूत्रकारने एक एक पृथक् सूत्र द्वारा उनका निरूपण किया है। वात्स्यायनने[5] हेत्वाभासका स्वरूप देते हुए लिखा है कि जो हेतुलक्षण (पंचरूप) रहित हैं परन्तु कतिपय रूपोंके रहनेके कारण हेतु सादृश्यसे हेतुकी तरह आभासित होते हैं उन्हें अहेतु अर्थात् हेत्वाभास कहा गया है। सर्वदेवने[6] भी हेत्वाभासका यही लक्षण दिया है।

कणादने[7] अप्रसिद्ध, विरुद्ध और सन्दिग्ध ये तीन हेत्वाभास प्रतिपादित किये हैं। उनके भाष्यकार प्रशस्तपादने[8] उनका समर्थन किया है। विशेष यह कि उन्होंने[9] काश्यपकी दो कारिकाएँ उद्धृत करके पहलीं द्वारा हेतुको त्रिरूप और दूसरी द्वारा उन तीन रूपोंके अभावसे निष्पन्न होने वाले उक्त विरुद्ध, असिद्ध और

---

१ सव्यभिचारविरुद्धप्रकरणसमसाध्यसमकालातीता हेत्वाभासाः।
—न्यायसू० १।२।४।

२ समस्तलक्षणोपपत्तिरसमस्तलक्षणोपपत्तिश्च।
—न्यायवा० १।२।४, पृष्ठ १६३।

३ न्यायवा० ता० टी० १।२।४, पृष्ठ ३३०।

४ हेतोः पंचलक्षणानि पक्षधर्मत्वादीनि उक्तानि। तेषामेकैकापाये पंच हेत्वाभासा भवन्ति असिद्ध-विरुद्ध-अनैकान्तिक-कालात्ययापदिष्ट प्रकरणसमाः।
—न्यायकलिका पृ० १४। न्यायमं० पृ० १०१।

५ हेतुलक्षणाभावादहेतवो हेतुसामान्याद्धेतुवदाभासमानाः।
—न्यायभा० १।२।४ की उत्थानिका, पृ० ६३।

६ प्रमाणमं० पृष्ठ ९।

७ वै० सू० ३।१।१५।

८ प्रश० भा० पृ० १०० १०१।

९ प्रश० भा० पृ० १००।

सन्दिग्ध तीन हेत्वाभासोंको बताया है। प्रशस्तपादका[1] एक वैशिष्ट्य और उल्लेख्य है। उन्होंने निदर्शनके निरूपण सन्दर्भमें बारह निदर्शनाभासोंका भी प्रतिपादन किया है, जबकि न्यायसूत्र और न्यायभाष्यमें उनका कोई निर्देश प्राप्त नहीं है। पाँच प्रतिज्ञाभासों (पक्षाभासों)का भी कथन प्रशस्तपादने[2] किया है, जो बिल्कुल नया है। सम्भव है न्यायसूत्रमें हेत्वाभासोंके अन्तर्गत जिस कालातीत (बाधितविषय—कालात्ययापदिष्ट)का निर्देश है उसके द्वारा इन प्रतिज्ञाभासोंका संग्रह न्यायसूत्रकारको अभीष्ट हो। सर्वदेवने[3] छह हेत्वाभास बताये हैं।

उपायहृदयमें[4] आठ हेत्वाभासोंका निरूपण है। इनमें चार (कालातीत, प्रकरणसम, सव्यभिचार और विरुद्ध) हेत्वाभास न्यायसूत्र जैसे ही हैं तथा शेष चार (वाक्छल, सामान्यछल, संशयसम और वर्ण्यसम) नये हैं। इनके अतिरिक्त इसमें अन्य दोषोंका प्रतिपादन नहीं है। पर न्यायप्रवेशमें[5] पक्षाभास, हेत्वाभास और दृष्टान्ताभास इन तीन प्रकारके अनुमान-दोषोंका कथन है। पक्षाभासके नौ[6], हेत्वाभासके[7] तीन और दृष्टान्ताभासके[8] दस भेदोंका सोदाहरण निरूपण है। विशेष यह कि अनैकान्तिक हेत्वाभासके छह भेदोंमें एक विरुद्धाव्यभिचारीका[9] भी कथन उपलब्ध होता है, जो तार्किकों द्वारा अधिक चर्चित एवं समालोचित हुआ है। न्यायप्रवेशकारने[10] दस दृष्टान्ताभासोंके अन्तर्गत उभयासिद्ध दृष्टान्ताभासको द्विविध वर्णित किया है और जिससे प्रशस्तपाद जैसों ही उनके दृष्टान्ताभासोंकी संख्या द्वादश हो जाती है। पर प्रशस्तपादोक्त द्विविध आश्रयासिद्ध उन्हें अभीष्ट नहीं है।

कुमारिल[11] और उनके व्याख्याकार पार्थसारथिने[12] मीमांसक दृष्टिसे छह प्रतिज्ञाभासों, तीन हेत्वाभासों और दृष्टान्तदोषोंका प्रतिपादन किया है। प्रतिज्ञाभासोंमें प्रत्यक्षविरोध, अनुमानविरोध और शब्दविरोध ये तीन प्रायः प्रशस्तपाद तथा न्यायप्रवेशकारकी तरह ही हैं। हाँ, शब्दविरोधके प्रतिज्ञातविरोध, लोक

१ प्र० भा०, पृ० १००, १२३।

२ वही, पृ० ११५।

३ प्रमाणमं० पृष्ठ ९।

४ उ० हृ० पृ० १४।

५ पक्ष पक्षहेतुदृष्टान्ताभासाना वचनानि साधनाभासम्।
—न्या० प्र० पृ० २-७।

६, ७, ८ वही, २,३ ७।

९ वही, पृ० ४।

१० न्यायप्र० पृ० ७।

११ मी० श्लोक अनु० श्लोक० ५८ ६६, १०८।

१२ न्यायरत्ना० मी० श्लोक० अनु० ५८ ६६, १०८।

प्रसिद्धिविरोध और पूर्वसजल्पविरोध ये तीन भेद किये हैं। तथा अर्थापत्तिविरोध, उपमानविरोध और अभावविरोध ये तीन भेद सर्वथा नये हैं, जो उनके मनानुरूप हैं। विशेष[1] यह कि इन विरोधोंको धर्म, धर्मी और उभयके सामान्य तथा विशेष स्वरूपगत बतलाया गया है। त्रिविध हेत्वाभासोंके अवान्तर भेदोंका भी प्रदर्शन किया है और न्यायप्रवेशकी भांति कुमारिलने[2] विरुद्धाव्यभिचारी भी माना है।

सांख्यदर्शनमें युक्तिदीपिका आदिमें तो अनुमानदोषोंका प्रतिपादन नहीं मिलता। किन्तु माठरने[3] असिद्धादि चउदह हेत्वाभासों तथा साध्यविकलादि दश साधर्म्य-वैधर्म्य निदर्शनाभासोंका निरूपण किया है। निदर्शनाभासोंका प्रतिपादन उन्होंने प्रशस्तपादके अनुसार किया है। अन्तर इतना ही है कि माठरने प्रशस्तपादके बारह निदर्शनाभासोंमें दशको स्वीकार किया है और आश्रयासिद्ध नामक दो साधर्म्य-वैधर्म्य निदर्शनाभासोंको छोड़ दिया है। पक्षाभास भी उन्होंने नौ निर्दिष्ट किये हैं।

जैन परम्पराके उपलब्ध न्यायग्रन्थोंमें सर्वप्रथम न्यायावतारमें अनुमान दोषोंका स्पष्ट कथन प्राप्त होता है। इसमें पक्षादि तीनके वचनको परार्थानुमान कहकर उसके दोष भी तीन प्रकारके बतलाए हैं[4]—१ पक्षाभास, २ हेत्वाभास और ३ दृष्टान्ताभास। पक्षाभासके सिद्ध और बाधित ये दो[5] भेद दिखाकर बाधितके प्रत्यक्षबाधित, अनुमानबाधित, लोकबाधित और स्ववचनबाधित—ये चार[6] भेद गिनाये हैं। असिद्ध विरुद्ध और अनैकान्तिक तीन[7] हेत्वाभासों तथा छह साधर्म्य और छह[8] वैधर्म्य कुल बारह दृष्टान्ताभासोंका भी कथन किया है। ध्यातव्य है कि साध्यविकल, साधनविकल और उभयविकल ये तीन साधर्म्य-दृष्टान्ताभास तथा साध्याव्यावृत्त साधनाव्यावृत्त और उभयाव्यावृत्त ये तीन वैधर्म्य दृष्टान्ताभास तो प्रशस्तपादभाष्य और न्यायप्रवेश जैसे ही हैं किन्तु सन्दिग्धसाध्य, सन्दिग्धसाधन और सन्दिग्धोभय ये तीन साधर्म्यदृष्टान्ताभास तथा सन्दिग्धसाध्यव्यावृत्ति, सन्दिग्धसाधनव्यावृत्ति और सन्दिग्धोभयव्यावृत्ति ये तीन वैधर्म्यदृष्टान्ताभास न प्रशस्तपादभाष्यमें हैं[9] और न न्यायप्रवेशमें।[10] प्रशस्तपादभाष्यमें आश्रयासिद्ध,

---

१ मी० श्लो०, अनु० परि० श्लोक ७०, तथा व्याख्या।

२ वही अनु० परि० श्लोक ९२ तथा व्याख्या।

३ माठरवृ० का० ५।

४ न्यायाव० का० १३ २१-२५।

५,६ वही, का० २१।

७ वही, का० २२, २३।

८, ९ वही, का० २४, २५।

९ प्रश० भा० पृ० १२३।

१० न्यायप्र० पृ० ५७।

अननुगत और विपरीतानुगत ये तीन साधर्म्य तथा आश्रयसिद्ध, अव्यावृत्त और विपरीतव्यावृत्त ये तीन वैधर्म्यनिदर्शनाभास हैं। और न्यायप्रवेशमें अनन्वय तथा विपरीतान्वय ये दो साधर्म्य और अव्यतिरेक तथा विपरीतव्यतिरेक ये दो वैधर्म्य दृष्टान्ताभास उपलब्ध हैं। पर हाँ धर्मकीर्तिके न्यायबिन्दुमें[1] उनका प्रतिपादन मिलता है। धर्मकीर्तिने सन्दिग्धसाध्यादि उक्त तीन साधर्म्यदृष्टान्ताभासों और सन्दिग्धव्यतिरेकादि तीन वैधर्म्यदृष्टान्ताभासोंका स्पष्ट निरूपण किया है। इनके अतिरिक्त धर्मकीर्तिने न्यायप्रवेशगत अनन्वय, विपरीतान्वय, अव्यतिरेक और विपरीतव्यतिरेक इन चार साधर्म्य-वैधर्म्य दृष्टान्ताभासोंको अपनाते हुए अप्रदर्शितान्वय और अप्रदर्शितव्यतिरेक इन दो नये दृष्टान्ताभासोंको और सम्मिलित करके नव नव साधर्म्य-वैधर्म्य दृष्टान्ताभास प्रतिपादित किये हैं।

अकलङ्कने[2] पक्षाभासके उक्त सिद्ध और बाधित दो भेदोंके अतिरिक्त अनिष्ट नामक तीसरा पक्षाभास भी वर्णित किया है। जब साध्य शक्य (अबाधित), अभिप्रेत (इष्ट) और असिद्ध होता है तो उसके दोष भी बाधित, अनिष्ट और सिद्ध ये तीन कहे जाएँगे। हेत्वाभासोंके सम्बन्धमें उनका मत है कि जैन न्यायमें हेतु न त्रिरूप है और न पाँच रूप, किन्तु एकमात्र अन्यथानुपपन्नत्व (अविनाभाव) रूप है। अतः उसके अभावमें हेत्वाभास एक ही है और वह है अकिञ्चित्कर। असिद्ध, विरुद्ध और अनैकान्तिक ये उसीका विस्तार हैं। दृष्टान्तके विषयमें उनका मत यह है कि वह सर्वत्र आवश्यक नहीं है। जहाँ वह आवश्यक है वहाँ उसका और उसके साध्यविकलादि दोषोंका कथन किया जाना योग्य है।

माणिक्यनन्दि[3], देवसूरि[4], हेमचन्द्र[5] आदि जैन तार्किकोंने प्रायः सिद्धसेन और अकलङ्कका ही अनुसरण किया है।

इस प्रकार भारतीय तर्कग्रन्थोंमें अनुमानस्वरूप, अनुमानभेदों, अनुमानाङ्गों, अनुमानावयवों और अनुमानदोषोंपर पर्याप्त चिन्तन उपलब्ध है।

●

१ न्या० बि० तृ० परि० पृष्ठ ९४-१०७।
२ न्यायविनि० का० १७० २९९, ३६५, ३६६, ३७०, ३८१।
३ परीक्षामु० ६।१२-५०।
४ प्रमाणन० ६।३८-८२।
५ प्रमाणमी० १।२।१४, २।१।१६-२७।

चतुर्थ परिच्छेद

भारतीय अनुमान और पाश्चात्य तर्कशास्त्र

यहाँ भारतीय अनुमानका पाश्चात्य तर्कशास्त्रके साथ तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत करना प्रकृत विषयके अनुरूप एव उपयोगी होगा।

विश्वमें घटित होनेवाली घटनाएँ प्राय मिश्रित और अनेक स्थितियोंमें सम्पन्न होती हैं। इन अनेक स्थितियो या परिघटको (Factors) मेंसे कुछ अनावश्यक और कुछ आवश्यक परिस्थितिया रहती हैं। अतएव जब तक व्यर्थ या अनावश्यक परिस्थितियोंका परिहार न किया जाय तब तक हम घटनाके वास्तविक कारणको अवगत नही कर सकते और न कार्यकारण शृङ्खलाकी निश्चित जानकारी हो प्राप्त की जा सकती ह। मिल (Mill) ने भारतीय कार्य कारणपरम्पराके अनुसार ही कॉज एण्ड इफैक्टस् (Cause and Effects) के अन्वेषणको पाँच विधियो द्वारा प्रदर्शित किया है—

(१) अन्वयविधि (Method of agreement)
(२) व्यतिरेकविधि (Method of Difference)
(३) सयुक्त अन्वय व्यतिरेकविधि (Joint Method)
(४) सहभावी वैविध्यविधि (Method of Concomitant Variations)
(५) अवशेषविधि (Method of residues)

इन विधियोंमें दो प्रकारकी प्रक्रियाएँ उपयोगमें लायी जाती ह—भावात्मक और अभावात्मक।

अन्वयविधि

यदि किसी घटनाके दो-तीन उदाहरणोंमें एक ही सामान्य घटक (Common circumstance) पाया जाय तो वह परिघटक, जिसमें समस्त उदाहरणोंकी समानता व्याप्त है, उस घटनाका कार्य या कारण मालूम होता ह। इस विधिमें कारण मालूम होने पर कार्य और कार्य मालूम होने पर कारण ज्ञात किया जाता है। यह विधि 'यत्र यत्र धूमस्तत्र तत्र वह्नि' वाली भारतीय प्रक्रियाके प्राय समान है। भारतीय अन्वय विधिमें साधनके सद्भावमें साध्यका सद्भाव दिखलाया जाता है और इस प्रक्रियामें कारणो द्वारा कार्योंका अथवा

कार्यों द्वारा कारणोंका ज्ञान प्राप्त किया जाता है। मिल (Mill) ने निरीक्षण और प्रयोगात्मक दोनों ही विधियोंसे उदाहरणोंका सकलन कर कार्य-कारण शृङ्खलाका विवेचन किया है।[1]

संयुक्त अन्वयव्यतिरेकविधि

यदि जाच की जानेवाली घटनाओंके दो तीन उदाहरणोंमें कोई एक ही परिघटक सामान्य हो और ऐसे दो अन्य दो-तीन उदाहरणोंमें यह घटना या घटनाएँ घटित न हुई हो, पूर्व सामान्य परिघटकके अभाव या अनुपस्थितिके अतिरिक्त कुछ भी सामान्य न हो तो इस प्रकारके उदाहरणोंमें व्यतिरेक (Differing) परिघटक कारण या कार्यके कारणका अवश्य अङ्ग होगा। इस विधिमें भावात्मक (Positive) और अभावात्मक (Negative) दोनों प्रकारकी घटनाएँ उदाहरण के रूपमें ग्रहण की जा सकती हैं। भावात्मक उदाहरण अन्वयविधिके हैं और कारणकार्यकी स्थापना निर्धारित करते हैं। अभावात्मक उदाहरण व्यतिरेकविधिके हैं, जो उक्त कारणकार्यकी स्थापनाको निश्चित रूप देते हैं। इस संयुक्त विधिको द्वय वयविधि भी कहा जाता है।[2]

इस संयुक्त अन्वय व्यतिरेकविधिकी तुलना हम भारतीय अन्वय-व्यतिरेक व्याप्तिसे कर सकते हैं। प्राय इस विधिमें वे ही परिणाम निकलते हैं जो परिणाम भारतीय अन्वय-व्यतिरेकव्याप्तिसे निकाले जाते हैं।

व्यतिरेकविधि

अन्वय तथा अन्वय-व्यतिरेकविधियोंमें कार्यकारणकी सम्भावना ही निर्धारित की जा सकती है, पर उसके 'निश्चयीकरण' या सत्यताके लिए व्यतिरेक विधिकी आवश्यकता होती है। दूसरे शब्दोंमें हम यो कह सकते हैं कि अन्वय तथा अन्वय

1 If two or more instances of the phenomenon under investigation have only one circumstance in common the circumstance in which alone all the instances agree is the cause (or effect) of the given phenomenon
—System of Logic, By John Stuart Mill Longmans green and Co London, 1898, Page 255

2 If an instance in which the phenomenon under investigation occurs and an instance in which it does not occur, have every circumstance in common save one, that one occuring only in the former, the circumstance in which alone the two instances differ is the effect or the cause, or an indispensable part of the cause, of the phenomenon
—वही, पृष्ठ २५६।

व्यतिरेकविधियाँ निरीक्षणको ही व्यवहारमें लानेके कारण केवल कारणकार्यको सूचित कर सकती हैं, पर प्रमाणीकरणके लिए व्यतिरेकविधिकी आवश्यकता है। यह प्रयोगविधि है। अत प्रयोगात्मकरूपसे घटनाओका विश्लेषण कर कार्य-कारणसम्बन्धका परिज्ञान किया जाता है। इसी कारण इस विधिको सवश्रेष्ठ विधि कहा गया है।

इस विधिकी परिभाषामे बताया है—"यदि किसी एक भावात्मक उदाहरणमें एक परिघटक उपस्थित हो और फिर किसी एक अभावात्मक उदाहरणमें वह परिघटक न हो तथा इस एक परिघटकके अतिरिक्त दोनो उदाहरण सभी प्रकारसे एक समान हो तो वह परिघटक, जिसमें भावात्मक और अभावात्मक उदाहरण भेद है, कार्य या कारण अथवा आवश्यक कारणाश होता है।[1]" स्पष्टीकरणके लिए यो माना जा सकता है कि दो पात्र हैं, जो एक ही समान शीशेसे निर्मित हैं, क्षेत्र और वजन भी दोनोका समान है दोनोंमें एक ही प्रकारकी विद्युतघटिकाएँ भी लगी है, पर दोनोंमें अन्तर इतना ही है कि प्रथम पात्रमे वायु है और द्वितीयमे नही। अब हम देखते हैं कि उक्त अन्तरका परिणाम यह है कि प्रथम पात्रमें घण्टिकाकी ध्वनि सुनाई पडती है पर द्वितीयमें नही। इससे यह निष्कर्ष निकालना सहज है कि वायु शब्द सचारका विशेष कारणाश या आसन्न कारण है।

इस व्यतिरेकविधिकी तुलना भारतीय अनुमानके अङ्ग व्यतिरेकव्याप्तिसे की जा सकती है। वास्तवमे व्यतिरेकव्याप्ति ही, जिसे जैन तार्किकोने अन्तर्व्याप्ति या अन्यथानुपपत्ति कहा है और जिसपर ही सर्वाधिक भार दिया है, अविनाभाव सम्बन्धकी प्रतिरूप है। मिल (Mill) ने अपने उक्त सिद्धान्तमें अविनाभाव सम्बन्धका ही विश्लेषण किया है।

सहचारी वैविध्यविधि

कुछ ऐसे स्थायी कारण हैं जिनका अभावात्मक उदाहरण प्राप्त नही होता,

---

1 If two or more instances in which the phenomenon occurs have only one circumstance in common, while two or more instances in which it does not occur have nothing in common save the absence of that circumstance, the circumstance in which alone the two sets of instances differ is the effect or the cause, or an indispensable part of the cause of the phenomenon

—System of logic, Longmans green and co 1898, page 259

अध्याय : १ :

प्रथम परिच्छेद

जैन प्रमाणवाद और उसमें अनुमान का स्थान

अनुमानका विस्तृत विचार करनेसे पूर्व यह आवश्यक है कि प्रमाणके प्रयोजन, स्वरूप, भेद एवं परोक्ष प्रमाणपर भी विमर्श किया जाय, क्योंकि प्रमाणकी चर्चाके बिना अनुमानके स्वरूप आदिका स्पष्टीकरण सम्भव नहीं है। अतएव यहाँ प्रथमतः प्रमाणपर विचार किया जाता है।

(क) तत्त्व

तत्त्व, अर्थ, वस्तु और सत् ये चारों शब्द पर्यायवाची हैं। जो अस्तित्व स्वभाववाला है वह सत् है तथा तत्त्व, अर्थ और वस्तु ये तीनों अस्तित्व स्वभावसे बाहर नहीं हैं। इसलिए सत्का जो अर्थ है वही तत्त्व, अर्थ और वस्तुका है और जो अर्थ इन तीनोंका है वही सत्का है। निष्कर्ष यह कि ये चारों शब्द एकार्थक हैं। तत्त्व दो समूहोंमें विभक्त है—१ उपायतत्त्व और २ उपेयतत्त्व। उपायतत्त्व दो प्रकारका है[1]—१ ज्ञापक और २ कारक। ज्ञापक भी दो तरहका है—१ प्रमाण और २ प्रमाणाभास।

प्रमाण और प्रमाणाभासमें यह अन्तर है कि प्रमाण द्वारा यथार्थ जानकारी

---

1 'उपायतत्त्वं ज्ञापकं कारकं चेति द्विविधम्। तत्र ज्ञापकं स्वपरतत्त्वानुपायत्वार्थं ज्ञानं कारकं तूपायतत्त्वमुद्योगदैवादि।'
—अष्टस० टिप्प० पृ० २५६।

होती है, पर प्रमाणाभाससे नही। यही कारण है कि जब प्रमाणका विचार किया जाता है तो प्रमाणाभासकी भी मीमासा की जाती है।[1]

कारकतत्त्व वह है जो कार्यकी उत्पत्तिमें व्यापृत होता है। अर्थात कार्यके उत्पादक कारणोका नाम कारक है। प्रत्येक कार्यकी निष्पत्ति दो कारणोसे होती है—१ उपादान और २ निमित्त (सहकारी)। उपादान वह है जो स्वय कार्य-रूप परिणत होता है और निमित्त वह है जो उसमें सहायक होता है। उदाहरणार्थ घडेकी उत्पत्तिमें मृत्पिण्ड उपादान है और दण्ड, चक्र, चीवर, कुम्भकार प्रभृति निमित्त हैं। न्यायदर्शनमे इन दो कारणोके अतिरिक्त एक तीसरा कारण भी स्वीकृत है। वह है असमवायि। पर समवायिकारणगतरूपादि और संयोग-रूप होनेसे उसे अन्य सभी दर्शनोने उक्त दोनों कारणोंसे भिन्न नही माना।

उपेयतत्त्वके भी दो भेद हैं—१ ज्ञाप्य (ज्ञेय) और २ कार्य। जो ज्ञानका विषय होता है उसे ज्ञाप्य कहा जाता है और जो कारणो द्वारा निष्पाद्य या निष्पन्न है उसे कार्य

(ख) प्रमाणका प्रयोजन

प्रस्तुतमें हमारा प्रयोजन ज्ञापक उपायतत्त्व प्रमाणसे है।

जहाँ तक प्रमाणके विचारका प्रश्न है, इस तथ्यका कोई अस्वीकार नही कर सकता कि विश्वके प्राणियाकी, चाहे वे पशु पक्षी हो, कीडे-मकोडे हो या मनुष्य, इष्टानिष्ट वस्तुओके जाननेके लिए उसी प्रकार प्रवृत्ति (जिज्ञासा) पायी जाती है जिस प्रकार खाने पीने और भोगनेकी वस्तुओको प्राप्त करनेकी। इससे स्पष्ट है कि प्राणियोमें जाननेकी प्रवृत्ति (जिज्ञासा) स्वाभाविक है। मनुष्य इतर प्राणियोकी अपेक्षा अधिक बुद्धिमान और विचारशील है। अत उसके लिए आवश्यक है कि उसे इष्टानिष्ट अथवा ज्ञातव्य वस्तुओका ज्ञान अभ्रान्त हो। प्रमाणकी जिज्ञासा मनुष्यमें सम्भवत इसीसे जागृत हुई होगी। यही कारण है कि प्रमाण-की मीमासा न केवल अध्यात्मप्रधान भारतके मनीषियो द्वारा ही की गयी है अपितु विश्वके सभी विचारको एव दार्शनिकोंने भी की है। आचार्य माणिक्य-नन्दि[2] प्रमाणका प्रयोजन बतलाते हुए स्पष्ट लिखते हैं कि प्रमाणसे पदार्थोका

---

१ प्रमाणादर्थससिद्धिस्तदाभासाद्विपर्यय ।
इति वक्ष्ये तयोर्लक्ष्म सिद्धमल्प लघीयस ॥
—माणिक्यनन्दि, परी० मु०, प्रतिज्ञा श्लोक १।

२ वही, प्रतिज्ञाश्लोक १।

सम्यक् ज्ञान और सम्यक् प्राप्ति होती है, पर प्रमाणाभाससे नहीं। आचार्य विद्यानन्दने[1] भी इसी तथ्यको व्यक्त किया है।

(ग) अन्य तार्किकों द्वारा अभिहित प्रमाणका स्वरूप

प्रमीयते येन तत्प्रमाणम्' इस व्युत्पत्तिके अनुसार प्रमाण वह है जिसके द्वारा वस्तु प्रमित हो, अर्थात् सही रूपमें जानी जाए। प्रश्न है कि सही जानकारी किसके द्वारा होती है ? इस प्रश्नपर प्रायः सभी प्रमाणशास्त्रियोंने विचार किया है। कणादने[2] बतलाया है कि प्रमाण (विद्या) वह है जो निर्दोष ज्ञान है। गौतमके न्यायसूत्रमें प्रमाणका लक्षण उपलब्ध नहीं होता, पर उनके भाष्यकार वात्स्यायनने[3] अवश्य 'प्रमाण' शब्दसे फलित होनेवाले उपलब्धिसाधन (प्रमाकरण) को प्रमाण सूचित किया है। उद्योतकर[4], जयन्तभट्ट[5] आदि नैयायिकोंने वात्स्यायन द्वारा सूचित उपलब्धि साधनरूप प्रमाकरणको ही प्रमाणलक्षण स्वीकृत किया है।

यद्यपि उदयनने[6] यथार्थानुभवको प्रमा कहा है। पर वह उन्हें ईश्वर-प्रमाका ही लक्षण अभिप्रेत है। ज्ञात होता है कि अनुभूतिको प्रमाण माननेवाले मीमांसक प्रभाकरका यह उनपर प्रभाव है, क्योंकि उदयनके पूर्व न्यायपरम्परामें प्रमाणसामान्यके लक्षणमें 'अनुभव' पदका प्रवेश उपलब्ध नहीं होता। उनके पश्चात् तो विश्वनाथ[7], केशव मिश्र[8], अन्नम्भट्ट[9] प्रभृति नैयायिकोंने अनुभवघटित ही प्रमाणका लक्षण किया है।

---

१ प्रमाणादिष्टसंसिद्धिरन्यथातिप्रसंगतः ।
—विद्यानन्द, प्र० प० पृष्ठ ६३ ।

२ 'अदुष्टं विद्या' । —वैशे० सू० ९।२।१२ ।

३ न्यायभा० १।१।३, पृ० १६ ।

४ न्यायवा० १।१।३, पृ० ५ ।

५ प्रमीयते येन तत्प्रमाणमिति करणार्थाभिधानो प्रमाणशब्दात् प्रमाकरणं प्रमाणमवगम्यते ।
—न्यायमं० पृष्ठ २५ ।

६ यथार्थानुभवो मानमनपेक्षतयेष्यते ।
—उदयन, न्यायकुसु० ४।१ ।

७ बुद्धिस्तु द्विविधा मता । अनुभूतिः स्मृतिश्च स्यादनुभूतिश्चतुर्विधा ॥
—विश्वनाथ, सिद्धान्तमु० का० ५१ ।

८ का पुनः प्रमा, यस्याः करणं प्रमाणम् ? उच्यते—यथार्थानुभवः प्रमा ।
—केशवमिश्र तर्कभा० पृ० १४ ।

९ अन्नम्भट्ट, तर्कस० पृष्ठ ३२ ।

मीमासक मनीषी कुमारिल भट्टने प्रमाणका लक्षण बतलाते हुए कहा है कि जो अपूर्वार्थविषयक, निश्चित, बाधाओंसे रहित, निर्दोष कारणोसे उत्पन्न और लोकसम्मत है वह प्रमाण है। इस प्रकार उन्होंने प्रमाणलक्षणमें पाच विशेषणोका निवेश किया है। यथा—

> तत्रापूर्वार्थविज्ञान निश्चित बाधवर्जितम्।
> अदुष्टकारणारब्ध प्रमाण लोकसम्मतम्[1]॥

पिछले सभी भाट्ट मीमासकोने इसी लक्षणको मान्यता दी है। दूसरे दार्शनिकोकी[2] आलोचनाका विषय भी यही लक्षण रहा है।

मीमासकपरम्पराके दूसरे सम्प्रदायके प्रभाकरने[3] अनुभूतिको प्रमाण कहा है और शालिकानाथ आदिने उसका समर्थन किया है।

साख्यदर्शनमें ईश्वरकृष्ण[4] आदि विद्वानो द्वारा इन्द्रियवृत्तिको प्रमाण बतलाया गया है।

बौद्ध दर्शनमें अज्ञातार्थके प्रकाशक ज्ञानको प्रमाण माना गया है।[5] दिङ्नागने[6] विषयाकार अर्थनिश्चय और स्वसवित्तिको प्रमाणका फल कहकर उन्हे ही प्रमाण कहा है, क्योंकि इस दर्शनमें प्रमाण और फलको अभिन्न स्वीकार किया गया है।

---

१ यह श्लोक ग्रन्थकारोंने कुमारिलकर्तृक माना है। पर वह उनके वर्तमान मीमासा श्लोकवार्तिकमें उपलब्ध नही है। हो सकता है यह प्रतिलिपिकारों द्वारा छूट गया हो या उनके किसी अन्य ग्रन्थका हो, जो आज अनुपलब्ध है। —ले०।

२ विद्यानन्द, त० श्लोक० १।१०।७२।

३ अनुभूतिश्च न प्रमाणम्।
—प्रभाकर, बृहती १।१।५।

४ (क) रूपादिषु पचानामालोचनमात्रमिष्यते वृत्ति।
—साख्यका० २८।

(ख) बुद्धिरहकारो मन चक्षु इत्येतानि चत्वारि युगपद् रूप पश्यन्ति, अय स्थाणु अयं पुरुष इति एवमेषा युगपच्चतुष्टयस्य वृत्ति क्रमशश्च ।
—माठर वृ० ४७।

(ग) इन्द्रियप्रणालिकया अर्थसन्निकर्षेण लिङ्गज्ञानादिना वा आद्यौ बुद्धे. अर्थाकारा वृत्ति जायते।
—पातञ्जल० भा० पृ० ४७। योगद० व्यासभाष्य पृ० २७ तत्त्व योगवा० पृ० ३०।

५ अज्ञातार्थज्ञापक प्रमाणमिति प्रमाणसामान्यलक्षणम्। —प्र० स० टी० ३, पृ११।

६ स्वसवित्ति फलं चात्र तद्रूपादर्थनिश्चय । विषयाकार एवास्य प्रमाणं तेन मीयते॥
—वही, १।१०।

धर्मकीर्ति[1] ने 'अविसंवादि' पद और जोड़कर दिङ्नागके प्रमाणलक्षणको प्रायः परिष्कृत किया है। तत्त्वसंग्रहकार शान्तरक्षितने[2] सारूप्य—तदाकारता और योग्यताको प्रमाणका लक्षण बतलाया है, जो एक प्रकारसे दिङ्नाग और धर्मकीर्तिके प्रमाण सामान्यलक्षणका ही फलितार्थ है। इस तरह बौद्ध-दर्शनमें स्वसंवेदी अज्ञातार्थज्ञापक अविसंवादि ज्ञानको प्रमाण स्वीकार किया है।

(घ) जैन चिन्तकों द्वारा प्रमाणस्वरूप विमर्श

जैन परम्परामें प्रमाणका क्या लक्षण है? आरम्भमें उसका क्या रूप रहा और उत्तरकालमें उसका किस तरह विकास हुआ? इत्यादि प्रश्नोंपर यहाँ विचार प्रस्तुत है।

१. समन्तभद्र और सिद्धसेन

सर्वप्रथम स्वामी समन्तभद्रने प्रमाणका लक्षण निबद्ध किया है, जो इस प्रकार है—

स्वपरावभासकं यथा प्रमाणं भुवि बुद्धिलक्षणम्।[3]

जो ज्ञान अपना और परका अवभास कराये वह प्रमाण है। जो केवल अपना या केवल परका अवभास कराता है वह ज्ञान प्रमाणकोटिमें सम्मिलित नहीं है। प्रमाणकोटिमें वही ज्ञान समाविष्ट हो सकता है जो अपनेको जाननेके साथ परको और परको जाननेके साथ अपनेको भी अवभासित करता है। और तभी उसमें सम्पूर्णता आती है।

सिद्धसेनने समन्तभद्रके उक्त लक्षणको अपनाते हुए उसमें एक विशेषण और दिया है। वह है 'बाधविवर्जितम्'[4]।

यद्यपि 'स्वरूपस्य स्वतो गतिः'[5], 'स्वरूपाधिगतेः परम्'[6] आदि प्रतिपादना द्वारा विज्ञानाद्वैतवादी बौद्ध प्रमाणको स्वसंवेदी स्वीकार करते हैं तथा 'अज्ञातार्थ

---

१ प्रमाणमविसंवादि ज्ञानम्, अर्थक्रियास्थितिः ।
अविसंवादनम्, ॥
—धर्मकीर्ति प्रमाणवा० २-१, पृष्ठ ७९।

२ विषयाधिगतिश्चात्र प्रमाणफलमिष्यते । स्ववित्तिर्वा प्रमाणं तु सारूप्यं योग्यताऽपि वा ।
—शान्तरक्षित, तत्त्वसं० का० १३४४।

३ स्वयं० स्तो० का० ६३।

४ प्रमाणं स्वपराभासि ज्ञानं बाधविवर्जितम् ।
—न्यायाव०, का० १।

५ धर्मकीर्ति प्रमाणवा० २।४।

६ वही, २।५।

ज्ञापक प्रमाणम्[1], 'अज्ञातार्थप्रकाशो वा'[2], 'प्रमाणमविसवादि ज्ञानमर्थक्रिया स्थिति[3]' आदि कथनो द्वारा सौत्रान्तिक (बहिरर्थाद्वैतवादी) बौद्ध उसे केवल परसवेदी मानते ह। पर किसी भी तार्किकने प्रमाणको स्व और पर दोनोका एक साथ प्रकाशक नही माना। जन तार्किकाने ही प्रमाणको स्व और पर दोनोका एक साथ ज्ञापक स्वीकार किया है। उनका मन्तव्य ह कि ज्ञान चमचमाता हीरा अथवा ज्योतिपुञ्ज दीपक ह जो अपनेको प्रकाशित करता हुआ उसी कालमें योग्य बाह्य पदार्थोंको भी प्रकाशित करता हैं। और यह स्वपरप्रकाशक यथाथ ज्ञान ही प्रमाण है। प्रमाणकी व्युत्पत्ति द्वारा हम देख चुके हैं कि 'प्रमायतेऽनन प्रमाणम्'— जिसके द्वारा प्रमा—अज्ञाननिवृत्ति हो वह प्रमाण है। नयायिक यह प्रमा सन्निकर्ष-से मानते हैं। अत उनके अनुसार सन्निकर्ष प्रमाण है। वैशेषिकोका भी यही मत ह। साख्य इन्द्रियवृत्तिसे, मीमासक इन्द्रियसे, बौद्ध सारूप्य एव योग्यतासे प्रमिति स्वीकार करते हैं, अत उनके यहाँ क्रमश इन्द्रियवृत्ति, इन्द्रिय और सारूप्य एव योग्यताको प्रमाण माना गया है। समन्तभद्रने स्वपरावभासक ज्ञानको प्रमाण प्रतिपादन करके उक्त मतोको अस्वीकार किया ह।

पूज्यपाद

पूज्यपादने[4] समन्तभद्रका अनुसरण तो किया ही। साथमें सन्निकर्ष और इन्द्रियप्रमाण सम्बन्धी मान्यताओंकी समीक्षा भी प्रस्तुत की है। उनका कहना ह कि सन्निकर्ष या इन्द्रियका प्रमाण माननेपर सूक्ष्म, व्यवहित और विप्रकृष्ट पदार्थोंके साथ इन्द्रियोका सन्निकर्ष सम्भव न होनेमे उनका ज्ञान असम्भव है। फलत सवज्ञताका अभाव हो जाएगा। दूसरे, इन्द्रियाँ अल्प—केवल मात्र स्थूल, और वतमान एव आसन्न विषयक हैं और ज्ञेय (सूक्ष्म, व्यवहितादिरूप) अपरिमित हैं। ऐसी स्थितिमें इन्द्रियोसे समस्त ज्ञेयो (अतीत अनागतो) का ज्ञान कभी नही हो सकता। तीसरे, चक्षु और मन ये दोना अप्राप्यकारी होनेके कारण सभी इन्द्रियोंका पदार्थोंके साथ सन्निकर्ष भी सम्भव नही हैं। चक्षु स्पृष्टका ग्रहण न करने और योग्य दूर स्थितका ग्रहण करनेमे अप्राप्यकारी ह।[5] यदि चक्षु अप्रा-

---

१ दिङ्नाग, प्र० समु० (स्वोपज्ञवृ०) १।

२ प्रमाणवा० २।५।

३ वही, २।१।

४ पूज्यपाद, सर्वा० सि० १।१०।

५ (क) अप्राप्यकारि चक्षु स्पृष्टानवग्रहात्। यदि प्राप्यकारि स्यात् त्वगिन्द्रियवत् स्पृष्ट मजन गृह्णीयात् न तु गृह्णात्यतो मनोवदप्राप्यकारीति।
—स० सि० १।१९, पृष्ठ ११६।
(ख) अकलंक त० वा० १।१९, पृ० ६७ ६८,।
(ग) डा० महेन्द्रकुमार जैन, जैन दशन पृष्ठ २७०।

स्थलोंपर[1] दिये हैं। इन लक्षणोंमें मूल आधार तो आत्मार्थग्राहकत्व एवं स्वर सामान्यत्व ही है, पर उनमें अर्थके विशेषणरूपसे कहीं उन्होंने 'अनधिगत', और कहीं 'अनिर्णीत' पदको दिया है। तथा कहीं ज्ञानके विशेषणरूपसे 'अविसंवादि'[2] पदको भी रखा है। ये पद कुमारिल तथा धर्मकीर्तिसे लिये गये हों तो कोई आश्चर्य नहीं, क्योंकि उनके प्रमाणलक्षणोंमें ये पद पहलेसे निहित हैं।[3] 'अविसंवादि' पद तो धर्मकीर्तिसे पूर्व जैन चिन्तक पूज्यपादने भी सर्वार्थसिद्धि (१ १२) में दिया है।

विद्यानन्द

विद्यानन्दने यद्यपि संक्षेपमें 'सम्यग्ज्ञान'को[4] प्रमाण कहा है, जो आचार्य गृद्धपिच्छके[5] अनुसरणको व्यक्त करता है। पर पीछे उसे उन्होंने 'स्वार्थव्यवसायात्मक[6]' भी सिद्ध किया है। इस प्रकार उनके प्रमाणलक्षणमें अकलंककी तरह 'अनधिगत' विशेषण प्राप्त नहीं है। फिर भी उन्हें सम्यग्ज्ञानको अनधिगतार्थविषयक या अपूर्वार्थविषयक मानना अनिष्ट नहीं है। अकलंककी तरह उन्होंने भी स्मृत्यादिप्रमाणोंमें अपूर्वार्थताका स्पष्टतया समर्थन किया है।[7] वे उसकी प्रमाणता में अपूर्वार्थताको प्रयोजक बतलाते हैं। प्रमाणके सामान्यलक्षणमें जो उन्होंने 'अपू

१,२, प्रमाणमविसंवादि ज्ञानम्, अनधिगतार्थाधिगमलक्षणत्वात्।

—अष्टश० आ० मी० का० ३६, पृष्ठ २२। तथा देखिए 'अनिश्चित और अनिर्णीत' पदों के लिए इसी ग्रन्थका १००वाँ का० या अ० श०।

३ (क) तत्रापूर्वार्थविज्ञानं ।—कुमारिल।

(ख) प्रमाणमविसंवादि ज्ञानम् ।—धर्मकीर्ति, प्र० वा० २।१।

४ सम्यग्ज्ञानं प्रमाणम्।

—प्र० प० पृष्ठ ५१।

५ त० सू० १।९, १०।

६. किं पुनः सम्यग्ज्ञानम्? अभिधीयते—स्वार्थव्यवसायात्मकं सम्यग्ज्ञानं सम्यग्ज्ञानत्वात्।

—प्र० प० पृष्ठ ५३।

७ (क) सकलदेशकालव्याप्तसाध्यसाधनसम्बन्धोहापोहलक्षणो हि तर्कः प्रमाणयितव्यः, तस्य क्वचिदपूर्वार्थत्वात्।'

—प्र० प० पृष्ठ ७०।

(ख) स्मृतिः प्रमाणान्तरमुक्तं न चासावप्रमाणमेव संवादकत्वात् क्वचिदपूर्वार्थग्राहित्वात्।

—प्र० प० पृष्ठ ६७।

(ग) गृहीतग्रहणात्तर्कोऽप्रमाणमिति चेन्न वै। तस्यापूर्वार्थवेदित्वादुपयोगविशेषतः ॥

—त० श्लो० १।१३।९०, पृष्ठ १९४।

र्थाय' या 'अनधिगत' विशेषणका निवेश नही किया उसका इतना ही तात्पय है कि प्रत्यक्ष तो अपूर्वार्थग्राही होता ही है और अनुमानादि भी प्रत्यक्षादिसे अगृहीत देशकालादिविशिष्ट वस्तुको विषय करनेसे अपूर्वार्थ ग्राहक सिद्ध हो जाते हैं। विद्यानन्दने जिस अपूर्वार्थकी समीक्षा की ह वह कुमारिलका अभिप्रेत सर्वथा अपूर्वार्थ है,[1] कथंचिद अपूर्वार्थ नही। कथचिद् अपूर्वार्थ तो उन्हें इष्ट है।

माणिक्यनन्दि

विद्यानन्दके परवर्ती माणिक्यनन्दिने[2] अकलक तथा विद्यानन्द द्वारा स्वीकृत और समर्थित समन्तभद्रोक्त लक्षणको ही अपनाया है। उन्होंने समन्तभद्रका 'स्व' पद ज्यो-का-त्यो रहने दिया और 'अर्थ' तथा 'व्यवसायात्मक' पदोको लेकर एव अर्थके विशेषण रूपसे 'अपूर्व' पदको उसमें जोडकर 'स्वापूर्वार्थव्यवसायात्मक ज्ञान प्रमाणम्' प्रमाणलक्षण सृजित किया है। यद्यपि 'अपूर्वार्थ' विशेषण कुमारिल के प्रमाणलक्षणमें हम देख चुके है तथापि वह अकलक और विद्यानन्द द्वारा 'कथचिद् अपूर्वार्थ' के रूपमें जन परम्परामें भी प्रतिष्ठित हो चुका था। माणिक्यनन्दि ने उसे ही अनुसृत किया ह। माणिक्यनन्दिका यह प्रमाणलक्षण इतना लोकप्रिय हुआ कि उत्तरवर्ती अनेक जैन तार्किकोने उस ही कुछ आंशिक परिवर्तनके साथ अपने तर्कग्रन्थोमें मूर्धन्य स्थान दिया है।

देवसूरि

देवसूरिने[3] अपना प्रमाणलक्षण प्राय माणिक्यनन्दिके प्रमाणलक्षणके आधारपर लिखा है।

हेमचन्द्र

हेमचन्द्रने[4] उक्त लक्षणोस भिन्न प्रमाणलक्षण अंकित किया है। इसमे उन्होंने 'स्व' पदका समावेश नही किया। उसका कारण बतलाते हुए वे कहते ह[5] कि

---

१ त० श्लोक० १।१०।७७, ७८, ७९।

२ स्वापूर्वार्थ व्यवसायात्मकं ज्ञान प्रमाणम्।
—प० मु० १।१।

३ स्वपरव्यवसायिज्ञान प्रमाणमिति।
—प्र० न० त० १।२।

४ सम्यगर्थनिर्णय प्रमाणम्।
—प्र० मी०, १।१।२।

५. स्वनिर्णय सन्नप्यलक्षणम्, अप्रमाणेऽपि भावात्। न हि काचिद् ज्ञानमात्रा सास्ति या न स्वसंविदिता नाम। ततो न स्वनिर्णयो लक्षणमुक्तोऽस्माभि, वृद्धैस्तु परीक्षार्थमुपक्षिप्त।
—प्र० मी०, १।१।३, पृ० ४।

'स्वनिर्णय' होता अवश्य है किन्तु वह प्रमाण अप्रमाण सभी ज्ञानोंका सामान्य धर्म है। अतः उसे प्रमाण लक्षणमें निविष्ट नहीं किया जा सकता। कोई ज्ञान ऐसा नहीं जो स्वसंवेदी न हो। अतएव हमने उसे प्रमाणका लक्षण नहीं कहा। वृद्धोंने जो उसे प्रमाणलक्षण माना है वह केवल परीक्षा अथवा स्वरूप प्रदर्शनके लिए हो। हेमचन्द्रने प्रमाणलक्षणमें 'अपूर्व' पदको भी अनावश्यक बतलाया है। गृह्यमाण अर्थके ग्राहक ज्ञानकी तरह गृहीत अर्थके ग्राही ज्ञानको भी प्रमाण माननेमें वे कोई बाधा नहीं देखते। यह ध्यान देने योग्य है कि श्वेताम्बर परम्पराके जैन तार्किकोंने प्रमाणलक्षणमें 'अपूर्व' विशेषण स्वीकार नहीं किया।[1]

धर्मभूषण

अभिनव धर्मभूषणने[2] विद्यानन्दकी तरह सम्यग्ज्ञानको ही प्रमाणका लक्षण प्रतिपादन किया है। पर उन्होंने उसका समर्थन एवं दोष परिहार माणिक्यनन्दिके 'स्वापूर्वार्थव्यवसायात्मकं ज्ञानं प्रमाणम्' इस प्रमाणलक्षणके आलोकमें ही किया है। तथ्य यह है कि वे समन्तभद्रके लक्षणको भी स्मरण रखते हैं।[3] इस तरह धर्मभूषणने प्रमाणके लक्षणको सविकल्पक, अगृहीतग्राही एवं स्वार्थव्यवसायात्मक सिद्ध किया है तथा धर्मकीर्ति, प्रभाकर, भाट्ट और नैयायिकोंके प्रमाणलक्षणोंकी समालोचना की है।[4]

निष्कर्ष

उपर्युक्त विवेचनसे हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि जैन परम्परामें सम्यग्ज्ञानको प्रमाण माना है और उसे स्वपरव्यवसायात्मक बतलाया गया है। कुछ ग्रन्थकार उसमें 'अपूर्व' विशेषणका भी निवेश करके उसे अगृहीतग्राही प्रकट करते हैं। उनका मत है कि जितने भी प्रमाण हैं वे सब नये (अनिश्चित एवं समारोपित) विषयका ग्रहण करके अपनी विशेषता स्थापित करते हैं। स्मृति, प्रत्यभिज्ञा, तर्क, अनुमान और आगम ये वस्तुके उन अंशोंको ग्रहण करते हैं जो पूर्वज्ञानोंसे अगृहीत रहते हैं। उदाहरणार्थ अनुभवके पश्चात् होने वाली स्मृति भूत, भविष्यत् और वर्तमान कालोंमें व्याप्त वस्तुके अतीत अंशको विषय करती है जब कि अनुभव वर्तमान वस्त्वंशको। स्मरण रहे कि अंशके साथ अंशी अनुस्यूत रहता है। यही प्रत्यभिज्ञा आदिकी स्थिति है। अतः ये

---

१ गृह्यमाणग्राहिण इव गृहीतग्राहिणोऽपि नाप्रामाण्यम्।
—प्र० मी०, १।१।४, पृ० ४।

२ सम्यग्ज्ञानं प्रमाणम्।
—न्या० दी० पृष्ठ ९।

३ ज्ञानं तु स्वपरावभासकं प्रदीपादिवत्प्रतीतम्।
—वही पृष्ठ १२ १।१३।

४. वही पृष्ठ १८-२२।

ग्रन्थकार प्रमाणलक्षणमें 'अपूर्व', 'अनधिगत', 'अनिश्चित', 'अनिर्णीत' और 'अज्ञात' जैसा विशेषण आवश्यक समझते हैं। इस श्रेणीमें अकलङ्क, विद्यानन्द, माणिक्यनन्दि, प्रभाचन्द्र और धर्मभूषण प्रभृति विद्वान् हैं। पर कतिपय ग्रन्थ-लेखक उक्त पदको आवश्यक नहीं समझते। इनका मन्तव्य है कि प्रमाण गृहीत-ग्राही भी रहे तो उससे उसका प्रामाण्य समाप्त नहीं होता।[1] यह विचार देवसूरि, हेमचन्द्र प्रभृति तार्किकोंका है। इतना तथ्य है कि प्रमाणको 'स्वार्थव्यवसाया-त्मक' सभीने स्वीकार किया है।

(घ) प्रमाण-भेद

उक्त प्रमाण कितने प्रकारका है और उसके भेदोंका सर्वप्रथम प्रतिपादन करनेवाली परम्परा क्या है? दार्शनिक ग्रन्थोंका आलोडन करनेपर ज्ञात होता है कि प्रमाणके प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द इन चार भेदोंकी परिगणना करनेवाले न्यायसूत्रकार गौतमसे भी पूर्व प्रमाणके अनेक भेदोंकी मान्यता रही है, क्योंकि उन्होंने ऐतिह्य, अर्थापत्ति, सम्भव और अभाव इन चारका स्पष्ट रूपमें उल्लेख करके उनको अतिरिक्त प्रमाणताकी समीक्षा की है तथा शब्दमें ऐतिह्यका और अनुमानमें शेष तीनका अन्तर्भाव प्रदर्शित किया है।[2] प्रशस्तपादने प्रत्यक्ष और अनुमान इन दो प्रमाणोंका ही समर्थन करते हुए उल्लिखित शब्द आदि प्रमाणोंका[3] इन्हीं दोमें समावेश किया है। तथा चेष्टा, निर्णय, आर्ष (प्रातिभ) और सिद्धदर्शनको भी इन्हींके अन्तर्गत सिद्ध किया है।[4]

प्रशस्तपादसे पूर्व कणादने प्रत्यक्ष और लैङ्गिकके अतिरिक्त अन्य प्रमाणोंकी कोई सम्भावना या गौतमकी तरह उनके समावेशादिकी चर्चा नहीं की। इससे प्रतीत होता है कि प्रमाणके उक्त दो भेदोंकी मान्यता प्राचीन है। चार्वाकके[5] मात्र अनुमान समीक्षण और केवल एक प्रत्यक्षके समर्थनसे भी यही अवगत होता है। जो हो, इतना तथ्य है कि प्रत्यक्ष और अनुमान इन दोको वैशेषिकों और

१ गृह्णीष्यमाणग्राहिण इव गृहीतग्राहिणोऽपि नाप्रामाण्यम्।
—प्र० मी०, १।१।४, पृष्ठ ४।

२ न चतुष्ट्वम्, ऐतिह्यार्थापत्तिसम्भवाभावप्रामाण्यात्। शब्द ऐतिह्यानर्थान्तरभावादनुमानेऽर्थापत्तिसम्भवाभावानर्थान्तरभावाच्चाप्रतिषेधः।
—न्या० सू० २।२।१ २।

३ शब्दादीनामप्यनुमानेऽन्तर्भावः समानविधित्वात्।
—प्रश० भा० पृष्ठ १०६ १११।

४ वही, पृष्ठ १२७ १२९।

५ माधवाचार्य, सर्वद० सं० (चार्वाकदर्शन), पृष्ठ ३।

६ तयोर्निष्पत्तिः प्रत्यक्षलैंगिकाभ्याम्।
—कणाद, वै० सू० १०।१।३।

बौद्धोंने[1], प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द इन तीनको सांख्योंने[2], उपमान सहित चारको नैयायिकोंने[3] और अर्थापत्ति तथा अभाव सहित छह प्रमाणोंको जैमिनीयों (मीमांसकों)ने[4] स्वीकार किया है। आगे चलकर जैमिनीय दो सम्प्रदायोंमें विभक्त हो गये—१ भाट्ट और २ प्राभाकर। भाट्टोंने तो छहों प्रमाणोंको मान्य किया। पर प्राभाकरोंने अभावको छोड़ दिया तथा शेष पाँच प्रमाणोंको स्वीकार किया। इसीसे भाट्ट मीमांसक छह प्रमाणवादी और प्राभाकर पाँच प्रमाणवादीके रूपमें विश्रुत हैं। इस तरह विभिन्न दर्शनोंमें प्रमाणभेदकी मान्यताएँ उपलब्ध होती हैं।[5]

(ङ) जैन न्यायमें प्रमाणके भेद

जैन न्यायमें प्रमाणके सम्भाव्य भेदोंपर विस्तृत ऊहापोह उपलब्ध है। श्वेताम्बर परम्पराके भगवतीसूत्रमें[6] चार प्रमाणोंका उल्लेख है—१ प्रत्यक्ष, २ अनुमान, ३ उपमान और ४ आगम। इसी प्रकार स्थानांगसूत्रमें[7] प्रमाणशब्दके स्थानमें हेतुशब्दका प्रयोग करके उसके उपर्युक्त प्रत्यक्षादि चार भेदोंका निर्देश किया गया है। प्राचीन कालमें हेतुशब्द प्रमाणके अर्थमें भी प्रयुक्त होता था। चरकमें[8] हेतुशब्दसे प्रमाणोंका निर्देश हुआ है। इसके अतिरिक्त उपायहृदयमें[9] भी 'एवं चत्वारो

---

१ प्रत्यक्षमनुमानं च प्रमाणं हि द्विलक्षणम्।
प्रमेयं तत्प्रयोगाय न प्रमाणान्तरं भवत्॥
—दिङ्नाग प्र० स० (प्र० परि०) का० २, पृ० ४।

२ दृष्टमनुमानमाप्तवचनं च सर्वप्रमाणसिद्धत्वात्।
त्रिविधं प्रमाणमिष्टं प्रमेयसिद्धिः प्रमाणाद्धि॥
—ईश्वरकृष्ण सांख्यका० ४।

३ प्रत्यक्षानुमानोपमानशब्दाः प्रमाणानि।
—गौतम अक्षपाद, न्यायसू० १।१।३।

४ शाबरभा० १।१।५।

५ जैमिनेः षट् प्रमाणानि चत्वारि न्यायवादिनः।
सांख्यस्य त्रीणि वाच्यानि द्वे वैशेषिकबौद्धयोः॥
—अनन्तवीर्य, प्रमेयरत्न० २।२ के टिप्पणमें उद्धृत पद्य पृ० ४१।

६ 'अहवा हेऊ चउव्विहे पण्णत्ते, तं जहा—पच्चक्खे अणुमाणे ओवम्मे आगमे।'
—स्था० सू० ३३८।

७. 'गोयमा—से किं तं पमाणे? पमाणे चउव्विहे पण्णत्ते—तं जहा पच्चक्खे अणुमाणे ओवम्मे आगमे जहा अणुओगद्दारे तहा णेयव्वं पमाणं।
भ० सू० ५।३।१९१ १९२।

८ अथ हेतुर्नाम उपलब्धिकारणं तत् प्रत्यक्षमनुमानमैतिह्यमौपम्यमिति।
—चरक० विमानस्थान अ० ८, सू० ३३।

९ उपायहृदय पृ० १४।

हेतव' कह कर प्रमाणोंको हेतु कहा है। स्थानांगसूत्रमें[1] एक दूसरी जगह व्यवसायके तीन भेदों द्वारा प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम इन तीन प्रमाणोंका भी कथन किया है। सम्भव है सिद्धसेन[2] और हरिभद्रके[3] तीन प्रमाणोंकी मान्यताका आधार यही स्थानांग हो। श्री दलसुख मालवणियाका[4] मन्तव्य है कि उपर्युक्त चार प्रमाण नैयायिकादिसम्मत और तीन प्रमाण सांख्यादिस्वीकृत परम्परामूलक हों तो आश्चर्य नहीं। इस प्रकार भगवतीसूत्र और स्थानाङ्गमें चार और तीन प्रमाणोंका उल्लेख है, जो लोकानुसरणका सूचक है।

पर आगमोंमें मूलतः ज्ञान मीमांसा ही प्रस्तुत है। षट्खण्डागममें[5] विस्तृत ज्ञान मीमांसा दी गयी है। वहाँ तीन प्रकारके मिथ्याज्ञानों और पाँच प्रकारके सम्यग्ज्ञानोंका निरूपण किया गया है तथा उन्हें वस्तुपरिच्छेदक बताया गया है। यद्यपि वहाँ प्रमाण और प्रमाणाभास शब्द अथवा उस रूपमें विभाजन दृष्टिगोचर नहीं होता। पर एक वर्गके ज्ञानोंको सम्यक् और दूसरे वर्गके ज्ञानोंको मिथ्या प्रतिपादित करनेसे अवगत होता है कि जो ज्ञान सम्यक् कहे गये हैं वे सम्यक् परिच्छित्ति करानेसे प्रमाण तथा जिन्हें मिथ्या बताया गया है वे मिथ्या ज्ञान करानेसे अप्रमाण (प्रमाणाभास) इष्ट हैं। हमारे इस कथनकी सम्पुष्टि तत्त्वार्थसूत्रकारके निम्न प्रतिपादनसे भी होती है—

मतिश्रुतावधिमनःपर्ययकेवलानि ज्ञानम्।[6] तत्प्रमाणे।[7]

मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय और केवल ये पाँच ज्ञान सम्यग्ज्ञान हैं और वे प्रमाण हैं।

आशय यह कि षट्खण्डागममें प्रमाण और प्रमाणाभासरूपसे ज्ञानोंका

---

१ 'तिविहे ववसाए पण्णत्ते—तं जहा पच्चक्खे पच्चनिते आणुगमिए।'
—स्था० सू० १८५।

२ न्यायाव० का० ८।

३ अने० ज० टी० पृ० १४२, २१५।

४ आगमयुगका जैनदर्शन पृ० १३६-१३८।

५ णाणाणुवादेण अत्थि मदि अण्णाणी सुद-अण्णाणी विभंग णाणी आभिणिबोहिय णाणी सुदणाणी ओहि णाणी मणपज्जव णाणी केवलणाणी चेदि। (ज्ञानकी अपेक्षा मति अज्ञान, श्रुत अज्ञान विभंगज्ञान आभिनिबोधिकज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञान ये आठ ज्ञान हैं। इनमें आदिके तीन ज्ञान मिथ्याज्ञान और अन्तिम पाँच ज्ञान सम्यग्ज्ञान हैं।)
—भूतबली पुष्पदन्त, षट्ख० १।१।१५।

६, ७ गृद्धपिच्छ, त० सू० १।९,१०।

विवेचन न होनेपर भी उस समयकी प्रतिपादनशैलीके[1] अनुसार जो उसमें पाँच ज्ञानोंको सम्यग्ज्ञान और तीन ज्ञानोंको मिथ्याज्ञान कहा गया है वह प्रमाण तथा प्रमाणाभासका अवबोधक है। राजप्रश्नीय, नन्दीसूत्र और भगवतीसूत्रमें भी ज्ञान मीमांसा पायी जाती है। इस प्रकार सम्यग्ज्ञान या प्रमाणके मति श्रुत आदि पाँच भेदोंकी परम्परा आगममें उपलब्ध होती है।

पर इतर दर्शनोंके लिए वह अज्ञात एवं अलौकिक जैसी रही, क्योंकि अन्य दर्शनोंके प्रमाण निरूपणके साथ उसका मेल नहीं खाता। अतः ऐसे प्रयत्नकी आवश्यकता थी कि आगमका समन्वय भी हो जाए और अन्य दर्शनोंके प्रमाण-निरूपणके साथ उसका मेल भी बैठ जाए। इस दिशामें सर्वप्रथम दार्शनिकरूपमें तत्त्वार्थसूत्रकारने समाधान प्रस्तुत किया।[2] उन्होंने तत्त्वार्थसूत्रमें ज्ञानमीमांसाको निबद्ध करते हुए स्पष्ट कहा[3] कि जो मति आदि पाँच ज्ञानरूप सम्यग्ज्ञान वर्णित है वह प्रमाण है और मूलमें वह दो भेदरूप है—१ प्रत्यक्ष और २ परोक्ष। अर्थात् आगममें जिन पाँच ज्ञानोंको सम्यग्ज्ञान कहा गया है वे प्रमाण हैं तथा उनमें मति और श्रुत ये दो ज्ञान परसापेक्ष होनेसे परोक्ष तथा अवधि, मनःपर्यय और केवल ये तीन परसापेक्ष न होने एवं आत्ममात्रकी अपेक्षासे होनेके कारण प्रत्यक्ष प्रमाण हैं। आचार्य गृद्धपिच्छकी यह प्रमाणद्वययोजना इतनी विचारयुक्त तथा कौशल्यपूर्ण हुई कि प्रमाणोंका आनन्त्य भी इन्हीं दोमें समाविष्ट हो जाता है। उन्होंने अतिसंक्षेपमें मति, स्मृति, संज्ञा (प्रत्यभिज्ञान), चिन्ता (तर्क) और अभिनिबोध (अनुमान) को[4] भी प्रमाणान्तर होनेका संकेत करके और उन्हें मतिज्ञान कहकर 'आद्ये परोक्षम्' सूत्रद्वारा उनका परोक्ष प्रमाणमें समावेश किया, क्योंकि ये सभी ज्ञान परसापेक्ष हैं। वैशेषिकों और बौद्धोंने भी प्रमाणद्वय स्वीकार किया है पर उनका प्रमाण

---

१ वैशेषिकदर्शनके प्रवर्तक कणादने भी इसी शैलीसे बुद्धिके अविद्या और विद्या ये दो भेद बतलाकर अविद्याके संशय आदि चार तथा विद्याके प्रत्यक्षादि चार भेद कहे हैं तथा दूषित ज्ञान (मिथ्याज्ञान) को अविद्या और निर्दोष ज्ञान (सम्यग्ज्ञान) को विद्या कहकर प्रतिपादन किया है।
—वैशेषिक, द० सू० ९।२।७,८,१० से १२ तथा, [illegible]
२ यद्यपि स्थानांग (२, पृ० ४९, ५) और [illegible] २, पृष्ठ [illegible] में
भी प्रत्यक्ष-परोक्ष प्रमाणद्वयका [illegible]
नियुक्तिकार भद्रबाहुके [illegible]
द्रष्टव्य—प्रमाणमी० टि०
३ मतिश्रुतावधि [illegible]
—तत्त्वा० १।९, १०, [illegible]
४ वही १।१४।

द्वय प्रत्यक्ष और अनुमानरूप है और अनुमानमें स्मृति, प्रत्यभिज्ञान और तर्कका समावेश सम्भव नहीं है। अत आ० गृद्धपिच्छने उसे स्वीकार न कर प्रत्यक्ष और परोक्षरूप प्रमाणद्वयका व्यापक विभाग प्रतिष्ठित किया। उत्तरवर्ती जैन तार्किकों के लिए उनका यह विभाग आधार सिद्ध हुआ। प्राय सभीने अपनी कृतियोंमें उसीके अनुसार ज्ञानमीमासा और प्रमाणमीमासा उपस्थित की ह। पूज्यपादने[1] न्यायदर्शन आदि दर्शनोम पृथक् प्रमाणके रूपमें स्वीकृत उपमान, अर्थापत्ति और आगम आदि प्रमाणोको परसापेक्ष होनेसे परोक्षमें अ तर्भाव किया और तत्त्वार्थ-सूत्रकारके प्रमाणद्वयका समयन किया ह। अकलकने[2] भी इस प्रमाणद्वयकी सम्पुष्टि की, साथ ही नये आलोकमें प्रत्यक्ष परोक्षकी परिभाषाओ और उनके भेदोका भी बहुत स्पष्टताके साथ प्रतिपादन किया है। परोक्षकी स्पष्ट सख्या हमें सवप्रथम उनके ग्र थोंमें ही उपलब्ध होती ह[3] और प्रत्येकके लक्षण भी वहीं मिलते हैं। लगता है कि गृद्धपिच्छ और अकलकने जो प्रमाण निरूपणको दिशा प्रदर्शित की उसीपर उत्तरवर्ती जैन तार्किक चले है। विद्यान द[4], माणिक्यनन्दि[5], हेमचन्द्र[6] और धमभूषण[7] प्रभृति तार्किकोंने उनका अनुगमन किया और उनके कथनको पल्लवित किया है।

स्मरणीय है कि आ० गृद्धपिच्छके इस प्रत्यक्ष-परोक्ष प्रमाणद्वय विभागस कुछ भिन्न प्रमाणद्वयका प्रतिपादन भी हमें जैन दशनमें उपलब्ध हाता है। वह प्रतिपादन है स्वामी सम तभद्रका। स्वामी सम तभद्रने[8] प्रमाण (केवलज्ञान)का

---

१ अत उपमानागमादीनामत्रैवान्तर्भाव ।
—पूज्यपाद, स० सि० १।११ ।

२ प्रत्यक्षं विशदं ज्ञानं मुख्यसव्यवहारत ।
परोक्षं शेषविज्ञान प्रमाणे इति सग्रह ॥
—अकलंक, लघीय० १।३ ।
ज्ञानस्यैव विशदनिर्भासिन प्रत्यक्षत्वम्, इतरस्य परोक्षता ।
—लघीय० स्वो० वृ० १।३ ।

३ ज्ञानमाद्य मतिः सज्ञा चिन्ता चाभिनिबोधिकम् ।
प्राङ् नामयोजनात् शेषं श्रुत शब्दानुयोजनात् ॥
—लघीय० १।११, तथा ३।६१ ।

४ विद्यानन्द, प्र० प० पृ० ६६ ।

५ माणिक्यनन्दि, प० मु० १।१, २ तथा ३।१, २ ।

६ प्र० मी० १।१।६, १० तथा १।२।१, २ ।

७ न्या० दी० प्रत्यक्ष प्रकाश, पृ० २३ तथा परोक्षप्रकाश पृ० ५३ ।

८ तत्त्वज्ञानं प्रमाणं ते युगपत्सर्वभासनम् । क्रमभावि च यज्ज्ञानं स्याद्वादनयसंस्कृतम् ॥
—समन्तभद्र, आ० मी० का० १०१ ।

स्वरूप युगपत्सर्वभासी तत्त्वज्ञान बतलाकर ऐसे ज्ञानको अक्रमभावी और क्रमशः अल्पपरिच्छेदी ज्ञानको क्रमभावी कहकर प्रमाणको दो भागोंमें विभक्त किया है। समन्तभद्रके इन दो भेदोंमें जहाँ अक्रमभावि मात्र केवल है और क्रमभावि मति, श्रुत, अवधि और मनःपर्यय ये चार ज्ञान अभिमत हैं वहाँ गृद्धपिच्छके प्रत्यक्ष और परोक्ष इन दो प्रमाणभेदोंमें प्रत्यक्ष तो अवधि, मनःपर्यय और केवल ये ज्ञान माने हैं तथा परोक्ष मति और श्रुत ये दो ज्ञान इष्ट हैं। प्रमाणभेदोंकी इन दोनों विचारधाराओंमें वस्तुभूत कोई अन्तर नहीं है। गृद्धपिच्छका निरूपण जहाँ ज्ञान कारणोंकी सापेक्षता और निरपेक्षतापर आधृत है वहाँ समन्तभद्रका प्रतिपादन विषयाधिगमके क्रम और अक्रमपर निर्भर है। पदार्थों—ज्ञेयोंका क्रमशः होनेवाला ज्ञान क्रमभावि और युगपत् होने वाला अक्रमभावि प्रमाण है। पर इस विभागकी अपेक्षा गृद्धपिच्छका प्रमाणद्वय विभाग अधिक प्रसिद्ध और तार्किकों द्वारा अनुसृत हुआ है।

(ख) परोक्ष-प्रमाणका दिग्दर्शन

प्रमाणके प्रथम भेद प्रत्यक्षका स्वरूप और उसके भेद प्रभेदोंकी यहाँ चर्चा न कर प्रकृत अनुमानसे सम्बद्ध उसके दूसरे भेद परोक्षकी परिभाषा और उसके भेदों पर संक्षेपमें प्रकाश डाला जाता है। पूज्यपादने परोक्षकी परिभाषा निम्न प्रकार प्रस्तुत की है—

पराणीन्द्रियाणि मनश्च प्रकाशोपदेशादि च बाह्यनिमित्तं प्रतीत्य तदावरणकर्मक्षयोपशमापेक्षस्यात्मनो मतिश्रुतं उत्पद्यमानं परोक्षमित्याख्यायते[1]।

'परोक्ष' पदमें स्थित 'पर' शब्दसे आत्मातिरिक्त इन्द्रियाँ, मन तथा प्रकाश और उपदेश आदि बाह्य निमित्तोंका ग्रहण विवक्षित है। उनकी सहायता तथा मतिज्ञानावरण और श्रुतज्ञानावरणकर्मके क्षयोपशम (ईषद् अभाव) की अपेक्षा आत्मामें जो मतिज्ञान और श्रुतज्ञान उत्पन्न होते हैं वे परोक्ष कहे जाते हैं। तात्पर्य यह कि पराधीन ज्ञानोंको परोक्ष[2] कहते हैं। इस परिभाषाके अनुसार इन्द्रियजन्य और मनोजन्य ज्ञान, जिन्हें दर्शनान्तरोंमें[3] इन्द्रियप्रत्यक्ष और मानसप्रत्यक्ष कहा गया है, परोक्ष हैं। स्मृति, प्रत्यभिज्ञा, तर्क, अनुमान, उपमान, अर्थापत्ति और आगम ये ज्ञान भी पराधीन[4] होनेसे परोक्षमें परिगणित हैं। परोक्षता

---

१ स० सि० १।११, पृ० १०१।

२ [illegible] परोक्षम् । प्रत्यक्षमन्यत् । —वही १।११, पृ० १०१।

३ [illegible]

४ एष [illegible] परोक्षात् [illegible] ।
—[illegible], पृ० ५२।

होने वाले यदि और भी ज्ञान हो तो वे सब परोक्षान्तर्गत ही हैं। इस प्रकार परोक्षका क्षेत्र बहुत विस्तृत और व्यापक है।

इसके मुख्यतया पाँच भेद माने गये हैं[1]—१ स्मृति, २ प्रत्यभिज्ञान, ३ तर्क ४ अनुमान और ५ आगम।

पूर्वानुभूत वस्तुके स्मरणको स्मृति कहते हैं।[2] यथा 'वह' इस प्रकारसे उल्लिखित होने वाला ज्ञान। अनुभव तथा स्मरणपूर्वक होने वाला जोडरूप ज्ञान प्रत्यभिज्ञा या प्रत्यभिज्ञान या संज्ञा है।[3] जैसे—'यह वही देवदत्त है' अथवा 'गौके समान गवय होता है' या 'गौसे भिन्न महिष होता है' आदि। उपमान प्रमाण इसीका एक भेद—सादृश्यप्रत्यभिज्ञान है। अन्वय और व्यतिरेकपूर्वक होने वाला व्याप्तिका ज्ञान तर्क है।[4] इसीको ऊह अथवा चिन्ता भी कहा गया है। इसका उदाहरण है—इसके होने पर ही यह होता है और नहीं होने पर नहीं ही होता। जैसे—अग्निके होने पर ही धूम होता है और अग्निके अभावमें धूम नहीं होता। निश्चित साध्याविनाभावी साधनसे होने वाला साध्यका ज्ञान अनुमान कहलाता है।[5] यथा—धूमसे अग्निका ज्ञान करना। शब्द, संकेत आदि पूर्वक जो ज्ञान होता है वह आगम[6] है। जैसे—'मेरु आदिक हैं' शब्दोंको सुन कर सुमेरु पर्वत आदिका बोध होता है। ये सभी ज्ञान ज्ञानान्तरापेक्ष हैं।[7] स्मरणमें अनुभव, प्रत्यभिज्ञानमें अनुभव तथा स्मरण, तर्कमें अनुभव, स्मरण और प्रत्यभिज्ञान, अनुमानमें लिंगदर्शन व्याप्तिस्मरण और आगममें शब्द एवं संकेतादि अपेक्षित हैं, उनके बिना उनकी उत्पत्ति सम्भव नहीं है। अतएव ये और इस जातिके अन्य सापेक्ष ज्ञान परोक्ष प्रमाण माने गये हैं।[8] इस प्रकार अनुमानको जैनदर्शनमें परोक्ष प्रमाणका एक भेद स्वीकार किया है।

●

---

१ प्रत्यक्षादिनिमित्तं स्मृतिप्रत्यभिज्ञानतर्कानुमानागमभेदम्।
—माणिक्यनन्दि, प० मु० ३।२।

२ वही, ३।३,४।

३ वही, ३।५,६।

४ वही ३।७ ८, ९।

५ वही, ३।१० ११।

६ वही, ३।९५ ९६ ९७।

७ अकलंक, लघीय० स्वो० वृ० का० १०।

८ 'अर्थापत्तिरनुमानात् प्रमाणान्तरं नवेति किन्नश्चिन्तया सम्य परोक्षेऽन्तर्भावात्।'
—अकलंक, लघीय० स्वो० वृ० का० २१।

स्वरूप युगपत्सर्वभासी तत्त्वज्ञान बतलाकर ऐसे ज्ञानको अक्रमभावी और क्रमशः अल्पपरिच्छेदी ज्ञानको क्रमभावी कहकर प्रमाणको दो भागोंमें विभक्त किया है। समन्तभद्रके इन दो भेदोंमें जहाँ अक्रमभावि मात्र केवल है और क्रमभावि मति, श्रुत, अवधि और मनःपर्यय ये चार ज्ञान अभिमत हैं वहाँ गृद्धपिच्छके प्रत्यक्ष और परोक्ष इन दो प्रमाणभेदोंमें प्रत्यक्ष तो अवधि, मनःपर्यय और केवल ये तीन ज्ञान हैं तथा परोक्ष मति और श्रुत ये दो ज्ञान इष्ट हैं। प्रमाणभेदोंकी इन दोनों विचारधाराओंमें वस्तुभूत कोई अन्तर नहीं है। गृद्धपिच्छका निरूपण जहाँ ज्ञान कारणोंकी सापेक्षता और निरपेक्षतापर आघृत है वहाँ समन्तभद्रका प्रतिपादन विषयाधिगमके क्रम और अक्रमपर निर्भर है। पदार्थों—ज्ञेयोंको क्रमसे होनेवाला ज्ञान क्रमभावि और युगपत् होने वाला अक्रमभावि प्रमाण है। पर इस विभागकी अपेक्षा गृद्धपिच्छका प्रमाणद्वय विभाग अधिक प्रसिद्ध और तार्किकों द्वारा अनुसृत हुआ है।

(च) परोक्ष-प्रमाणका दिग्दर्शन :

प्रमाणके प्रथम भेद प्रत्यक्षके स्वरूप और उसके भेद प्रभेदोंकी यहाँ चर्चा न कर प्रकृत अनुमानसे सम्बद्ध उसके दूसरे भेद परोक्षकी परिभाषा और उसके भेदों पर संक्षेपमें प्रकाश डाला जाता है। पूज्यपादने परोक्षकी परिभाषा निम्न प्रकार प्रस्तुत की है—

पराणीन्द्रियाणि मनश्च प्रकाशोपदेशादि च बाह्यनिमित्तं प्रतीत्य तदावरणकर्मक्षयोपशमापेक्षस्यात्मनो मतिश्रुतं उत्पद्यमानं परोक्षमित्याख्यायते[1]।

'परोक्ष' पदमें स्थित 'पर' शब्दसे आत्मातिरिक्त इन्द्रियों, मन तथा प्रकाश और उपदेश आदि बाह्य निमित्तोंका ग्रहण विवक्षित है। उनकी सहायता तथा मतिज्ञानावरण और श्रुतज्ञानावरणकर्मके क्षयोपशम (ईषद् अभाव)की अपेक्षासे आत्मामें जो मतिज्ञान और श्रुतज्ञान उत्पन्न होते हैं वे परोक्ष कहे जाते हैं[2]। तात्पर्य यह कि पराधीन ज्ञानोंको परोक्ष कहते हैं। इस परिभाषाके अनुसार इन्द्रियजन्य और मनोजन्य ज्ञान, जिन्हें इतरदर्शनोंमें[3] इन्द्रियप्रत्यक्ष और मानसप्रत्यक्ष कहा गया है, परोक्ष हैं। स्मृति, प्रत्यभिज्ञा, तर्क, अनुमान, उपमान, अर्थापत्ति और आगम ये ज्ञान भी परसापेक्ष[4] होनेसे परोक्षमें परिगणित हैं। परसापेक्ष

१ स० सि० १।११, पृ० १०१।

२ आद्ये परोक्षम् । प्रत्यक्षमन्यत् । —वही १।११, पृ० १०१।

३ तच्चतुर्विधम् । इन्द्रियज्ञानम् । स्वविषयानन्तरविषयसहकारिणेन्द्रियज्ञानेन समनन्तरप्रत्ययेन जनितं तन्मनोविज्ञानम् । —धर्मकीर्ति, न्या० बि० प्र० परि० पृ० १३,१४।

४ तच्च परोक्षं पञ्चविधम् स्मृतिप्रत्यभिज्ञानतर्कानुमानागमभेदात् ।

—धर्मभूषण न्या० दी० पृ० ५१।

होने वाले यदि और भी ज्ञान हो तो वे सब परोक्षान्तर्गत ही हैं। इस प्रकार परोक्षका क्षेत्र बहुत विस्तृत और व्यापक है।

इसके मुख्यतया पाच भेद माने गये हैं[१]—१ स्मृति, २ प्रत्यभिज्ञान, ३ तर्क ४ अनुमान और ५ आगम।

पूर्वानुभूत वस्तुके स्मरणको स्मृति कहते हैं।[२] यथा 'वह' इस प्रकारसे उल्लिखित होने वाला ज्ञान। अनुभव तथा स्मरणपूर्वक होने वाला जोडरूप ज्ञान प्रत्यभिज्ञा या प्रत्यभिज्ञान या मना है।[३] जैसे—'यह वही देवदत्त है' अथवा 'गौके समान गवय होता है' या 'गौसे भिन्न महिष होता है' आदि। उपमान प्रमाण इसीका एक भेद—सादृश्यप्रत्यभिज्ञान है। अन्वय और व्यतिरेकपूर्वक होने वाला व्याप्तिका ज्ञान तर्क है।[४] इसीको ऊह अथवा चिन्ता भी कहा गया है। इसका उदाहरण है—इसके होने पर ही यह होता है और नही होने पर नही ही होता। जैसे—अग्निके होने पर ही धूम होता है और अग्निके अभावमें धूम नहीं होता। निश्चित साध्याविनाभावी साधनसे होने वाला साध्यका ज्ञान अनुमान कहलाता है।[५] यथा—धूमसे अग्निका ज्ञान करना। शब्द, सकेत आदि पूर्वक जो ज्ञान होता है वह आगम[६] है। जैसे—'मेरु आदिक हैं' शब्दोको सुन कर सुमेरु पर्वत आदिका बोध होता है। ये सभी ज्ञान ज्ञानान्तरापेक्ष हैं।[७] स्मरणमें अनुभव, प्रत्यभिज्ञानमें अनुभव तथा स्मरण, तर्कमें अनुभव स्मरण और प्रत्यभिज्ञान अनुमानमें लिंगदर्शन व्याप्तिस्मरण और आगममें शब्द एव सकेतादि अपेक्षित हैं, उनके बिना उनकी उत्पत्ति सम्भव नही है। अतएव ये और इस जातिके अन्य सापेक्ष ज्ञान परोक्ष प्रमाण माने गये है।[८] इस प्रकार अनुमानको जैनदर्शनमें परोक्ष प्रमाणका एक भेद स्वीकार किया है।

•

---

१ प्रत्यक्षादिनिमित्त स्मृतिप्रत्यभिज्ञानतर्कानुमानागमभेदम्।
—माणिक्यनन्दि, प० मु० ३।२।

२ वही, ३।३,४।

३ वही, ३।५,६।

४ वही ३।७ ८, ९।

५ वही, ३।१०, ११।

६ वही ३।९५ ९६, ९७।

७ अकलंक, लघीय० स्वो० वृ० का० १०।

८ 'अर्थापत्तिरनुमानात् प्रमाणान्तर नवेति किमश्चिन्तया सर्वस्य परोक्षेऽन्तर्भावात्।'
—अकलक, लघीय० स्वो० वृ० का० २१।

द्वितीय परिच्छेद

अनुमान समीक्षा

प्रमाणसामान्यके अनुचिन्तन और परोक्ष भेदोंके दिग्दर्शनके उपरान्त अब हम अनुमानके मूलरूप, उसकी आवश्यकता एवं महत्त्व, उसकी परिभाषा और क्षेत्र विस्तारपर विचार प्रस्तुत करेंगे।

(क) अनुमानका मूलरूप : जैनागमके आलोकमें

यह लिखा गया है कि आचार्य गृद्धपिच्छने आगममें वर्णित मति, श्रुत आदि पांच ज्ञानोंको दो वर्गोंमें विभक्त किया है—१ प्रत्यक्ष और २ परोक्ष। मति और श्रुत इन दोको उन्होंने परोक्ष तथा अवधि, मनःपर्यय और केवल इन तीन ज्ञानोंको प्रत्यक्ष प्रमाण बतलाया है। गृद्धपिच्छने यह भी कहा है[1] कि मति (अवग्रहादिरूप अनुभव)[2], स्मृति, संज्ञा (प्रत्यभिज्ञान), चिन्ता (तर्क) और अभिनिबोध ये पांच ज्ञान इन्द्रियों तथा मनकी सहायतासे[3] उत्पन्न होनेके कारण मतिज्ञानके पर्याय हैं।

इनमें आरम्भके चार ज्ञान तो अन्य दर्शनोंमें भी प्रसिद्ध हैं—भले ही उन्हें उन दर्शनोंमें प्रमाण या अप्रमाण माना गया हो।[4] परन्तु 'अभिनिबोध' ज्ञान उन दर्शनोंमें प्राप्त नहीं है तथा चार्वाकके अतिरिक्त शेष सभी दर्शनोंमें स्वीकृत और सबसे अधिक प्रसिद्ध अनुमान उक्त मति आदि पांच ज्ञानोंके मध्यमें दृष्टिगोचर नहीं होता। अतः विचारणीय है कि पुरातन जैन परम्परामें अनुमानको माना गया है या नहीं? यदि माना गया है तो आ० गृद्धपिच्छने तत्त्वार्थसूत्रमें स्मृति आदि ज्ञानोंका निरूपण करते समय उसका निर्देश क्यों नहीं किया? इन महत्त्वपूर्ण प्रश्नोंपर चिन्तन एवं अन्वेषण करनेके उपरान्त जो तथ्य उपलब्ध हुए हैं उन्हें हम यहाँ प्रस्तुत कर रहे हैं—

---

१ गृद्धपिच्छ, त० सू० १।१३।

२ अवग्रहेहावायधारणाः।
—वही १।१५।

३ तदिन्द्रियानिन्द्रियनिमित्तम्।
—वही १।१४।

४ बौद्धदर्शनमें अनुमानको तो प्रमाण स्वीकार किया है, पर स्मृत्यादिको अप्रमाण माना है।

(१) प्राचीन जैन परम्परामें अनुमान प्रमाणको स्वीकार किया गया है। तत्त्वार्थसूत्रमें यद्यपि 'अनुमान' शब्द उपलब्ध नहीं होता, पर उसका निर्देश 'अभिनिबोध' शब्दके द्वारा किया गया है। यह 'अभिनिबोध' ही अनुमानका प्राचीन मूल रूप है और उसे परोक्ष प्रमाणके अन्तर्गत परिगणित किया गया है।

(२) 'अभिनिबोध' अनुमानका प्राचीन रूप है, इस कथनकी पुष्टि अकलंक, विद्यानन्द और श्रुतसागर प्रभृति व्याख्याकारोंकी व्याख्याओंसे होती है। अकलंकने लघीयस्त्रयमें एक कारिकाकी व्याख्याके प्रसंगमें 'अभिनिबोध'का व्याख्यान 'अनुमान' किया है—

'अविसंवादस्मृतेः फलस्य हेतुत्वात् प्रमाणं धारणा स्मृतिः संज्ञायाः प्रत्यवमर्शस्य। संज्ञा चिन्तायाः तर्कस्य। चिन्ता अभिनिबोधस्य अनुमानादेः'।[1]

यहाँ अकलंकने अभिनिबोधका अर्थ 'अनुमान' दिया है।

विद्यानन्द तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकमें अभिनिबोधशब्दकी व्युत्पत्ति द्वारा उसका अनुमान अर्थ फलित करते हैं और आगममें 'अभिनिबोध' शब्द मतिज्ञान-सामान्यके अर्थमें प्रयुक्त होनेसे उत्पन्न सिद्धान्त विरोधका वे परिहार भी करते हैं। यथा—

तत्साध्याभिमुखो बोधो नियतः साधने तु यः।
कृतोऽनिन्द्रिययुक्तेनाभिनिबोधः स लक्षितः ॥[2]

इस वार्तिककी व्याख्यामें उन्होंने लिखा है कि साध्याविनाभावी साधनसे जो शक्य, अभिप्रेत और असिद्धरूप साध्यका ज्ञान होता है वह अनुमान है। और यह अनुमान ही अभिनिबोधका लक्षण (स्वरूप) है, क्योंकि साध्यकोटिमें प्रविष्ट और नियमित अर्थके मनसहित साधन द्वारा होने वाले अभिबोध (ज्ञान) को अभिनिबोध कहा जाता है। यद्यपि आगममें[3] अभिनिबोध शब्द मतिज्ञानसामान्यके अर्थमें आया है स्वार्थानुमानरूप मतिज्ञानविशेषके अर्थमें नहीं, तथापि प्रकरण-विशेष और शब्दान्तरके सन्निधान आदिसे सामान्यशब्दकी प्रवृत्ति विशेषमें भी देखी जाती है। जैसे 'गो' शब्द श्यामा, कृष्णा आदि गोविशेषके अर्थमें प्रयुक्त होता हुआ देखा जाता है। तात्पर्य यह कि अभिनिबोध शब्द मतिज्ञानसामान्य-वाची होते हुए भी प्रकरणवश स्वार्थानुमानरूप मतिज्ञानविशेषका बोधक है।

विद्यानन्द इसी ग्रन्थमें आगे और स्पष्ट करते हुए कहते हैं—

---

१ लघीय० स्वो० वृ० का० १०।
२ त० श्लो० १।१३।१२२, पृष्ठ १९७-१९८।
३ षट्खं० ५।५।२५, तथा १।९-१।१४ और ५।५।२१ आदि।

य साध्याभिमुखो बोध साधनेनानिन्द्रियसहकारिणा नियमित सोऽभिनिबोध स्वार्थानुमानमिति ।

मन सहकृत साधन द्वारा जो साध्याभिमुख एव नियमित बोध होता है वह अभिनिबोध है और वह स्वार्थानुमान है ।

यहाँ विद्यानन्द द्वारा एक महत्त्वपूर्ण शका-समाधान भी प्रस्तुत किया गया है[1] ।

शकाकार शका करता है कि इन्द्रिय और मन दोनोसे होनेवाला नियमित और स्वविषयाभिमुख बोध ही अभिनिबोध प्रसिद्ध है न कि केवल मन सहकृत लिंगसे होनेवाला लिंगीका नियमित बोध । अन्यथा स्मृति, प्रत्यभिज्ञान और तर्क ये अभिनिबोध नही हो सकेंगे । ऐसी स्थितिमें अपरिहार्य सिद्धान्तविरोध आता है ?

इसका समाधान उपस्थित करते हुए विद्यानन्द कहते हैं कि हम अभिनिबोध-का यह व्याख्यान नही कर रहे कि लिंगजन्य ही बोध अभिनिबोध है, अपितु यह कह रहे हैं कि शब्दयोजनासे रहित लिंगजन्य बोध अभिनिबोध ही है । इस प्रकार-के कथनसे लिंगजन्य बोधको अलग प्रमाण नहीं मानना पड़ेगा और सिद्धान्तका सग्रह भी हो जाएगा । इन्द्रिय और मन दोनोसे ही होनेवाला स्वविषयाभिमुख एव नियमित बोध अभिनिबोध है, ऐसा सिद्धान्त नहीं है, अन्यथा स्मृति आदि अभिनिबोध नहीं माने जा सकेंगे, क्योंकि वे मनसे ही उत्पन्न होते हैं ।[1] अत मन से भी उत्पन्न होनेवाला बोध अभिनिबोध सिद्धान्तसम्मत है ।

विद्यानन्दके इस विस्तृत एव विशद विवेचनसे स्पष्ट है कि तत्त्वार्थसूत्रमे मति ज्ञानके पर्यायनामोंमें पठित अभिनिबोधसे स्वार्थानुमानका ग्रहण अभिप्रेत है । विद्यानन्द बलपूर्वक यह भी कहते हैं कि यदि लिंगज बोध—स्वार्थानुमानको अभिनिबोध नहीं माना जाएगा तो उसका स्मृति, प्रत्यभिज्ञा और तर्कमें अन्तर्भाव न होनेसे उसे अलग प्रमाण स्वीकार करना पड़ेगा । अत हमने लिंगज बोधको अभि

1 इन्द्रियानिन्द्रियाभ्यां निश्चित्य कृत स्वविषयाभिमुखे [illegible] बोध [illegible] अनिन्द्रियसहकारिणा लिंगेन लिंगिनि [illegible] ।

सर्वे [illegible] विना [illegible] ।

[illegible] तथा ॥

न हि लिंगज एव बोध अभिनिबोध इति [illegible] । [illegible] सिद्धान्त [illegible] संग्रह-[illegible]

—त० श्लो० वा० १।१३।१२० [illegible] ।

2 [illegible], प्रत्यभिज्ञा, तर्क और अभिनिबोध [illegible]

निबोधका व्याख्यान किया है। इससे प्रमाणान्तर नही मानना पडेगा और इसमें सिद्धान्तका कोई विरोध भी नही है।

विद्यानन्दने यही प्रतिपादन अतिसंक्षेपमें प्रमाणपरीक्षामें भी किया है।[1] इतना विशेष है कि वहाँ परार्थ अनुमानको श्रोत्रमतिज्ञान-पूर्वक होनेके कारण श्रुतज्ञान (अक्षर और अनक्षर दोनो) बतलाया है। तथा वचनात्मक परार्थ अनुमानकी मीमासा करते हुए उसे उपचारसे परार्थ अनुमान कहा है।

श्रुतसागरसूरिने[2] भी अभिनिबोधका अर्थ अनुमान किया है।

इन व्याख्याकारोके अनुसार स्पष्ट है कि तत्त्वार्थसूत्रमें अभिनिबोध शब्द स्वार्थानुमानका बोधक है।

(३) धवलाकार वीरसेनने अभिनिबोधकी दो विभिन्न स्थानोपर व्याख्याएँ प्रस्तुत की है। हम दोनों स्थानोकी व्याख्याएँ यहा दे रहे है।

अहिमुह णियमिय अत्थावबोहो आभिणिबोहो। थूल-वट्टमाण अणंतरिद-अत्था अहिमुहा। चक्खिंदिए रूव णियमिद, सोदिंदिए सद्दो, घाणिंदिए गंधो, जिब्भिंदिए रसो, फासिंदिए फासो, णोइंदिए दिट्ठ-सुदाणुभूदत्था णियमिदा। अहिमुहणियमिदट्ठेसु जो बोधो सो अहिणिबोधो।[3]

अभिमुख और नियमित अर्थके अवबोधको अभिनिबोध कहते है। स्थूल, वर्तमान और अनन्तरित अर्थात् व्यवधानरहित अर्थोको अभिमुख कहते है। चक्षुरिन्द्रियमें रूप नियमित है, श्रोत्रेन्द्रियमें शब्द, घ्राणेन्द्रियमें गंध, जिह्वेन्द्रियमे रस स्पर्शनेन्द्रियमें स्पर्श और नोइन्द्रिय अर्थात् मनमें दृष्ट श्रुत और अनुभूत पदार्थ

प्रतिपादन करते है—

(क) अनिन्द्रियप्रत्यक्षं स्मृतिसंज्ञाचिन्ताभिनिबोधात्मकम्।

—लघीय० स्वो० वृ० का० ६१,।

(ख) मनोमतेरपि स्मृतिप्रत्यभिज्ञानचिन्ताऽभिनिबोधात्मिकायाः कारणमतिपरिच्छिन्नार्थविषयत्वात्।

—वही०, का० ६६।

१ तत्त्वतः साधनात् साध्यविज्ञानमनुमानं स्वार्थमभिनिबोधलक्षणं विशिष्टमतिज्ञानम् साध्यं प्रत्यभिमुखान्नियमिता साधनादुपजातबोधस्य तत्कर्तृत्वादभिनिबोध इति समभिप्रतिपादनात् परार्थमनुमानमनक्षरश्रुतज्ञानं अक्षरश्रुतज्ञानं च, तस्य श्रोत्रमतिपूर्वकस्य श्रुतत्वोपपत्तेः।

—प्र० प० पृ० ७६।

२ धूमादिदर्शनादग्न्यादिमतिरनुमानमभिनिबोध अभिधीयते।

—तत्त्वा० वृ० १।१३, पृ० ६१।

३ ध० टी०, १।१।१।१४।

नियमित है। इस प्रकारके अभिमुख और नियमित पदार्थोंमें जो बोध होता है वह अभिनिबोध है।

दूसरे स्थानपर अभिनिबोधकी व्याख्या इस प्रकार उपलब्ध होती है—

तत्थ अहिमुह-णियमिदट्ठस्स बोहणमाभिणिबोहियं णाम णाणं। को अहिमुहत्थो? इंदिय णोइंदियाणं गहणपाओग्गो। कुदो तस्स णियमो? अण्णत्थ अप्पवुत्तीदो। अत्थिंदियालोगुवजोगेहिंतो चेव माणुसेसु रूवणाणुप्पत्ती। अत्थिंदियउवजोगेहिंतो चेव रस गंध सद्द फासणाणुप्पत्ती। दिट्ठ-सुदाणुभूदट्ठ-मणेहिंतो णोइंदियणाणुप्पत्ती। एसो एत्थ णियमो। एदेण णियमेण अभिमुहत्थेसु समुप्पज्जदि णाणं तमाभिणिबोहियणाणं णाम।[1]

इसका तात्पर्य यह है कि अभिमुख और नियमित अर्थका जो ज्ञान होता है उसे आभिनिबोधिकज्ञान कहते हैं। अभिमुखका अर्थ है इन्द्रिय और नोइन्द्रियके द्वारा ग्रहण करने योग्य अर्थ और नियमितका आशय है अभिमुखको छोड़ कर अन्यत्र इन्द्रिय और नोइन्द्रियकी प्रवृत्ति न होना। अर्थात् अर्थ, इन्द्रिय, आलोक और उपयोगके द्वारा मनुष्योंको रूपज्ञान होता है। अर्थ, इन्द्रिय और उपयोगके द्वारा रस, गन्ध शब्द और स्पर्शज्ञानकी उत्पत्ति होती है। दृष्ट, श्रुत और अनुभूत अर्थ तथा मनके द्वारा नोइन्द्रियज्ञान उत्पन्न होता है, यह यहाँ नियम है—नियमितका अर्थ है। इस नियमके अनुसार अभिमुख अर्थोंका जो ज्ञान होता है वह आभिनिबोधिक ज्ञान है।

अभिनिबोधकी इन दोनों व्याख्याओंमें यद्यपि स्वार्थानुमान अर्थ परिलक्षित नहीं होता तथापि यह स्पष्ट है कि दृष्ट, श्रुत और अनुभूत अर्थका मन द्वारा जो ज्ञान होता है वह भी अभिनिबोध है। स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क और अनुमान (स्वार्थ) ये चारों ज्ञान मत दृष्ट, श्रुत और अनुभूत अर्थमें ही मन द्वारा होते हैं, अतः इन सब ज्ञानोंको अभिनिबोध कहा जा सकता है। अकलङ्कदेवने[2] इन ज्ञानोंको मनोऽभिनिबोध अथवा अनिन्द्रिय प्रत्यक्ष कहा है। तथ्य यह है कि उन्होंने ज्ञानविशेषके अर्थमें अभिनिबोधको लिया है। और इसीसे उन्होंने स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क इनके स्वतन्त्र निर्देशके साथ अभिनिबोधका भी स्वतन्त्र उल्लेख करके उन सबोंको अनिन्द्रियप्रत्यक्ष अथवा मतिज्ञान प्रतिपादित किया है। उनका अभिप्रेत वह ज्ञानविशेष स्वार्थानुमान ही सम्भव है। वीरसेन द्वारा अभिनिबोधका मतिज्ञानसामान्य अर्थ लिया जाना स्वाभाविक है, क्योंकि वे जिस षट्खण्डागमके व्याख्याकार हैं उसमें सर्वत्र अभिनिबोध (आभिनिबोधिक) शब्द मतिज्ञान

१ ष० खं०, भा० १३, पृ० २०९ २१०।
२ लघी० ११ व पृ० भा० ६१ तथा ६६।

सामान्यके अर्थमे प्रयुक्त हुआ है। निष्कर्ष यह कि अकलंक, विद्यानन्द और श्रुतसागरकी व्याख्याओंके आधारपर मतिज्ञानविशेष—अभिनिबोधविशेष (स्वार्थानुमान) भी अभिनिबोध सामान्यका अर्थ लिया जा सकता है। जैसे गोशब्दसे श्यामा आदि गोविशेष अर्थ ग्रहण किया जाता है।

(४) वीरसेनने इसी धवला टीकामें श्रुतज्ञानका भी व्याख्यान दो स्थलोंपर किया है। वह भी द्रष्टव्य है—

(क) *तत्थ सुदणाणं णाम इंदिएहि गहिदत्थादो तदो पुधभूदत्थग्गहणं,* जहा—सद्दादो घडादीणमुवलंभो, धूमादो अग्गिस्सुवलंभो वा।[1]

इन्द्रियोंसे ग्रहण किये गये पदार्थसे, उससे पृथक्भूत पदार्थका ग्रहण करना श्रुतज्ञान है।[2] जैसे—शब्दसे घट आदि पदार्थोंका जानना, अथवा धूमसे अग्निका ग्रहण करना।

(ख) मदिणाणेण गहिदत्थादो जमुप्पज्जदि अण्णेसु अत्थेसु णाणं तं सुदणाणं णाम। धूमादो उप्पज्जमाणअग्गिणाणं, णदीपूरजणिदउवरिविट्ठिविण्णाणं, देसंतरसंपत्तीए जणिददिणयरगमणविसयविण्णाणं, सद्दादो सद्दत्थुप्पण्णणाणं च सुदणाणमिदि भणिदं होदि।[3]

अर्थात् मतिज्ञानके द्वारा ग्रहण किये गये अर्थके निमित्तसे जो अन्य अर्थोंका ज्ञान होता है वह श्रुतज्ञान है। धूमके निमित्तसे उत्पन्न हुआ अग्निका ज्ञान, नदीपूरके निमित्तसे उत्पन्न हुआ ऊपरी भागमें वृष्टिका ज्ञान, देशान्तरकी प्राप्तिके निमित्तसे उत्पन्न हुआ सूर्यका गमनविषयक विज्ञान और शब्दके निमित्तसे उत्पन्न हुआ शब्दार्थका ज्ञान श्रुतज्ञान है।

श्रुतज्ञानकी इन दोनों व्याख्याओंमें जो उसके उदाहरण दिये गये हैं वे ही सब अनुमानका स्वरूप समझानेके लिए भी दिये जाते हैं। धूमसे अग्निका ज्ञान, नदीपूरसे ऊपरी भागमें वर्षाका ज्ञान, देशान्तर प्राप्तिसे सूर्यमें गतिका ज्ञान अनुमानसे किया जाता है, यह प्रसिद्ध है। अतएव श्रुतज्ञानकी इन व्याख्याओंसे अनुमान श्रुतज्ञानके अन्तर्गत सिद्ध होता है। यही कारण है कि वीरसेनको अभिनिबोध सम्बन्धी व्याख्याओंमें अनुमान या स्वार्थानुमान अर्थ उपलब्ध नहीं होता।

---

१ धवला १।९।१।१४ पृ० २१।

२ अत्थादो अत्थंतरमुवलंभंतं भणंति सुदणाणं।
आभिणिबोहियपुव्वं णियमेणिह सद्दजं पमुहं॥
—आ० नेमिचन्द्र गो० जी० ३१४।

३ धवला ५।५।२१, पृ० २१०।

(५) षट्खण्डागममें श्रुतज्ञानके इकतालीस[1] पर्यायशब्द दिए गये हैं। उनमें एक 'हेतुवाद' है। इस 'हेतुवाद' का व्याख्यान वीरसेनने निम्न प्रकार किया है—

हेतुः साध्याविनाभावि लिंगं अन्यथानुपपत्त्येकलक्षणोपलक्षितम्। स हेतुर्द्विविधः साधनदूषणभेदेन। तत्र स्वपक्षसिद्धये प्रयुक्तः साधनहेतुः। प्रतिपक्षनिराकरणाय प्रयुक्तो दूषणहेतुः। हिनोति गमयति परिच्छिनत्त्यर्थमात्मानं चेति प्रमाणपञ्चकं वा हेतुः। स उच्यते कथ्यते अनेनेति हेतुवादः श्रुतज्ञानम्।[2]

साध्यके अभावमें न होने वाले लिंगको हेतु कहते हैं। और वह अन्यथानुपपत्तिरूप एक लक्षणसे युक्त होता है। यह दो प्रकारका है—१ साधन हेतु और २ दूषण हेतु। इनमें स्वपक्षकी सिद्धिके लिए प्रयुक्त हेतुको साधन हेतु और प्रतिपक्षका खण्डन करनेके लिए प्रयुक्त हेतुको दूषणहेतु कहते हैं। अथवा हेतुशब्दकी व्युत्पत्तिके अनुसार जो अर्थ (वस्तु)का और अपना ज्ञान कराता है उस प्रमाणपञ्चकको हेतु कहा जाता है। यहाँ प्रमाणपञ्चकसे वीरसेनको मति, श्रुत आदि पाँच ज्ञान अभिप्रेत प्रतीत होते हैं। उक्त प्रमाणपञ्चकरूप हेतु जिसके द्वारा अभिहित हो वह हेतुवादरूप श्रुतज्ञान है।

वीरसेनके इस हेतुवाद-व्याख्यासे असंदिग्ध है कि यहाँ हेतुवादके अन्तर्गत वह हेतु विवक्षित है जो साध्याविनाभावि लिंगसे होने वाले साध्यज्ञान (अनुमान)में प्रयुक्त होता है और जिसे बादमें अनुमानको लिंगज या लैंगिक कहा जाता है। हेतुवादशब्दका प्रयोग अनुमानके अर्थमें हमें अन्य दर्शनोंमें भी मिलता है। निष्कर्ष यह कि वीरसेन अनुमानको श्रुतज्ञान मानते हैं, उसे मतिज्ञान मानने की ओर उनका इङ्गित प्रतीत नहीं होता।

यहाँ हम उनका एक महत्त्वपूर्ण उद्धरण और दे देना आवश्यक समझते हैं। इस उद्धरणसे स्पष्ट हो जाएगा कि वीरसेन अनुमानको श्रुतज्ञानके अन्तर्गत स्वीकार करते हैं। यथा—

"सुदणाणं दुविहं—सद्दलिंगजं असद्दलिंगजं चेदि। धूमलिंगादो जलणावगमो असद्दलिंगजो। अवरो सद्दलिंगजो। किंलक्खणं लिंगं? अन्यथानुपपत्ति लक्खणं। पच्चक्खमन्तरेण सव्वं [illegible] [illegible] किं न [illegible] चेत्, न, [illegible]। [illegible]

---

1. [illegible] हेदुवादो [illegible]
[illegible]
—षट्खण्डागम, [illegible], ५.५.५०, पृ० २८०।

2. धवला, ५.५.५०, पृ० २८०।

कशारायप्रभवत्वादुपयुक्ताम्रफलवत्, स श्याम तत्पुत्रत्वादितरपुत्रवत, इत्यादीनि साधनानि त्रिलक्षणान्यपि न साध्य सिद्धय भवन्ति। विश्वमनेकान्तात्मक सत्त्वात् इत्यादीनि साधनानि अत्रिलक्षणान्यपि साध्यसिद्धय प्रभवन्ति। तत इदम् तरेण इदमनुपपन्नमितीदमेव लक्षण लिंगस्येति प्रत्येतव्यम्।[1]

यहाँ श्रुतज्ञानके वर्णन प्रसगमें उसके दो भेद बतलाये हैं—(१) शब्द-लिंगज और (२) अशब्दलिंगज। अशब्दलिंगज श्रुतज्ञानका उदाहरण है—धूम-के निमित्तसे अग्निका ज्ञान करना। आगे लिंगका लक्षण वही दिया है जो अनुमान निरूपणमें कहा जाता है। इससे वीरसेनका स्पष्ट मत है कि अनुमान अशब्द लिंगज श्रुतज्ञान है।

६ वीरसेनका यह मत षटखण्डागमपर आधृत है। षट्खण्डागममें आचार्य भूतबली पुष्पदन्तने ज्ञानमार्गणाकी अपेक्षा जिन पाच सम्यग्ज्ञानो और तीन मिथ्याज्ञानोका निरूपण किया है उनमें प्रथम सम्यग्ज्ञानका नाम 'आभिनिबोधिक' है, मतिज्ञान नही है, मति तो उसके चार पर्यायोंमें परिगणित तीसरे ज्ञानका नाम है। यथा—

सण्णा सदी मदी चिंता चेदि।[2]

सज्ञा, स्मृति, मति और चिन्ता ये आभिनिबोधिक ज्ञानके पर्याय हैं।

षट्खण्डागमके इस सूत्रमें आभिनिबोधिक ज्ञानके पर्यायनामोंका गिनाते हुए जहा अनुमानके पूर्वम आवश्यक रूपसे रहने वाले चिन्ता आदि नामोंका निर्देश है वहाँ अनुमानका अनुमानशब्दसे या उसके बोधक किसी पर्यायनामसे कोई उल्लेख नही है। इससे अवगत होता है कि षटखण्डागममें अनुमानको आभिनिबोधिक ज्ञान नही माना। इसका कारण यह ज्ञात होता है कि आभिनिबोधिक ज्ञान इन्द्रियव्यापार या मनोव्यापार पूर्वक उत्पन्न होते हैं। चाक्षुष आदि इन्द्रियज्ञान इन्द्रिय-व्यापारसे और स्मृति, सज्ञा और चिन्ता ये तीनों अनिन्द्रियज्ञान मनोव्यापारसे पैदा होते हैं। अत ये ज्ञान तो 'इन्द्रियानिन्द्रियनिमित्तम्' के अनुसार आभिनिबोधिक हैं। पर अनुमान सीधे मनोव्यापार या इन्द्रिय व्यापारसे उत्पन्न न होकर साध्याविनाभावी साधनसे उत्पन्न होता है। जैसे धूमसे अग्निका ज्ञान होता है। यह सत्य है कि साधनमें इन्द्रिय और मन सहायक हैं क्योंकि उनके बिना साधन-का दर्शन और व्याप्तिका स्मरण नहीं हो सकता। पर वे साध्यज्ञानके उत्पादक नही हैं—उसका उत्पादक तो अविनाभावि साधनका ज्ञान है। ऐसी स्थितिमें अनुमान आभिनिबोधिक ज्ञान न होकर श्रुतज्ञान होगा, क्योंकि एक अर्थसे दूसरे अर्थ

१ धवला ५।५।४३, पृ० २४५।
२, षट्खण्डा० ५।५।४१, पृ० २४४।

का बोध कराने वाला ज्ञान श्रुतज्ञान कहा गया है।[1] धूमके निमित्तसे अग्निका ज्ञान करना, नदीपूरसे ऊपरी भागमें वर्षाका ज्ञान करना, देशान्तर प्राप्तिसे सूर्यमें गतिका ज्ञान करना, ये सब श्रुतज्ञानके उदाहरण हैं और अनुमानके भी यही उदाहरण हैं। ज्ञात होता है कि इसीसे षट्खण्डागममें अनुमानको आभिनिबोधिक ज्ञानके पर्यायनामोंमें कथित नहीं किया। किन्तु श्रुतज्ञानके एकार्थवाची दस नामोंमें दत्त 'हेतुवाद' द्वारा उसका श्रुतज्ञानमें संग्रह अथवा अन्तर्भाव किया है। अतः षट्खण्डागमके व्याख्याकार वीरसेनका उपर्युक्त मत (व्याख्यान) षट्खण्डागमके अनुरूप है।

(७) प्रश्न है कि आगमकी जब ऐसी प्ररूपणा (व्यवस्था) है तो आचार्य गृद्धपिच्छने तत्त्वार्थसूत्रमें आगमोक्त आभिनिबोधिक ज्ञानके स्थानमें मतिज्ञान नाम और उसके पर्यायनामोंमें पहलेसे अनुपलब्ध अभिनिबोध शब्द कैसे रखा? और उनके इस परिवर्तनका कारण क्या है?

हमारा विचार है कि तत्त्वार्थसूत्रकार उस दर्शनयुगमें हुए हैं जब प्रमाणशास्त्रकी चर्चा बहुलतासे होने लगी थी और प्रत्येक दर्शनके लिए आवश्यक था कि वह अपने अभिमत प्रमाणोंका निर्धारण करे। चार्वाकके अतिरिक्त अन्य सभी भारतीय दर्शनोंने अनुमानको स्वतन्त्र प्रमाणके रूपमें मान लिया था और उसका मूल स्रोत 'वाकोवाक्यम्' एवं 'आन्वीक्षिकी' विद्यामें खोज निकाला था। आर्हत दर्शनकी अपनी विशिष्ट परम्परा रही है। वह ऐसे समयपर मौन नहीं रह सकता था। उसे भी अपनी ओरसे यह निर्णय करना आवश्यक था कि वह कितने प्रमाण मानता है और वे कौन-कौन हैं तथा वह अनुमानको स्वीकार करता है या नहीं? यद्यपि षट्खण्डागम, प्रवचनसार, अनुयोगद्वार, स्थानांग, भगवती आदि आगम ग्रन्थोंमें ज्ञानमीमांसा तथा प्रमाण-मीमांसा विस्तृत रूपमें निरूपित एवं चर्चित थी। विषयनिरूपणमें हेतुवादका भी आश्रय लिया जाता था। पर ये सभी ग्रन्थ प्राकृतमें निबद्ध थे और उस समय संस्कृत माध्यमसे दार्शनिक विचारोंका [illegible]। अतः तत्त्वार्थसूत्रकारने संस्कृतके माध्यमसे आर्हत दर्शनके प्राण तथा विचारोंका प्रतिपादन करनेके लिए तत्त्वार्थसूत्रकी रचना की। यह उपलब्ध जैन संस्कृत-सूत्र ग्रन्थोंमें आद्य संस्कृत-सूत्रग्रन्थ है। इसमें तत्त्व और दर्शन दोनोंका निरूपण है। उनका लक्ष्य था आगमिक प्रमेयोंको दर्शन द्वारा प्रस्तुत करना। इस कार्यमें उन्हें निःसन्देह अभूतपूर्व सफलता मिली। अतः [illegible] भी नि-धेयक और निधेयक [illegible] इस सन्दर्भमें निश्चित किया। आगमानुसार ज्ञानमीमांसाको प्रस्तुत करते हुए उसमें प्रतिपादित पाँच ज्ञानोंमें इस आभिनिबो-

१. [illegible] पृ० २१५।

धिकशब्द मतिशब्दकी अपेक्षा, जो उसीका एक पर्याय है, उन्हें कुछ जटिल लगा। अतएव उसके स्थानमें मतिको रखकर उसे सरल बना दिया तथा उसके पर्यायोंमें अभिनिबोधको भी सम्मिलित कर लिया। यह अभिनिबोधशब्द भी आभिनिबोधिकको अपेक्षा अधिक सुगम है, अतः उसके द्वारा उन्होंने चिन्ता (तर्क) पूर्वक होने वाले लिंगजबोध—अनुमानके संग्रहकी ओर संकेत किया। इस परिवर्तनमें कोई मौलिक सिद्धान्त-भेद या सिद्धान्त विपरीतता नहीं है। फलतः अकलङ्क, विद्यानन्द जैसे मूर्धन्य मनीषी विचारक उनके इस परिवर्तनसे प्रभावित हुए और उससे प्रकाश पाकर उन्होंने अभिनिबोधकी व्याख्या अनुमानपरक प्रस्तुत की। सिद्धान्त विरोधकी बात उठने पर विद्यानन्दने[1] सामान्य शब्दको विशेषवाची बतलाकर इस विरोधका परिहार किया। साथ ही अकलंकका आशय[2] ग्रहण करके यह भी कह दिया[3] कि अभिनिबोधात्मक ज्ञान शब्दयोजनासे पूर्व अर्थात् शब्दयोजनासे रहित दशामें स्वार्थानुमान है। पर शब्दयोजनासे विशिष्ट होने पर वह अभिनिबोधपूर्वक होने वाला श्रुतज्ञान है, जिसे परार्थानुमान कहा जाता है।[4] तात्पर्य यह कि मतिज्ञानके पर्यायनामोंमें पठित 'अभिनिबोध' से स्वार्थानुमानका और आगममें आये हेतुवादसे, जो श्रुतज्ञानके पर्यायनामोंमें सम्मिलित है, परार्थानुमानका ग्रहण विवक्षित है। निष्कर्ष यह कि स्वार्थानुमानका प्राचीन मूल रूप अभिनिबोध है और परार्थानुमानका मूल रूप हेतुवाद है। इस तरह जैन अनुमान अभिनिबोध (मतिज्ञान) और श्रुत दोनोंका प्रतिनिधि है। इसमें तत्त्वार्थसूत्रकार और उनके व्याख्याकारों तथा षट्खण्डागम और धवलाके व्याख्यानों एवं निरूपणोंमें कोई विरोध या असंगति नहीं है।

(ख) अनुमानका महत्त्व एवं आवश्यकता

प्रत्यक्षकी तरह अनुमान भी अर्थसिद्धिका महत्त्वपूर्ण साधन है। सम्बद्ध और वर्तमान, आसन्न और स्थूल पदार्थोंका ज्ञान इन्द्रियप्रत्यक्षसे किया जा सकता है। पर असम्बद्ध और अवर्तमान—अतीत अनागत तथा दूर और सूक्ष्म अर्थोंका ज्ञान उससे सम्भव नहीं है, क्योंकि उक्त प्रकारके पदार्थोंको जाननेकी क्षमता इन्द्रियोंमें

---

१ त० श्लो० १।१३।२८६ ३८८, पृष्ठ २१६।

२ लघीय० का० १०,११।

३ प्र० प० पृष्ठ ७६, तथा त० श्लो० १।१३। ३८८, पृष्ठ २१६।

४ तत्तत्साधनात् सा यद्विशामनुमानं स्वार्थमभिनिबोधलक्षणं विशिष्टमतिज्ञानं, सोऽयं प्रत्यभिमुखान्नियमितात्साधनादुपजातबोधस्य तर्कफलस्याभिनिबोध इति समयान्तरनिरूपणात्। परार्थमनुमानमनक्षरश्रुतज्ञानं अक्षरश्रुतज्ञानं च तस्य श्रोत्रमतिपूर्वकस्य च तथा त्वोपपत्ते।

—विद्यानन्द, प्र० प० पृष्ठ ७६।

नहीं है। अतः उसे पदार्थोंका ज्ञान अनुमान द्वारा किया जाता है। इसे चार्वाक दर्शनको छोड़कर शेष सभी दर्शनोंने स्वीकार किया है और उसे प्रत्यक्षकी ही तरह प्रमाण एवं अर्थसिद्धिका सबल साधन माना है। चार्वाक इसे न माननेके निम्न कारण प्रस्तुत करते हैं—

(१) यतः अनुमान प्रत्यक्षपूर्वक होता है। अतः वह प्रत्यक्षसे भिन्न नहीं है। 'कारणसदृशं हि लोके कार्यं दृष्टम्' इस सिद्धान्तके अनुसार अनुमान जब प्रत्यक्षका कार्य है तो उसे अपने कारण—प्रत्यक्षसदृश ही होना चाहिए, विसदृश नहीं[1]।

(२) सबसे पहले प्रत्यक्ष होता है, उसके बाद अनुमान। अतः प्रत्यक्ष मुख्य है और अनुमान गौण। अतएव अनुमान गौण होनेसे प्रमाण नहीं है।[2]

(३) अनुमानमें विसंवाद देखा जाता है। कभी-कभी इन्द्रमूर्धा (बांबी) और गोपालघटिकामें धूमका भ्रम हो जानेसे वहाँ भी अग्निका अनुमान होने लगता है। इसके अतिरिक्त वृक्षका जब शिंशपासे अनुमान किया जाता है तो शिंशपा वृक्ष ही हो, ऐसा तो नहीं है, कहीं शिंशपा लता भी होती है। ऐसी स्थितिमें शिंशपा हेतु व्यभिचारी (वृक्षके अभावमें भी रहने वाला) होनेसे वृक्षका यथार्थ अनुमापक नहीं हो सकता। अनुपलब्धिसे अभावकी सिद्धि करना भी दोषपूर्ण है। परमाणु, पिशाचादि उपलब्ध नहीं होते, फिर भी उनका सद्भाव बना रह सकता है—अनुपलब्धिसे उनका अभाव सिद्ध नहीं किया जा सकता। इस तरह अनुमानके जनक सभी प्रयुक्त हेतु व्यभिचारी होनेसे वह अविसंवादी सम्भव नहीं है। अतः प्रत्यक्ष तो प्रमाण है, पर अनुमान प्रमाण नहीं है।[3]

ये तीन कारण हैं जिनसे चार्वाक अनुमानको प्रमाण नहीं मानता। यहाँ इन तीनों कारणों पर विचार किया जाता है—

(१) प्रत्यक्षपूर्वक होनेसे यदि अनुमान प्रत्यक्षसे भिन्न नहीं है तो कहीं (पर्वतादिकमें अग्निका) प्रत्यक्ष भी अनुमानपूर्वक होनेसे अनुमानसे भिन्न सिद्ध नहीं होगा। जैसे पर्वतमें अनुमानसे अग्निका निश्चय करके उसे ग्रहण करनेके लिए प्रवृत्त पुरुषको अग्निका जो प्रत्यक्ष होता है वह अनुमानपूर्वक होने

१ प्र० क० पृष्ठ १४।
२ प्रमाणमीमांसा १,१ पृष्ठ ४६। न्या० कु० पृष्ठ १४।
३ [illegible] १,३, पृष्ठ ८४।

से अनुमान कहा जाएगा। अत अनुमानप्रामाण्यके निषेधका प्रथम कारण युक्त नही है, वह अतिप्रसग दोष-सहित ह।[1]

(२) यह सच है कि कभी अनुमानसे पहले प्रत्यक्ष होता है, पर यह सार्वदिक एव सार्वत्रिक नियम नही है। कही और कभी प्रत्यक्षसे पूर्व अनुमान भी होता है। जैसा कि हम ऊपर देख चुके है कि कोई पुरुष अग्निका अनुमान करके बादको वह उसका प्रत्यक्ष (साक्षात्कार) करता है। ऐसी दशामें अनुमान प्रत्यक्षसे पूर्ववर्ती होनेके कारण मुख्य माना जाएगा और प्रत्यक्ष गौण। तब प्रत्यक्ष गौण होनेसे अप्रमाण और अनुमान मुख्य होनेसे प्रमाण सिद्ध होगा। अत दूसरा कारण भी अनुमानके प्रामाण्यका प्रतिषेधक सिद्ध नही होता।[2]

(३) तीसरा कारण भी युक्त नही है, क्योकि अनुमानमे विसवादित्व बतानेके लिए जो उदाहरण दिये गये है वे सब अनुमानाभासके उदाहरण है। जो हेतु साध्यका व्यभिचारी है वह हेतु ही नही है—वह तो हेत्वाभास है। शक्रमूर्धा और गोपालघटिकामें जो धूमसे अग्निके अनुमानकी बात कही गयी है उस पर हमारा प्रश्न है[3] कि शक्रमूर्धा और गोपालघटिका अग्निस्वभाव है या नही? यदि अग्निस्वभाव है तो अग्निसे उत्पन्न धूम अग्निका व्यभिचारी कैसे हो सकता है? और यदि वे अग्निस्वभाव नही है तो उनसे उत्पन्न होने वाला पदार्थ धूम कैसे कहा जा सकता है? लोकमे अग्निसे पैदा होने वाले अविच्छिन्न पदार्थको ही धूम कहा जाता है। साध्य साधनके सम्यक अविनाभावका ज्ञाता उक्त प्रकारकी भूल नही कर सकता। वह अविनाभावी साधनसे ही साध्यका ज्ञान—अनुमान करेगा, अविनाभावरहित हेतुसे नही। वह भले ही ऊपरसे हेतु जैसा प्रतीत हो, पर हेतुलक्षण (अविनाभाव) रहित होनेके कारण वह हेत्वाभास ह और हेत्वाभासोंसे उत्पन्न साध्यज्ञान दोषपूर्ण अर्थात अनुमानाभास समझा जाएगा। अत शक्रमूर्धा और गोपालघटिकामें दृष्ट धूम धूम नही है धूमाभास ह—उसे भ्रमसे धूम समझ लिया ह। और इसलिए उसके द्वारा उत्पन्न अग्निका ज्ञान अनुमान नही, अनुमानाभास है।[4]

---

१ प्र० परी० पृष्ठ ६४।

२ वही पृष्ठ ६४।

३ अग्निस्वभाव शक्रस्य मूर्धा चेदग्निरेव स।
अथानग्निस्वभावोऽसौ धूमस्तत्र कथ भवेत्॥
—धर्मकीर्ति, प्र० वा० १।३८ तथा प्रमेयर० मा० २।२, पृ० ४६।

४ यादृशो हि धूमो ज्वलनकार्यं भूधरनितम्बादावविरहलधवलतया प्रसिद्धस्तादृशो न गोपालघटिकादाविति।
—प्रमेयर० मा० २।२, पृष्ठ ४६।

इसी प्रकार स्वभावहेतुमें[1] जो व्यभिचार दिखाया गया है वह भी ठीक नहीं है, क्योंकि केवल स्वभावको हेतु स्वीकार नहीं किया है, अपितु व्याप्य रूप स्वभावको ही व्यापकके प्रति गमक माना गया है। और यह तथ्य है कि व्याप्य कभी भी व्यापकका व्यभिचारी नहीं होता, अन्यथा वह व्याप्य ही नहीं रहेगा। दूसरी बात यह है कि अविनाभावी स्वभाव हेतुको व्यभिचारी मानने पर चार्वाक प्रत्यक्षमें अविसंवादित्व और अगौणत्वरूप स्वभावहेतुओंसे प्रामाण्य निश्चय नहीं कर सकता। अनुपलब्धिहेतुमें व्यभिचारप्रदर्शन भी विचारशून्य है। यथार्थमें अविनाभावी अनुपलब्धिहेतु अभावका साधक माना गया है। जो साध्याविनाभावी नहीं है वह हेतु ही नहीं है—हेत्वाभास है, यह हम ऊपर कह आये हैं। अतः चाहे दृश्यानुपलब्धि हो और चाहे अदृश्यानुपलब्धि, दोनों अविनाभावविशिष्ट हो कर ही अभावसाधिका हैं, अन्यथा नहीं।

इस प्रकार अनुमानाप्रामाण्यके निषेधमें दिये गये तीनों ही कारण युक्ति-युक्त नहीं हैं। अब ऐसे तथ्य उपस्थित किये जाते हैं, जिनसे चार्वाक दर्शनको भी अगत्या अनुमान मानना पड़ता है। यथा—

(१) जब चार्वाकसे पूछा जाता है कि प्रत्यक्ष ही प्रमाण क्यों है और अनुमान प्रमाण क्यों नहीं? तो इसका उत्तर वह यही देता है कि प्रत्यक्ष अगौण और अविसंवादी होनेसे प्रमाण है, पर अनुमान गौण तथा विसंवादी होनेसे प्रमाण नहीं है। इस प्रकारका कथन करके वह स्वभावहेतु-जनित अनुमानको स्वयमेव स्वीकार कर लेता है। अगौणत्व और अविसंवादित्व प्रमाणका स्वभाव है। और उन्हें हेतु बनाकर प्रत्यक्षके प्रामाण्यको सिद्ध करना निश्चय ही अनुमान है तथा गौणत्व एवं विसंवादित्वको हेतुरूपमें प्रस्तुत करके अनुमानको अप्रमाण सिद्ध करना भी अनुमान है। अगौणत्व एवं अविसंवादित्वकी प्रामाण्यके साथ और गौणत्व तथा विसंवादित्वकी अप्रामाण्यके साथ व्याप्ति है और व्याप्तिज्ञानपूर्वक जो ज्ञान होता है वह अनुमान कहा जाता है। अतः चार्वाकको प्रत्यक्षमें प्रामाण्य सिद्ध करने और अनुमानमें अप्रामाण्य स्थापित करनेके लिए उक्त प्रकारका अनुमान मानना पड़ेगा।

(२) इस (शिष्य)में बुद्धि है क्योंकि बोल रहा है अथवा चेष्टा कर रहा है इस प्रकार चार्वाकको शिष्यादिमें बुद्धिका अस्तित्व स्वीकार करना पड़ता, क्यों

१ [illegible]
[illegible]
[illegible]
—[illegible]

कि परबुद्धि प्रत्यक्षसे अगम्य है। और इस तरह उसे कार्य-हेतु-जनित अनुमान स्वीकार करना पड़ता है।

(३) यदि चार्वाकसे प्रश्न किया जाए कि आप परलोक (स्वर्गनरकादि या जन्मान्तर), क्यों नहीं मानते ? तो वह यही उत्तर देगा कि परलोक उपलब्ध न होनेसे नहीं है। जिसकी उपलब्धि होती है उसका अस्तित्व माना जाता है। जैसे पृथिव्यादि भूततत्त्व। उसके इस उत्तरसे स्पष्ट है कि उसे परलोकादिका अभाव सिद्ध करनेके लिए अनुपलब्धि-लिंग जनित अनुमान भी स्वीकार करना पड़ता है[1]

इस विवेचनसे हम इस निष्कर्षपर पहुँचते हैं कि चार्वाकके लिए भी अनुमान प्रमाण मानना आवश्यक है। भले ही वह लोकव्यवहारमें उसे मान्यता प्रदान करे और परलोकादि अतीन्द्रिय पदार्थोंमें उसका प्रामाण्य निराकरण करे।[2] पर उसकी उपयोगिता और आवश्यकताको वह टाल नहीं सकता। जब प्रत्यक्षके प्रामाण्यमें सन्देह बद्धमूल हो जाता है तो अनुमानकी कसौटीपर कस जानेपर ही उसकी प्रमाणताका निखार होता है। इससे अनुमानकी उपयोगिता दिनकर-प्रकाशकी तरह प्रकट है। वास्तवमें ये दोनों उपजीव्य उपजीवक है। वस्तुसिद्धिमें अनुमान-का प्रत्यक्षसे कम मूल्य नहीं है। यह सच है कि प्रत्यक्ष अनुमानके मूलमें विद्यमान रहता है, उसके बिना उसकी उत्पत्ति सम्भव नहीं है, पर हमें यह भी नहीं भूलना चाहिए कि प्रत्यक्षकी प्रतिष्ठा अनुमानपर निर्भर है। सम्भवतः इसीसे 'युक्त्या यन्न घटामुपैति तदहं दृष्ट्वाऽपि न श्रद्दधे[3]', 'प्रत्यक्षपरिकलितमप्यर्थमनुमानेन बुभुत्सन्ते तर्करसिकाः[4] जैसे अनुमानके मूल्यवर्द्धक वाक्य उपलब्ध होते हैं और यही कारण है कि अनुमानपर जितना चिन्तन हुआ है—स्वतन्त्र एवं सख्याबद्ध ग्रन्थोंका निर्माण हुआ है—उतना किसी अन्य प्रमाणपर नहीं। व्याकरण, साहित्य, ज्योतिष, आयुर्वेद, गणित, विज्ञान प्रभृति सभी पर प्रायः अनुमानका प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। लोकव्यवहारमें अल्पज्ञ भी कार्यकारणभावकी शृंखला जोड़ते है। बिना पानीके प्यास नहीं बुझती, बिना भोजनके क्षुधा शान्त नहीं

१ प्रमाणेतरसामान्यस्थितेरन्यधियो गतेः। प्रमाणान्तरसद्भावः प्रतिषेधाच्च कस्यचित् ॥
—उद्धृत—प्र० प० पृष्ठ ६४।
यह कारिका जैन ग्रन्थोंमें धर्मकीर्तिके नामसे उद्धृत पायी जाती है। पर वह उनके प्रमाणवार्तिकमें उपलब्ध नहीं है।

२ 'यदि पुनर्लोकव्यवहाराय प्रतिपद्यत एवानुमानं लौकायतिकैः, परलोकादावेवानुमानस्य निराकरणात्, तस्याभावादिति मतम्, तदापि कुतः परलोकाद्यभावप्रतिपत्तिः ?
—विद्यानन्द, प्र० प० पृष्ठ ६४।

३ अकलंकदेव, अष्टश० अष्टस० पृष्ठ २३४ उद्धृत।

४ गंगेश, त० चिन्ता० पृष्ठ ४२४।

होती, यह सब कार्यकारणकी अविच्छिन्न शृङ्खला ही तो है। इस तरह हम अनुमानके महत्त्व, उपयोगिता, आवश्यकता और अनिवार्यताका अनायास आंक सकते हैं।

(ग) अनुमानकी परिभाषा

अनुमानशब्दकी निरुक्ति (अनु + मान)के अनुसार पश्चाद्वर्ती ज्ञानकी अनुमान संज्ञा है।

प्रश्न उठता है कि प्रत्यक्षको छोड़कर शेष सभी (स्मृति, प्रत्यभिज्ञा आदि) ज्ञान प्रत्यक्षके पश्चात् ही होते हैं। ऐसी स्थितिमें ये सब ज्ञान भी अनुमान कहे जायेंगे। अतः अनुमानसे पूर्व वह कौन-सा ज्ञान विवक्षित है जिसके पश्चात् होने वाले ज्ञानको अनुमान कहा है?

इसका उत्तर यह है कि अनुमानका अव्यवहित पूर्ववर्ती वह ज्ञानविशेष है, जिसके अव्यवहित उत्तरकालमें अनुमान उत्पन्न होता है। वह ज्ञानविशेष है व्याप्ति निर्णय (तर्क-ऊह चिन्ता)। उसके अनन्तर नियमतः अनुमान होता है। लिङ्गदर्शन, व्याप्तिस्मरण और पक्षधर्मताज्ञान[1] इनमेंसे कोई भी अनुमानके अव्यवहित पूर्ववर्ती नहीं है। लिङ्गदर्शन व्याप्तिस्मरणसे, व्याप्तिस्मरण पक्षधर्मताज्ञानसे और पक्षधर्मताज्ञान व्याप्ति निश्चयसे व्यवहित है। अतः लिङ्गदर्शन, व्याप्तिस्मरण और पक्षधर्मताज्ञान व्याप्ति निश्चयसे व्यवहित होनेसे अनुमानके साक्षात् पूर्ववर्ती नहीं हैं। यद्यपि पारम्पर्यसे उन्हें भी अनुमानका जनक माना जा सकता है। पर अनुमानका अव्यवहित पूर्ववर्ती ज्ञान व्याप्ति-निश्चय ही है, क्योंकि उसके अव्यवहित उत्तरकालमें नियमसे अनुमान आत्मलाभ करता है। अतः व्याप्तिनिश्चय ही अनुमानका पूर्ववर्ती ज्ञान है। आ० वादिराज भी यही लिखते हैं—

अत व्याप्तिनिर्णयस्य पश्चाद्भावि ज्ञानमनुमानम्।[1]

व्याप्ति निर्णयके पश्चात् होने वाले ज्ञान—प्रमाणको अनुमान कहते हैं।

वात्स्यायनने अनुमानशब्दकी निरुक्ति इस प्रकार बतलायी है—'मितेन लिङ्गेन लिङ्गिनोऽर्थस्य पश्चान्मानमनुमानम्'[2]—प्रत्यक्षप्रमाणसे ज्ञात लिंग द्वारा लिंगी—अर्थका अनु—पश्चात् उत्पन्न होने वाले ज्ञानको अनुमान कहा है। तात्पर्य यह कि लिंगज्ञानके पश्चात् जो लिंगी—साध्यका ज्ञान होता है वह अनुमान है। उद्योतकर इसी तरह दूसरे शब्दोंमें और कहते हैं कि—स्मृत्या लिङ्गपरामर्श

१ [illegible] । [illegible]।
—न्याय वि० वि० [illegible] पृष्ठ १२।
२ न्या० [illegible] ३।१।
३ न्या० वा० १।१।५।

प्रत्यक्षोऽर्थोऽनुमीयते'।[1] —लिंगलिंगीसम्बन्धस्मृति और लिंगदर्शन द्वारा अप्रत्यक्ष अर्थका अनुमान किया जाता है। इस प्रकार वात्स्यायनका अभिप्राय 'अनु' शब्दसे 'सम्बन्धस्मरण और लिंगदर्शनके पश्चात् अर्थको ग्रहण करनेका प्रतीत होता है। न्यायवार्तिककारका मत है कि 'यस्माल्लिङ्गपरामर्शादनन्तरं शेषार्थ-प्रतिपत्तिरिति। तस्माल्लिङ्गपरामर्शो न्याय्य इति,[2] —यत लिङ्गपरामर्शके अनन्तर शेषार्थ (अनुमेयार्थ)का ज्ञान होता है, अतः लिंगपरामर्शको अनुमान मानना न्याययुक्त है। इस तरह उद्योतकरके मतानुसार लिंगपरामर्श वह ज्ञान है जिसके पश्चात् अनुमिति उत्पन्न होती है। न्यायावतारके संस्कृतटीकाकार सिद्धर्षि गणि वात्स्यायनका अनुसरण करते हैं।[3] किन्तु तथ्य यह है कि लिङ्गदर्शन आदि व्याप्तिनिश्चयसे व्यवहित हैं। अतः व्याप्तिज्ञान ही अनुमानसे अव्यवहित पूर्ववर्ती है।

अनुमानशब्दकी निरुक्तिके बाद अब देखना है कि उपलब्ध जैन तर्कग्रन्थोंमें अनुमानकी क्या परिभाषा की गयी है? स्वामी समन्तभद्रने आप्तमीमांसामें 'अनुमेयत्व'[4] हेतुसे सर्वज्ञकी सिद्धि की है। आगे अनेक स्थलोंपर 'स्वरूपादिचतुष्टयात्'[5], 'विशेषणत्वात्'[6] आदि अनेक हेतुओंको दिया है और उनसे अनेकान्तात्मक वस्तुकी व्यवस्था तथा स्याद्वादकी स्थापना की है।[7] उनके इन 'अनुमेयत्व' आदि हेतुओंके प्रयोगसे अवगत होता है कि उनके कालमें स्याद्वादन्याय (जैन न्यायमें) विवादग्रस्त एवं अप्रत्यक्ष पदार्थोंकी सिद्धि अनुमानसे की जाने लगी थी। जिन उपादानोंसे अनुमान निष्पन्न एवं सम्पूर्ण होता है उन उपादानोंका उल्लेख भी उनके द्वारा इसमें बहुलतया हुआ है।[8] उदाहरणार्थ हेतु, साध्य, प्रतिज्ञा, सधर्मा, अविनाभाव, सपक्ष, साधर्म्य, वैधर्म्य, दृष्टान्त जैसे अनुमानोपकरणोंका निर्देश इसमें किया गया है। पर परिभाषाग्रन्थ न होनेसे उनकी परिभाषाएँ उपलब्ध नहीं हैं। यही कारण है कि अनुमानकी परिभाषा इसमें दृष्टिगत नहीं होती। एक स्थलपर हेतु (नय) का लक्षण[9] अवश्य निबद्ध है, जिसमें अन्यथानुपपत्तिविशिष्ट त्रिलक्षण

१ वही, १।१।५।
२ न्यायवा० १।१।५, पृष्ठ ४५।
३ अनुवादक विजयमूर्ति न्यायाव० का० ५, पृष्ठ ४९।
४ आप्तमी० का० ५।
५ वही का० १५।
६ वही, का० १७, १८।
७ वही० का० ११३।
८ वही, का० १६, १७, १८, १९ २६, २७, ७८, ८०, १०६ आदि।
९ सधर्मणैव साध्यस्य साधर्म्यादविरोधतः।
स्याद्वादप्रविभक्तार्थविशेषव्यञ्जको नयः॥
—आ० मी० का० १०६।

नही है तो वह साधन नहीं है।[1] भले ही उसमें तीन रूप और पाच रूप भी विद्यमान हो। जैसे 'स श्याम तत्पुत्रत्वात् इतरपुत्रवत्', 'वज्र लोहलेख्य पार्थिवत्वात् काष्ठवत्' इत्यादि हेतु तीन रूपो और पाच रूपोंसे सम्पन्न होने पर भी अविनाभावके अभावसे सद्धेतु नही है, अपितु हेत्वाभास है और इसीसे वे अपने साध्यके गमक—अनुमापक नही है। इस सम्बन्धमें हम विशेष विचार हेतु लक्षणके प्रसगमें करेंगे।

विद्यानन्दने अकलङ्कदेवका अनुमानलक्षण आदृत किया है और विस्तार पूर्वक उसका समर्थन किया है। यथा—

साधनात्साध्यविज्ञानमनुमान विदुर्बुधा ।[2]

"साध्याभावासम्भवनियमलक्षणात् साधनादेव शक्याभिप्रेताप्रसिद्धत्वलक्षणस्य साध्यस्यैव यद्विज्ञान तदनुमान आचार्या विदु ।[3]—

तात्पर्य यह कि जिसका साध्यके अभावमें न होनेका नियम है ऐसे साधनसे होनेवाला जो शक्य, अभिप्रेत और अप्रसिद्धरूप साध्यका विज्ञान है उसे आचार्य (अकलङ्क)ने अनुमान कहा है।

विद्यानन्द[4] अनुमानके इस लक्षणका समर्थन करते हुए एक महत्त्वपूर्ण युक्ति उपस्थित करते हैं। वे कहते है कि अनुमानके लिए उक्त प्रकारका साधन और उक्त प्रकारका साध्य दोनोंकी उपस्थिति आवश्यक ही नही अनिवार्य है। यदि उक्त प्रकारका साधन न हो तो केवल साध्यका ज्ञान अनुमान प्रतीत नही होता। इसी तरह उक्त प्रकारका साध्य न हो तो केवल उक्त प्रकारका साधनज्ञान भी अनुमान ज्ञात नही होता। आशय यह कि अनुमानके मुख्य दो उपादान हैं—साधनज्ञान और साध्यज्ञान। इन दोनोंकी समग्रता होने पर ही अनुमान सम्पन्न होता है।

माणिक्यनन्दि अकलङ्कके उक्त अनुमानलक्षणको सूत्रका रूप देते है और उसे स्पष्ट करनेके लिए हेतुका भी लक्षण प्रस्तुत करते हैं। यथा—

साधनात्साध्यविज्ञानमनुमानम् ।[5] साध्याविनाभावित्वेन निश्चितो हेतु ।[6]

---

१ (क) साध्याभावासम्भवनियमनिश्चयमन्तरेण साधनत्वासम्भवात्।
—विद्यानन्द त० श्लो० १।१३।२००, पृष्ठ २०६।
(ख) साध्याविनाभावित्वेन निश्चितो हेतु ।
—माणिक्यनन्दि, प० मु० ३।१५।

२ त० श्लो० १।१३।१२०, पृष्ठ १९७।

३ ४ वही, १।१३।१२० पृष्ठ १९७।

५ प० मु० ३।१४।

६ वही, ३।१५।

हेमचन्द्रने[1] भी माणिक्यनन्दिकी तरह अकलंककी ही अनुमान परिभाषा अक्षरशः स्वीकार की है और उसे उन्हींकी भाँति सूत्ररूप प्रदान किया है।

धर्मभूषणने[2] अकलंकका न्यायविनिश्चयोक्त लक्षण प्रस्तुत करके उसका विशदीकरण किया है। इस विशदीकरणसे वह भ्रान्ति नहीं रहती जो 'साधन' पदसे साधनको ही जैन दर्शनमें अनुमानका कारण मानने और साधनज्ञानको न मानने सम्बन्धी होती है। तात्पर्य यह कि उन्होंने 'साधन' पदका 'निश्चयपथप्राप्त साधन' अर्थ देकर उस भ्रान्तिको भी दूर किया है। इसके अतिरिक्त धर्मभूषणने[3] उद्योतकर द्वारा उपज्ञ तथा वाचस्पति आदि द्वारा समर्थित 'लिंगपरामर्शोऽनुमानम्'[4] इस अनुमान-परिभाषाकी समीक्षा भी उपस्थित की है। उनका कहना है कि यदि लिंगपरामर्श (लिंगज्ञान लिंगदर्शन) को अनुमान माना जाय तो उससे साध्य (अनुमेय) का ज्ञान नहीं हो सकता, क्योंकि लिंगपरामर्शका अर्थ लिंगज्ञान है और वह केवल लिंग—साधन सम्बन्धी अज्ञानको ही दूर करनेमें समर्थ है, साध्यके अज्ञानको नहीं। 'यथार्थमें वह्निव्याप्यधूमवानयं पर्वत' इस प्रकारके, लिंगमें होने वाले व्याप्तिविशिष्ट तथा पक्षधर्मताके ज्ञानको परामर्श कहा गया है—'व्याप्तिविशिष्टपक्षधर्मताज्ञानं परामर्शः।' अतः परामर्श इतना ही बतला सकता है कि धूमादि लिंग अग्नि आदि साध्योंके सहचारी हैं और वे पर्वत आदि (पक्ष) में हैं। और इस तरह लिंगपरामर्श मात्र लिंगसम्बन्धी अज्ञान का निराकरण करता है एवं लिंगके वैशिष्ट्यका ज्ञान कराता है, अनुमेय सम्बन्धी अज्ञानका निरास करता हुआ उसका ज्ञान करानेमें वह असमर्थ है। अतएव लिंगपरामर्श अनुमानकी सामग्री तो हो सकता है पर स्वयं अनुमान नहीं। अनुमानका अर्थ है अनुमेयसम्बन्धी अज्ञानकी निवृत्ति पूर्वक अनुमेयार्थका ज्ञान। इसलिए साध्य सम्बन्धी अज्ञानकी निवृत्तिरूप अनुमितिमें साधकतम करण तो साक्षात् साध्यज्ञान ही हो सकता है। अतः साध्यज्ञान ही अनुमान है, लिंगपरामर्श नहीं। यहाँ इतना और स्पष्ट कर देना चाहते हैं कि जिस प्रकार धारणानामक अनुभव स्मृतिमें, तात्कालिक अनुभव और स्मृति प्रत्यभिज्ञानमें, एवं साध्य तथा साधन विषयक स्मरण, प्रत्यभिज्ञान और अनुभव तर्कमें कारण माने जाते हैं,

---

१ साधनात्साध्यविज्ञानम् अनुमानम्।
—प्र० मी० १।२।७, पृष्ठ ३८।

२ न्या० दी० पृ० ६४, ६७।

३ वही, पृष्ठ ६६।

४ न्यायवा० १।१।५, पृष्ठ ४५।

उसी प्रकार व्याप्तिस्मरण आदि सहित लिंगज्ञान (लिंगपरामर्श) अनुमानकी उत्पत्तिमें कारण है।[१]

यहाँ ज्ञातव्य है कि लिंगपरामर्शको अनुमानकी परिभाषा माननेमें जो आपत्ति धर्मभूषणने प्रदर्शित की है वह उद्योतकरके भी ध्यानमें रही है अथवा उनके समक्ष भी प्रस्तुत की गयी जान पड़ती है।[२] अतएव उन्होंने 'भवतु वाऽयमर्थो लैंगिकी प्रतिपत्तिरनुमानमिति' अर्थात् 'लैंगिकी प्रतिपत्ति (लिंगीका ज्ञान) अनुमान है' कहकर साध्यज्ञानको अनुमान मान लिया है। जब उनसे कहा गया कि साध्यज्ञानको अनुमान मान लेने पर फलका अभाव हो जाएगा तो वे उत्तर देते हैं कि 'नहीं, हान, उपादान और उपेक्षाबुद्धियाँ उसका फल हैं।' उद्योतकर यहाँ एक बड़ी महत्त्वपूर्ण बात और कहते हैं।[३] वह यह कि सभी प्रमाण अपने विषयके प्रति भावसाधन हैं—'प्रमितिः प्रमाणम्' अर्थात् प्रमिति ही प्रमाण है और विषयान्तरके प्रति करण साधन हैं—'प्रमीयतेऽनेनेति' अर्थात् जिसके द्वारा अर्थ प्रमित हो उसे प्रमाण कहते हैं। इस प्रकार वे अनुमानकी उक्त साध्यज्ञानरूप परिभाषा भावसाधनमें स्वीकार करते हैं। धर्मभूषणने इसी महत्त्वपूर्ण तथ्यका उद्घाटन किया तथा साध्यज्ञान ही अनुमान है, इसका समर्थन किया।

इस प्रकार जैन अनुमानकी परिभाषाका मूल रूप स्वामी समन्तभद्रका 'सधर्मणैव साध्यस्य' इस आप्तमीमांसाकी कारिका (१०६)में निहित है और उसका विकसित रूप सिद्धसेनके न्यायावतार (का० ५)से आरम्भ होकर अकलंककी उपर्युक्त लघीयस्त्रय (का० १२) और न्यायविनिश्चय (द्वि० भा० २।१) गत दोनों परिभाषाओंमें परिसमाप्त है। लघीयस्त्रयगत अनुमानपरिभाषा तो इतनी व्यवस्थित, युक्त और पूर्ण है कि उसमें किसी भी प्रकारके सुधार, संशोधन, परिवर्द्धन या परिष्कारकी भी गुंजायश नहीं है। अनुमानका प्रयोजक-तत्त्व क्या है और स्वरूप क्या है, ये दोनों बातें उसमें समाविष्ट हैं।

गौतमकी 'तत्पूर्वकमनुमानम्'[४], प्रशस्तपादकी 'लिंगदर्शनात् संजायमानं लैंगि

---

१ धारणाख्योऽनुभवः स्मृतौ हेतुः। तादात्विकानुभवस्मृती मध्यमगाने। स्मृतिमध्यमि ज्ञानानुभवा साध्यसाधनविषयास्तर्के। तद्वल्लिंगज्ञानं व्याप्तिस्मरणादिसहकृतमनुमानोत्पत्तौ निबन्धनमित्येतत्सुसंगतमेव।
—न्यायदी० पृष्ठ ६६, ६७।

२ भवतु वाऽयमर्थो लैंगिकी प्रतिपत्तिरनुमानमिति। ननु च फलाभावो दोष उक्तः ? न दोषः। हानोपादानोपेक्षाबुद्धीनां फलत्वात्।
—न्यायवा० १।१।३, पृष्ठ २८, २९।

३ वही, १।१।३, पृ० २९।

४ न्या० सू० १।१।५।

कम्'[1] और उद्योतकरकी 'लिंगपरामर्शोऽनुमानम्'[2] परिभाषाओंमें हमें केवल कारणका निर्देश मिलता है, अनुमानके स्वरूपका नहीं। उद्योतकरकी एक अन्य परिभाषा 'लैंगिकी प्रतिपत्तिरनुमानम्'में[3] स्वरूपका ही उल्लेख है, कारणका उसमें कोई सूचन नहीं है। दिङ्नागकी 'लिंगाद्‌र्थदर्शनम्'[4] अनुमानपरिभाषा में यद्यपि कारण और स्वरूप दोनोंकी अभिव्यक्ति है, परन्तु उसमें लिंगको कारणके रूपमें सूचित किया है, लिंगके ज्ञानको नहीं। किन्तु तथ्य यह है[5] कि अज्ञायमान धूमादि लिंग अग्नि आदिके जनक नहीं हैं। अन्यथा जो पुरुष सोया हुआ है, अगृहीतव्याप्तिक है उसे भी पर्वतमें धूमके सद्भावमात्रसे अनुमान हो जाना चाहिए। किन्तु ऐसा नहीं है। पर्वतमें अग्निका अनुमान उसी पुरुषको होता है जिसने पहले महानस आदिमें धूम-अग्निको एक साथ अनेकबार देखा और उनका अविनाभाव ग्रहण किया, फिर पर्वतके समीप पहुँच कर धूमको देखा, अग्नि और धूमकी व्याप्ति (अविनाभाव)का स्मरण किया और फिर पर्वतमें उनका अविनाभाव जाना तब उस पुरुषको 'पर्वतमें अग्नि है' ऐसा अनुमान होता है।[6] केवल लिंगके सद्भाव-मात्रसे नहीं। अतः दिङ्नागके उक्त अनुमानलक्षणमें 'लिंगात्'के स्थानमें 'लिंगदर्शनात्' पद होने पर ही वह पूर्ण अनुमानलक्षण हो सकता है।

अकलंकदेवका 'लिंगात्साध्याविनाभावाभिनिबोधैकलक्षणात्। लिंगिधीरनुमानं तत्फलं हानादिबुद्धयः॥'[7] यह अनुमानलक्षण उक्त दोषोंसे मुक्त है। इसमें अनुमानके साक्षात् कारणका भी प्रतिपादन है और उसका स्वरूप भी निर्दिष्ट है। सबसे बड़ी बात यह है कि इसमें उन्होंने 'तत्फलं हानादिबुद्धयः' शब्दों द्वारा अनुमानके फलका भी निर्देश किया है। सम्भवतः इन्हीं सब बातोंसे उत्तरवर्ती सभी जैन तार्किकोंने अकलंककी इस प्रतिष्ठित और पूर्ण अनुमान-परिभाषाको ही

१ प्रश० भा० पृष्ठ ९६।

२ न्यायवा० १।१।५, पृ० ४५।

३ वही १।१।३, पृष्ठ २८।

४ न्या० प्र० पृष्ठ ७।

५ अज्ञायमानस्य तस्य (लिंगस्य) साध्यज्ञानजनकत्वे हि सुप्तादीनामगृहीतधूमादीनामप्यग्न्यादिज्ञानोत्पत्तिप्रसंग।

—न्या० दी० पृष्ठ ६७।

६ अगृहीतव्याप्तेरिव गृहीतविस्मृतव्याप्तेरपि पुंसोऽनुमानानुदयेन व्याप्तिस्मृतेरप्यनुमितिहेतुत्वात्। धूमदर्शनाच्चोद्बुद्धसंस्कारो व्याप्तिं स्मरति। 'यो यो धूमवान् स सोऽग्निमान् यथा महानस इति। तेन धूमज्ञाने जाते व्याप्तिस्मृतौ सत्यां यद्धूमज्ञानं तत् तृतीयं धूमवांश्चायम्" इति। तदेवाग्निमनुमापयति नान्यत्।

—तर्कभा० पृ० ७८, ७९।

७ लघीय० का० १२।

अपने तर्कग्रन्थोंमें अपनाया है। विद्यानन्द जैसे तार्किकमूर्धन्यने तो 'अनुमान विद्युद्बुधा'[1] कह कर और 'आचार्यों' द्वारा उस कथित बतला कर उसके महत्त्व का भी स्थापन किया है।

(घ) अनुमानका क्षेत्र विस्तार अर्थापत्ति और अभावका अन्तर्भाव

जैसा कि हम पहले निर्देश कर आये है कि परोक्ष प्रमाणके पांच भेद है—(१) स्मृति, (२) प्रत्यभिज्ञान, (३) तर्क, (४) अनुमान और (५) आगम। इनके अतिरिक्त अन्य प्रमाणान्तर जैन दर्शनमें अभ्युपगत नही है।

विचारणीय है कि जिन उपमान, अर्थापत्ति, अभाव, सम्भव, ऐतिह्य, निर्णय, प्रातिभ, आर्ष, सिद्धदर्शन और चेष्टाका उल्लेख करके उनके प्रमाण होने अथवा न होनेकी चर्चा अन्य दर्शनोंमें की गयी है उनके विषयमें जैन दर्शनका क्या दृष्टिकोण है? उनका स्वीकृत प्रमाणोंमें अन्तर्भाव किया गया है या उन्हें अप्रमाण कहा गया है?

गौतमने[2] प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्दके अतिरिक्त उपमानको भी चौथे प्रमाणके रूपमें स्वीकार किया है। मीमासादर्शनके भाष्यकार शबरस्वामीने[3] उक्त चार प्रमाणोंके साथ अर्थापत्ति और अभावका भी पाँचवें तथा छठे प्रमाणके रूपमें प्रतिपादन किया है। सम्भव आदिको जिन्होंने प्रमाण माना है, इसका स्पष्ट निर्देश उपलब्ध न्याय एव दर्शनके ग्रन्थोंमें नही मिलता। पर प्रशस्तपादने[4] उनका उल्लेख पूर्वक यथायोग्य अन्तर्भाव अवश्य दिखाया है।

प्रशस्तपादका मत[5] कि चौबीस गुणोंमें जो बुद्धि है, जिसे उपलब्धि, ज्ञान और प्रत्यय नामोंसे कहा जाता है, वह अनेक प्रकारके अर्थोंको जाननेके कारण यद्यपि अनेक प्रकारकी है फिर भी उसे दो वर्गोंमें विभक्त किया जा सकता है—(१) अविद्या और (२) विद्या। अविद्या चार प्रकारकी है[6]—(१) संशय, (२) विपर्यय (३) अनध्यवसाय और (४) स्वप्न। विद्याके भी चार भेद है[6]—(१) प्रत्यक्ष, (२) लैङ्गिक, (३) स्मृति और (४) आर्ष। इनमें प्रत्यक्ष[7] और लैङ्गिक[8] ये दो

---

१ त० श्लो० १।१३, पृ० १९७।
२ न्या० सू० १।१।३।
३ मी० द० भा० १।१।५।
४ प्रश० भा० पृ० १०९ १२९।
५ वही, पृ० ८३ ९३।
६ वही पृष्ठ ९४।
७ वही, पृ० ९८, ९९।
८ वही, पृ० १०६।

विद्याएँ प्रमाण हैं। पर स्मृति और आर्ष ये मात्र विद्याएँ (ज्ञान) हैं। वे न अतिरिक्त प्रमाण हैं और न उक्त दो प्रमाणोंमें अन्तर्भूत हैं क्योंकि वे परिच्छेदमात्र हैं, व्यवस्थापक नहीं[1]। प्रशस्तपादने 'शब्दादीनामप्यनुमानेऽन्तर्भावः समानविधित्वात्'[2] कहकर शब्द, चेष्टा उपमान, अर्थापत्ति, सम्भव तथा ऐतिह्यका अनुमानमें अन्तर्भाव किया है। निर्णय[3] एक विशेषदर्शनसे उत्पन्न अवधारणात्मक ज्ञान है जो कहीं प्रत्यक्षात्मक होता है और कहीं अनुमानात्मक। प्रत्यक्षात्मक निर्णय प्रत्यक्षप्रमाणमें और अनुमानात्मक निर्णय अनुमानमें अन्तर्भूत है। आर्ष[4] आर्षज्ञानरूप है। इसीको प्रातिभ कहते हैं। यह ऋषिविशेषोंको होता है, जो आत्म-मन संयोग और धर्मविशेषसे ग्रन्थोंमें कथित अथवा अकथित धर्मादि अतीन्द्रिय पदार्थोंको विषय करता है। यह अलौकिक प्रातिभ (आर्ष) है। लौकिकोंको भी यह कभी कदाचित होता है। उदाहरणार्थ 'कन्यका ब्रवीति श्वो मे भ्राताऽऽगन्तेति हृदयं मे कथयति' अर्थात् कन्या कहती है कि कल मेरा भाई आएगा, ऐसा मेरा दिल बोल रहा है। सिद्धदर्शनको[5] प्रशस्तपादने अलग नानान्तर तो नहीं माना, पर उसे प्रत्यक्ष और अनुमानके अन्तर्गत ही बतलाया है। कदाचित आर्षमें भी उसका अन्तर्भाव हो सकता है। इस प्रकार प्रशस्तपादने ज्ञानोंके अन्तर्भावका संक्षेपमें प्रतिपादन किया है।

गौतमने[6] ऐतिह्य, अर्थापत्ति, सम्भव और अभावका उल्लेख करके उनकी अतिरिक्त प्रमाणताकी मीमांसा करते हुए शब्दमें ऐतिह्यका और अनुमानमें अर्थापत्ति, सम्भव तथा अभाव इन तीनोंका अन्तर्भाव किया है।

जैन तार्किकोंने भी इन पर सूक्ष्म विचार किया है और उनकी पुष्कल चर्चा प्रस्तुत की है। जैनागमोंमें ज्ञान और उसके विभिन्न प्रकारोंका विस्तृत निरूपण उपलब्ध है। आर्हतदर्शनमें[7] ज्ञानको आत्माका स्वपरावभासक असाधारण गुण माना गया है और उसे उसका आत्मरूप (स्वभाव) स्वीकार किया है, संयोगज या समवायी नहीं। आवरणके न्यूनाधिक अभावसे वह मन्द, मन्दतर,

---

१ प्र० भा०, पृष्ठ १२८, १२९।

२ वही, पृ० १०६ ११२।

३ वही, पृ० १२७, १२८।

४ वही पृ० १२८, १२९।

५ वही, पृ० १२९।

६ न्यायसू० २।२।१, २।

७ तत्र ज्ञानं तावदात्मनः स्वपरावभासकः असाधारणो गुणः। स च अभ्रपटलविनिर्मुक्तस्य भास्वत इव निरस्तसमस्तावरणस्य जीवस्य स्वभावभूतं केवलज्ञानमित्युच्यते।
—यशोविजय, ज्ञानबि० प्र० पृष्ठ १।

मन्दतम, तीव्र, तीव्रतर, तीव्रतम जैसे अवच्छेदक भेदोंको धारण करता है तथा आगमभाषामें मति, श्रुत, अवधि मनःपर्यय और केवल पाँच मूल भेदों द्वारा व्यवहृत होता है। इनमें आद्य चार ज्ञानोंके भी अनेक उपभेद हैं। पर 'केवल' एक रूप है और पूर्ण है। उसमें अंश भेद नहीं है। यह जीवन्मुक्तों (अर्हतों) तथा पूर्ण मुक्तात्माओं (सिद्धों) के ही होता है। वैशेषिकोंके सिद्धदर्शनसे इसकी कुछ तुलना एवं पहचान की जा सकती है, सूक्ष्म, व्यवहित और दूरस्थ सभी पदार्थोंको यह युगपत् जानता है (तत्त्वज्ञानं प्रमाणं ते युगपत्सर्वभासनम्—आ० मी० १०१) और निरावरण होनेके अनन्तर फिर नष्ट नहीं होता—सदा विद्यमान रहता है। इसीसे इसे अविनाशी, असीम, पूर्ण और अनन्त कहा गया है।

तर्कयुगमें इन्हीं ज्ञानोंको परोक्ष और प्रत्यक्ष दो प्रमाणोंमें विभाजित किया है। मति और श्रुत ये दो इन्द्रियादि पराधीन होनेसे परोक्ष कहे गये हैं और शेष तीन इन्द्रियादिकी अपेक्षा न रखनेके कारण प्रत्यक्ष माने गये हैं। परोक्ष प्रमाण का क्षेत्र इतना व्यापक और विस्तृत है कि इसमें उन सभी ज्ञानोंका समावेश हो जाता है जिनमें इन्द्रिय और मनकी सहायता अपेक्षित है। ऐसे कुछ ज्ञानोंका उल्लेख 'मतिः स्मृतिः संज्ञा चिन्ताभिनिबोध इत्यनर्थान्तरम्'[1] सूत्र द्वारा आचार्य गृद्धपिच्छने किया है और 'इति' शब्दसे इसी प्रकारके अन्य ज्ञानोंके भी संग्रहकी उन्होंने सूचना की है। वे अन्य ज्ञान कौन हैं, इसका स्पष्ट निर्देश हमें आ० विद्यानन्दके विवेचनमें मिलता है। उन्होंने लिखा है[2] कि सूत्रकारने 'इति' शब्दसे, जो प्रकारार्थक है, बुद्धि, मेधा, प्रज्ञा, प्रतिभा, अभाव, सम्भव, अर्थापत्ति और उपमानका संग्रह किया है। अर्थग्रहणकी जिसमें शक्ति है उसे बुद्धि कहते हैं। यह मति (अवग्रहादि अनुभवविशेष) का प्रकार है। अर्थात् वह अनुभवरूप मतिज्ञानका एक भेद है। शब्दस्मरणकी शक्ति मेधा है। वह किन्हीं किन्हीं महा

---

१ त० सू० १।१३।

२ इति शब्दात्प्रकारार्थाद् बुद्धिर्मेधा च गृह्यते।
प्रज्ञा च प्रतिभाऽभावः सम्भवोपमिती तथा॥
बुद्धिर्मतेः प्रकारः स्यादर्थग्रहणशक्तिका।
मेधा स्मृतेः तथा शब्दस्मृतिशक्तिर्महात्मनाम्॥
ऊहापोहात्मिका प्रज्ञा चिन्तायाः प्रतिभा पुनः।
साहृदयादि मारे साहृदये त [illegible]॥
प्रत्यक्षमाना कर्णाचिद् दृष्टा साहृदर्शविद ।
संज्ञायाः, सम्भवादस्तु लैङ्गिकस्य तथा गतेः ॥
—त० श्लो० १।१३।२, ५, ६, ७, पृष्ठ १८८।

मनाओंके उत्पन्न होती है और स्मरणसामग्रीसे विशिष्ट होती है। यह स्मरणका प्रकार है। ऊहापोहरूप प्रज्ञा है। उसका चिन्ता (तर्क)में समावेश है। प्रसादगुणसे युक्त नवीन नवीन अर्थोंके ज्ञानको व्यक्त करनेवाली प्रतिभा भी चिन्ताका प्रकार है। सादृश्य विशिष्ट वस्तुमें या वस्तु विशिष्ट सादृश्यमें होने वाला सादृश्यज्ञानरूप उपमान संज्ञा (प्रत्यभिज्ञान का प्रकार है। अर्थात् 'गौके सदृश गवय होता है' इस वृद्धवाक्यका स्मरण कर अरण्यमें गवयको देखकर 'ऐसी ही गाय होती है' ऐसा सदृशका ज्ञान होना अथवा इसका सादृश्य गायमें है, ऐसा सादृश्यका ज्ञान होना उपमान है। यह सादृश्यप्रत्यभिज्ञानसे भिन्न नहीं है।

इसी सन्दर्भमें विद्यानन्दने सम्भव, अर्थापत्ति, अभाव और कोई उपमानज्ञानको लिंगजन्य होनेसे उन्हें लैंगिक (अनुमान)के अन्तर्गत प्रतिपादन किया है। हम पीछे प्रशस्तपादका उल्लेख कर आए हैं। उन्होंने भी इन चारों ज्ञानोंको लिंगजन्य बतला कर उनका अनुमानमें अन्तर्भाव किया है।

अर्थापत्ति और अभाव अनुमानसे पृथक् नहीं हैं

मीमांसक अर्थापत्तिको अनुमानसे पृथक् प्रमाण माननेमें प्रधान युक्ति यह देते हैं कि अनुमानमें दृष्टान्तकी अपेक्षा होती है और साध्यसाधनके अविनाभाव (व्याप्ति)का निर्णय दृष्टान्तमें होता है। पर अर्थापत्तिमें दृष्टान्त अपेक्षित नहीं होता और न अन्यथानुपपद्यमान तथा कल्पित अर्थके अविनाभावका निश्चय दृष्टान्तमें होता है, अपितु पक्षमें ही होता है। इसी प्रकार अनुमानमें बहिर्व्याप्ति दिखायी जाती है। परन्तु अर्थापत्तिमें केवल अन्तर्व्याप्तिको माना गया है। अतः अर्थापत्ति अनुमानसे पृथक् प्रमाण है?

जैन तार्किकोंका[1] मत है कि अर्थापत्ति और अनुमानका उक्त भेद वास्त-

---

१ दृष्टान्तनिरपेक्षत्वं लिंगस्यापि निवेदितम्।
तन्न मानान्तरं लिंगादर्थापत्त्यादिवेदनम् ॥
सिद्धः साध्याविनाभावो ह्यर्थापत्तेः प्रमाणकः।
—त० श्लो० १।१३।३९०, ३८६, पृष्ठ २१७।

(ख) ततो यथाऽविनाभाव प्रमाणास्ति न साधने।
अदृष्टान्तेऽपि निर्णीतस्तया स्यादन्यहेतुषु ॥
—वादीभसिंह, स्या० सि० ९।९ पृष्ठ ३२।

(ग) ननु लिंगस्य दृष्टान्तधर्मिणि प्रवृत्तप्रमाणवशात्सर्वोपसंहारेण साध्यनियतत्वनिश्चय, अर्थापत्त्युत्थापकस्य तु साध्यधर्मिण्येव प्रवृत्तप्रमाणात्सर्वोपसंहारेणादृष्टार्थान्यथानुपपद्यमानत्वनिश्चय इत्यनयोर्भेद इत्ययुक्तम्, न हि लिंग सपक्षानुगममात्रेण गमकम्, वज्रस्य लोहलेख्यत्वे पार्थिवत्ववत्, दाने तत्पुत्र त्वत्वत्। किं तर्हि? 'अन्तर्व्याप्तिबलेन' इति —।
—प्रभाचन्द्र प्रमेयक० मा० २।२, पृष्ठ १९४।

सिद्ध नहीं है। यथार्थमें अनुमानमें भी दृष्टान्त आवश्यक नहीं है। 'सर्वमनेकान्तात्मकं सत्त्वात्, प्रमेयत्वाद्वा'—सभी वस्तुएँ अनेकान्तस्वरूप हैं, क्योंकि वे सत् हैं अथवा प्रमेय हैं। 'अद्वैतवादिनोऽपि प्रमाणानि सन्ति इष्टानिष्टसाधनदूषणान्यथानुपपत्तेः'—अद्वैतवादीके भी प्रमाण हैं अन्यथा इष्टका साधन और अनिष्टका दूषण नहीं बन सकेगा, इत्यादि अनुमानोंमें दृष्टान्त नहीं है और उनकी व्याप्तिका निर्णय पक्षमें ही होता है। अतः जिस तरह इन अनुमानोंमें दृष्टान्तके बिना भी पक्षमें ही अविनाभावका निर्णय हो जाता है उसी तरह अन्य हेतुओंमें भी समझ लेना चाहिए। यहाँ कहा जा सकता है[1] कि बिना दृष्टान्तके साध्य-साधनके अविनाभावका निर्णय पक्षमें कैसे हो सकता है, क्योंकि वहाँ साध्य तो अज्ञात है और जब तक साध्य तथा साधन दोनोंका ज्ञान नहीं होगा तब तक उनके अविनाभावका निश्चय असम्भव है? यह कथन ठीक नहीं है, क्योंकि दृष्टान्तके बिना भी उल्लिखित हेतुओंमें अविनाभावका निश्चय विपक्षमें बाधक प्रमाणके प्रदर्शन एवं तर्कसे होता है। यही दोनों समस्त अनुमानोंमें व्याप्ति-निश्चायक हैं। व्याप्तिनिश्चयके लिए यह आवश्यक नहीं कि साध्यका ज्ञान होने पर ही उसका निश्चय हो, क्योंकि व्याप्ति तो हेतुका स्वरूप है[2] और हेतुका ज्ञान हेतु प्रयोगके समय हो जाता है। तात्पर्य यह कि दृष्टान्तके बिना भी केवल पक्षमें अथवा पक्षके अभावमें भी विपक्षमें बाधक प्रमाणके बल तथा तर्कसे साध्य-साधनके अविनाभावका निर्णय हो जाता है। अतः दृष्टान्तका सद्भाव असद्भाव अनुमान और अर्थापत्तिके पार्थक्यका प्रयोजक नहीं है।

बहिर्व्याप्ति और अन्तर्व्याप्ति भी अनुमान और अर्थापत्तिकी भेदक रेखाएँ नहीं हो सकतीं। यथार्थमें बहिर्व्याप्ति अव्यभिचारिणी व्याप्ति नहीं है। 'स श्यामस्तत्पुत्रत्वात् इतरतत्पुत्रवत्' इत्यादि स्थलोंमें बहिर्व्याप्तिके विद्यमान रहने पर भी

---

१ दृष्टान्तरहिते कस्मादविनाभावनिर्णयः ।
अन्यत्र ग्रावसम्बन्धसाध्यसाधनयोर्भवेत् ॥
पक्षे तन्निर्णयो न स्यात्साध्यस्याप्रतिपत्तितः ।
साध्यसाधनवित्तौ हि पक्षे तन्निर्णयो भवेत् ॥
इति चेत्पक्ष एव स्यादविनाभावनिर्णयः ।
विपक्षे बाधसामर्थ्यात्तर्कोद्गतादपि निश्चयः ॥
—वादीभसिंह स्याद्वादसि० ६।१०, १२, ११।

२ इति चेदविनाभावः साध्याज्ञानेऽपि गम्यते ।
तस्य हेतोः स्वरूपत्वात्सामर्थ्याद्वाऽस्य निर्णयः ॥
—वही, ५।१४।

अन्तर्व्याप्तिके अभावमें 'तत्पुत्रत्व' आदि हेतु साध्यके गमक नहीं है।[1] वास्तवमें अन्तर्व्याप्तिके बलसे ही हेतुको जैनदर्शनमें गमक माना गया है। अतः अन्तर्व्याप्ति ही वास्तविक व्याप्ति है, बहिर्व्याप्ति नहीं और अन्तर्व्याप्तिसे विशिष्ट हेतु द्वारा उत्पन्न ज्ञानको ही अनुमान कहा गया है। अतएव अर्थापत्ति और अनुमानमें कोई भेद नहीं है—अनुमानमें ही उसका अन्तर्भाव है क्योंकि दोनोंका प्रयोजक तत्त्व एक अविनाभाव (अन्यथानुपपत्ति-अन्तर्व्याप्ति) ही है और उससे विशिष्ट—अविनाभावी लिंगसे ही दोनों उत्पन्न होते हैं। अन्यथानुपपद्यमान अर्थ और अविनाभावी लिंगमें तात्त्विक कोई अन्तर नहीं है। पक्षधर्मत्वसहिता अर्थापत्ति, पक्षधर्मत्वरहिता अर्थापत्ति, प्रत्यक्षार्थापत्ति, अनुमानार्थापत्ति, उपमानार्थापत्ति, शब्दार्थापत्ति, अर्थापत्तिपूर्विका अर्थापत्ति और अभावार्थापत्ति ये अर्थापत्तिके भेद अविनाभावरूप एकलक्षणसे लक्षित होनेसे अनुमानका ही विस्तार है।

अभावको प्रमाणान्तर स्वीकार करने वाले भाट्ट मीमांसकोंका मत है[2] कि यतः वस्तु भावाभावात्मक है, अतः उसके भावांशका ग्रहण तो प्रत्यक्षादि पाँच भावप्रमाणोंसे हो सकता है। परन्तु उसके अभावांशका परिज्ञान उनके द्वारा सम्भव नहीं है, क्योंकि प्रमेय भिन्न है। अतएव वहाँ प्रत्यक्षादि पाँच प्रमाणोंका प्रवेश नहीं है वहाँ अभावको प्रमाण माना गया है। प्रत्यक्षसे जब हम घटरहित भूतलको देखते हैं और प्रतियोगी घटका स्मरण करते हैं तो 'यहाँ घड़ा नहीं है' इस प्रकारका इन्द्रियनिरपेक्ष मानसिक नास्तिताज्ञान होता है। यह नास्तिता ग्राही ज्ञान ही अभावप्रमाण है?

जैन विचारकोंका मन्तव्य है कि जब वस्तु भावाभावात्मक है और भावांश अभावांशसे भिन्न नहीं है तो जो प्रमाण भावांशको जानेगा वही अभावांशको जान लेगा, उसे जाननेके लिए अलग प्रमाणकी आवश्यकता नहीं है। तथ्य है कि जब यह

---

१ किं च पक्षादिधर्मत्वेऽप्यन्तर्व्याप्तेरभावतः ।
तत्पुत्रत्वादिहेतूनां गमकत्वं न दृश्यते ॥
पक्षधर्मत्वहीनोऽपि गमकः कृत्तिकोदयः ।
अन्तर्व्याप्तेरतः सैव गमकत्वप्रसाधनी ॥
—स्या० सि०, ४।८२, ८३।

२ प्रमाणपंचकं यत्र वस्तुरूपे न जायते ।
वस्तुसत्तावबोधार्थं तत्राभावप्रमाणता ॥
गृहीत्वा वस्तुसद्भावं स्मृत्वा च प्रतियोगिनम् ।
मानसं नास्तिताज्ञानं जायतेऽक्षानपेक्षया ॥
न तावदिन्द्रियेणैषा नास्तीत्युत्पाद्यते मतिः ।
भावांशेनैव सम्बन्धो योग्यत्वादिन्द्रियस्य हि ॥
—कुमारिल, मी० श्लो० अभाव० प० श्लो० १, २७, १८।

कहते हैं कि 'हम घटरहित भूतलको देखते हैं' तो भूतलके साथ उसके विशेषण रूपसे घटरहितताको भी देखते हैं। यह असम्भव है कि दण्डवाले देवदत्तको देखें और दण्डको न देखें। अत विशेषणके जानके बिना 'दण्डवाला देवदत्त' ऐसा विशिष्ट ज्ञान नहीं हो सकता। इसी प्रकार घटरहित भूतलको देखते समय उसके घटरहितता विशेषणका ज्ञान हुए बिना 'घटरहित भूतल' ऐसा विशिष्ट प्रत्यक्ष नहीं हो सकता। अत जब हम ऐसा जानते हैं या शब्दप्रयोग करते हैं कि 'घट रहित भूतल है' या 'भूतल घटरहित है' तो अनिन्द्रिय प्रत्यक्ष (मानस प्रत्यक्ष) द्वारा ही घटाभावका ज्ञान होता है।[1] किन्तु जब हम ऐसा जानते या ज्ञान करते हैं कि 'यहा घडा नहीं है, क्योंकि उपलब्ध नहीं होता', तो यह घटाभावका अनुपलब्धिलिंगजनित अनुमान है।[2] सच यह है कि अनेकबार भूतल पर घडा देखा था, परन्तु अमुक बार उसका दर्शन नहीं हुआ तो वहा स्वभावत अकेले भूतलको देखने और भूतलसंसृष्ट घडेका स्मरण होने पर 'यहा घडा नहीं है, क्योंकि वह दिखनेमें नहीं आता, यदि होता तो अवश्य दिखाई देता' इस प्रकारका ऊहापोह (तर्क) पूर्वक उत्पन्न यह लैंगिक (अनुमान) ज्ञान ही है भले ही उसे मानस कहा जाए, क्योंकि अनुमान भी मानसज्ञानका एक प्रकार है। अत 'अभावप्रमाण अनुमानमें अर्थान्तर नहीं है—उसीमें उसका समावेश है। यही कारण है कि अनुमानके प्रधान अग हेतुके भेद प्रभेदोंमें प्रतिषेधसाधक उपलब्धि हेतु और विधि तथा प्रतिषेधसाधक अनुपलब्धि हेतुओंकी भी परिगणना की गयी है[3] और उनसे होने वाले अनुमेयार्थ—अभावके ज्ञानको अनुमान प्रतिपादन किया है।

सम्भवका अनुमानमें अन्तर्भाव

सम्भव प्रमाण भी अनुमानसे भिन्न नहीं है। यह एक प्रकारका सम्भाव

---

१ भावाभावात्मके भावे भावविन्नास्त्यभाववित्॥
प्रागभावादयो भावा नन्वभावप्रमा, तत।
भावप्रमाणतोऽन्यायास्तस्या एवानिराकरणात्।
—शान्तिसूरि, सम्पा० दरबारीलाल कोठिया, स्याद्वादसि० १९४८, १,३।
निषेध्याधारवस्त्वन्तरं प्रतियोगिस्मरणं प्रत्यक्षं अप्रत्यक्षं वा ? ।
द्वितीयपक्षे अभावप्रमाणवैयर्थ्यम्, प्रत्यक्षेणैव प्रतियोगिनाऽभावस्य ... ।
—प्रभाचन्द्र, प्रमेयक० मा० २।२, पृष्ठ १०१।

२ अस्ति ज्ञाननिष्ठायां प्राक्तिनायां घटे स्मृति ।
अनुपलब्धा नास्तीत्यनुमानं मतिमितम्॥
स्वार्थोपलब्धिमूलभूतादिस्मरणं भवेत्।
हेत्वादिवचन सम्प्रदायतोऽपि च साऽनुमा॥
वादीभसिंह, स्या० सि० १२।३, ५।

३ परीक्षामुख ३।५४ ६७-८५।

नात्मक ज्ञान है। जैसे 'सम्भवति सहस्रे शतम्' अर्थात् हजारमें सौ सम्भव है। अथवा दो सेर वस्तुको देखकर उसमें एक सेर वस्तुको सम्भावना करना। यह ज्ञान अनुमानके अन्तर्गत आ जाता है, क्योंकि प्रत्यक्ष—सहस्र या दो सेरको देखकर परोक्ष—सौ या एक सेरका अनुमान किया जाता है। विद्यानन्दने इसका उल्लेख करके इसे अनुमानमें अन्तर्भूत किया है।[1]

प्रातिभका अनुमानमें समावेश

विद्यानन्दने[2] प्रातिभज्ञानका भी निर्देश किया और उसका अनुमानमें समावेश किया है। जिस रत्नादिके प्रभाव एवं मूल्यादिको सामान्यजन न जान सकें, किन्तु अत्यन्त अभ्यासके कारण तद्विशेषज्ञ व्यक्ति उसके प्रभाव एवं मूल्यादिको तत्काल जान लें, ऐसे ज्ञानको प्रातिभ कहा गया है। यह ज्ञान अनुमान ही है क्योंकि जिन हेतुओंसे यह होता है वे लिंगसे भिन्न नहीं हैं। अतः यह लैंगिक ही है।

यहाँ उल्लेखनीय है कि विद्यानन्दसे पूर्व अकलङ्कने[3] भी तत्त्वार्थवार्तिकमें उपमान, शब्द, ऐतिह्य, अर्थापत्ति, सम्भव और अभावके उल्लेख पूर्वक उपमान, शब्द और ऐतिह्यका श्रुतमें एवं अर्थापत्ति, सम्भव और अभावका अनुमानमें अन्तर्भाव किया है। अकलंकको यहाँ एक विशेषता परिलक्षित होती है। उन्होंने[4] अनुमानका भी श्रुतमें समावेश किया है। उनका मत है कि स्वप्रतिपत्तिकालमें वह अनक्षरश्रुत है और परप्रतिपादन (प्रतिपत्ति) कालमें अक्षरश्रुत। यहाँ अकलङ्कदेवने षट्खण्डागमकी परम्परानुसार अनुमानको श्रुत बतलाया है। हम पहले लिख चुके हैं कि आगममें एक अर्थसे दूसरे अर्थके जाननेको श्रुत कहा गया है। अनुमानमें भी एक अर्थ (धूमादिक)से दूसरे अर्थ (अग्न्यादिक)की प्रतिपत्ति की जाती है। अतः आगमकी परम्पराको ध्यानमें रखकर ही अकलंकदेवने तत्त्वार्थवार्तिकमें अनुमानको श्रुत (अनक्षरश्रुत और अक्षरश्रुत)में अन्तर्भूत किया है। ध्यान रहे कि

---

१ सम्भव प्रमाणान्तरमाढकं दृष्ट्वा सम्भवत्यर्द्धाढकमिति प्रतिपत्तेरन्यथा विरोधात्।
सम्भवादेश्च यो हेतु सोऽपि लिंगान्न भिद्यते।
त० श्लो० वा० १।१३।३८८, ३८९ पृ० २१७।

२ प्रातिभं च प्रमाणान्तरमत्यन्ताभ्यासादन्यजनावेद्यस्य रत्नादिप्रभावस्य झटिति प्रतिपत्तेर्दर्शनादित्यन्ये तान् प्रतीदमुच्यते।
—वही १।१३।३८८, पृष्ठ २१७।

३ तत्त्वार्थवा० १।२०।१५, पृ० ७८।

४ 'यस्मादेतान्यनुमानादीनि श्रुते अन्तर्भवन्ति तदेतत्त्रितयमपि (अनुमानं) स्वप्रतिपत्तिकाले अनक्षरश्रुतं परप्रतिपादनकाले अक्षरश्रुतम्।
—तत्त्वार्थवा० १।१३।१५, पृष्ठ ७८।

उन्होंने[1] उपमान, अर्थापत्ति, सम्भव और अभावको भी स्वप्रतिपत्तिकालमें अनक्षरश्रुत और परप्रतिपत्तिकालमें अक्षरश्रुत कहा है, क्योंकि इनके द्वारा भी दोनों प्रकारकी प्रतिपत्ति होती है।

पर विद्यानन्द[2] स्वप्रतिपत्तिकालमें होने वाले अनुमान—स्वार्थानुमानको तत्त्वार्थसूत्रकार आचार्य गृद्धपिच्छके अभिप्रायानुसार अभिनिबोधनामक विशिष्ट मतिज्ञान बतलाते हैं, उसे वे श्रुत (अनक्षरश्रुत) नहीं कहते, क्योंकि वह शब्द योजनारहित होता है।[3] किन्तु वे परार्थानुमान (परप्रतिपत्तिकालमें होनेवाले अनुमान) का ही श्रोत्रमति और श्रोत्रमतिजन्य अनक्षरश्रुत और अक्षरश्रुत दोनोंरूप प्रतिपादन करते हैं।[4] इस तरह हम देखते हैं कि विद्यानन्द परार्थानुमानको ही श्रुतके अन्तर्गत मानते हैं, स्वार्थानुमानको नहीं।

यहाँ अकलंक और विद्यानन्दके प्रतिपादनोंमें एक सूक्ष्म अन्तर और दिखाई देता है। अकलंक स्वप्रतिपत्तिकालमें होनेवाले अनुमान (स्वार्थानुमान) को अनक्षरश्रुत और परप्रतिपत्तिकालमें होनेवाले अनुमान (परार्थानुमान) को अक्षरश्रुत कहते हैं।[5] किन्तु विद्यानन्द परार्थानुमानको ही अनक्षरश्रुत और अक्षरश्रुत दोनोरूप प्रकट करते हैं।[6] इसका कारण यह प्रतीत होता है कि वे स्वार्थानुमानको शब्दयोजनारहित विशिष्टमतिज्ञान (अभिनिबोध-मतिज्ञान) मानते हैं और अपनी इस मान्यताका आधार तत्त्वार्थसूत्रकारके 'मति स्मृति[7] ' आदि सूत्रमें आये 'अभिनिबोध' को, जो मतिज्ञानका पर्याय है और जिसे वक्ता एक

---

१ यथा गौस्तथा गवय केवलं सास्नारहित इत्युपमानमपि स्वप्रतिपत्तिविषयत्वात् अनक्षरश्रुते अन्तर्भवति। परेषामप्यर्थापत्त्यादीनामनुक्तानामुपमानवन्निर्णय पूर्ववत् श्रुतान्तर्गतिः।

—तत्त्वार्थवा० १।२०।१५, पृ० ७८।

२ तदेतत्साधनात् साध्यविज्ञानमनुमानं स्वार्थमभिनिबोधलक्षणं विशिष्टमतिज्ञानं साध्यं प्रत्यभिमुखान्नियमितात्साधनादुपजातबोधस्य तथाभिनिबोध इति संज्ञाप्रतिपादनात्।

—प्र० प० पृ० ७६।

३ 'लिंगजो बोधः शब्दयोजनारहितोऽभिनिबोध एवेति। सर्वं स्वार्थानुमानं तु विना शब्दयोजनात्।'

—तत्त्वार्थश्लो० वा० १।१३।३८८, पृ० २१६।

४ परार्थमनुमानमनक्षरश्रुतज्ञानं अक्षरश्रुतज्ञानं च, तस्य श्रोत्रमतिपूर्वकस्य चक्षुरादिमतिपूर्वकस्य च तथात्वोपपत्तेः।

—प्र० प० पृ० ७६।

५. तदेतन्मतिज्ञानं (अनुमानं) स्वप्रतिपत्तिकाले अनक्षरश्रुतं परप्रतिपादनकाले अक्षरश्रुतम्।

—त० वा० १।१३।१५, पृ० ७८।

६ प्र० प० पृ० ७६। तथा पिछले पृष्ठका फुटनोट।

७ तत्त्वार्थसू० १।१३।

कहा जाता है,[1] बतलाते हैं। कुछ भी हो, अनुमान चाहे मतिज्ञान हो, चाहे श्रुतज्ञान। वह परोक्षप्रमाण तो है ही, और वह इतना व्यापक एवं विस्तृत क्षेत्रवाला है कि उसमें अर्थापत्ति, सम्भव और अभावका अन्तर्भाव हो जाता है, जैसा कि हम ऊपर देख चुके हैं। अकलङ्कने इतना विशेष और प्रतिपादन किया है कि ये तीनों तथा उपमान स्वप्रतिपत्ति भी कराते हैं और परप्रतिपत्ति भी। चेष्टा और प्रातिभ भी लिंगज होनेसे अनुमानमें ही अन्तर्भुक्त हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि जैन अनुमानका क्षेत्र बहुत विस्तृत और विशाल है। नाना ज्ञानोंको एकत्र लाने, जोड़ने और उन्हें 'अनुमान' जैसी व्यापक संज्ञा देनेवाली जो महत्त्वपूर्ण कड़ी है वह है 'अन्यथानुपपन्नत्व' अर्थात् जो ज्ञान अन्यथानुपपन्नसाधनज्ञानजन्य है वे सब अनुमान हैं। अन्यथानुपपन्नत्वका[2] विचार आगे किया जाएगा।

१ साधनादुपजातबोधस्य तत्फलस्य ।
—प्र० प० पृष्ठ ७६।

२ 'इदमन्तरेण इदमनुपपन्नम्' इसके बिना यह नहीं होता—अग्निके बिना धूम नहीं होता, इस प्रकारके अनुमान प्रयोजक तत्त्वको 'अन्यथानुपपन्नत्व' कहा गया है।

अध्याय : ३ :

प्रथम परिच्छेद

अनुमानभेद-विमर्श

पिछले अध्यायमें अनुमानके स्वरूपकी मीमांसा की गयी है। यहाँ उसके भेदोंपर विमर्श किया जायेगा।

वैशेषिक

वैशेषिकसूत्रकारने[1] लिङ्ग (हेतु) से उत्पन्न होनेवाले लैङ्गिक (अनुमान) के पाँच भेदोंका निर्देश किया है। वे ये हैं—१ कार्य, २ कारण, ३ संयोगि, ४ विरोधि और ५ समवायि। पर वस्तुतः ये लिङ्गके भेद हैं। कारणमें कार्यका उपचार करके उन्हें लैङ्गिकके भेद कहा गया है। भाष्यकार प्रशस्तपादने[2] अन्य दो प्रकारसे अनुमानके भेदोंका प्रतिपादन किया है। प्रथम प्रकारसे दृष्ट और सामान्यतोदृष्ट ये दो भेद हैं तथा द्वितीय प्रकारसे स्वनिश्चितार्थानुमान और परार्थानुमान ये दो हैं। द्वितीय प्रकारसे इन दो भेदोंकी कल्पना भाष्यकारकी स्वोपज्ञ जान पड़ती है,

---

१ अस्येदं कार्यं कारणं संयोगि विरोधि समवायि चेति लैङ्गिकम्।
—वैशे० सू० ९।२।१।

२ (क) तत्तु द्विविधं दृष्टं सामान्यतोदृष्टं च।
—प्रश० भा० पृ० १०४।

(ख) अथवाऽग्निज्ञानमेव प्रमाणं प्रमितिरग्नौ गुणदोषमाध्यस्थ्यदर्शनमित्येतत् स्वनिश्चितार्थमनुमानम्।

पञ्चावयवेन वाक्येन स्वनिश्चितार्थप्रतिपादनं परार्थानुमानम्। पञ्चावयवेनैव वाक्येन संशयितविपर्यस्ताव्युत्पन्नानां परेषां स्वनिश्चितार्थप्रतिपादनं परार्थानुमानं विज्ञेयम्।
—वही पृ० १०६, ११३।

क्योंकि वह उनसे पूर्व दर्शन ग्रन्थोंमें उपलब्ध नहीं होती। जब लिङ्गसे लिङ्गी (अनुमेयार्थ) का ज्ञान स्वयं किया जाता है तब स्वनिश्चितार्थानुमान (स्वार्थानुमान) कहलाता है और जब स्वनिश्चित अनुमेयार्थका प्रतिपादन पञ्चावयव वाक्य द्वारा दूसरोंके लिए किया जाता है, जिन्हें अनुमेयमें सन्देह, भ्रान्ति या अनिश्चय है, तब वह परार्थानुमान कहा जाता है।

मीमांसा

मीमांसादर्शनमें शबरस्वामी द्वारा प्रशस्तपादकी तरह अनुमानके द्वितीय प्रकारके भेद तो स्वीकृत नहीं हैं किन्तु प्रथम प्रकारके भेद स्वीकृत हैं[1]। इतना ही अन्तर है कि प्रशस्तपादके अनुमानके प्रथम भेदका नाम 'दृष्ट' है और शबरस्वामीके अनुमानका आद्य भेद 'प्रत्यक्षतोदृष्टसम्बन्ध'। इसी तरह अनुमानके दूसरे भेदका नाम प्रशस्तपादने 'सामान्यतोदृष्ट' और शबरने 'सामान्यतोदृष्टसम्बन्ध' दिया है। दोनों लगभग समान ही हैं। सम्भव है दोनों दर्शनोंके इन अनुमानभेदोंके मूलमें एक ही विचारधारा रही हो या एकने दूसरेका कुछ परिवर्तनके साथ अनुसरण किया हो।

इन दोनों दर्शनोंके अनुमानके दूसरे भेदपर गौतमके न्यायसूत्रोक्त तीसरे अनुमान 'सामान्यतोदृष्ट' का प्रभाव हो, तो आश्चर्य नहीं क्योंकि न्यायसूत्रमें वह उनसे पहले उपलब्ध है।

न्याय

अक्षपादने[2] अनुमानके तीन भेद प्रतिपादित किये हैं—१ पूर्ववत्, २ शेषवत् और सामान्यतोदृष्ट।

न्यायभाष्यकारने[3] इन्हीं तीनका समर्थन किया है और उनकी दो व्याख्याएँ प्रस्तुत की हैं। न्यायवार्तिककारने[4] न्यायसूत्र और न्यायभाष्यके समर्थनके अतिरिक्त अनुमानके केवलान्वयी, केवलव्यतिरेकी और अन्वयव्यतिरेकी ये तीन नये भेद भी परिकल्पित किये हैं। 'त्रिविधम्'की व्याख्यारूपमें उन्होंने सर्वप्रथम यही तीन भेद दिखाये हैं। इसके बाद अन्य व्याख्याएँ दी हैं। इन व्याख्याओंमें न्यायभाष्योक्त

---

१ तत्तु द्विविधम्। प्रत्यक्षतोदृष्टसम्बन्धं सामान्यतोदृष्टसम्बन्धं च।
—शा० भा० १।१।५, पृ० ३६।

२ अथ तत्पूर्वकं त्रिविधमनुमानं पूर्ववच्छेषवत्सामान्यतोदृष्टं च।
—न्या० सू० १।१।५।

३ न्या० भा० १।१।५, पृ० २२।

४ त्रिविधमिति। अन्वयी व्यतिरेकी अन्वयव्यतिरेकी चेति।
न्या० वा० १।१।५, पृ० ४६।

पराकृत वेदितव्यम्' कहकर उनका निरास किया है। प्रभाचन्द्रने[1] भी उक्त सात अनुमानोंका सविवेचन समालोचन किया है। इससे प्रतीत होता है कि सांख्य दर्शनमें सप्तविध अनुमानोंकी भी मान्यता रही है। पर यह सप्तविध अनुमानकी मान्यता सांख्यदर्शनके उपलब्ध ग्रन्थोंमें दृष्टिगोचर नहीं होती।

चरकशास्त्रमें[2] भी न्यायसूत्रके अनुसार बिल्कुल उन्हीं नामोंसे अनुमानके तीन भेद निर्दिष्ट हैं।

बौद्ध

बौद्धदर्शनमें अनुमान-भेदोंकी दो परम्पराएँ उपलब्ध होती हैं। एक तो उपर्युक्त तीन भेदवाली न्यायसूत्रोक्त न्यायपरम्परा और दूसरी दो भेदवाली दूसरी वैशेषिकपरम्परा। पहली उपायहृदयमें[3] मिलती है और दूसरी दिङ्नागके प्रमाण समुच्चयमें। ज्ञात होता है कि दिङ्नागसे पूर्व चौथी शती ईस्वी तक बौद्ध दर्शनमें न्यायपरम्पराका अनुसरण रहा है। दिङ्नागने उसे छोड़कर प्रशस्तपादोक्त स्वार्थ परार्थभेदद्वयवाली वैशेषिकपरम्पराको स्वीकार किया। विशेष यह कि उन्होंने इन दोनोंका निरूपण प्रमाणसमुच्चयके छह परिच्छेदोंमेंसे दूसरे और तीसरे दो परिच्छेदोंमें विस्तारपूर्वक किया है। उनके नाम भी स्वार्थानुमान परिच्छेद और परार्थानुमान परिच्छेद रखे हैं। दिङ्नागके बाद उनके शिष्य शंकरस्वामीने[4] भी इन्हीं दो भेदोंका प्रतिपादन किया है। न्यायप्रवेशमें उन्होंने साधनको परसंवित और अनुमानको आत्मसंवित्के लिए कहकर 'साधन' पदसे परार्थानुमान और 'अनुमान' पदसे स्वार्थानुमान लिया है। धर्मकीर्ति[5] आदि उत्तरवर्ती बौद्धतार्किकों ने दिङ्नागका अनुसरण किया और उपायहृदयकी त्रिविध भेदवाली न्यायपरम्परा को छोड़ दिया है।

जैन तार्किकों द्वारा अनुमानभेद-समीक्षा

प्रथम अध्यायमें अनुयोगद्वारवर्णित पूर्ववदादि त्रिविध अनुमानोंका उल्लेख तथा स्वरूपविवेचन किया जा चुका है। परन्तु अनुयोगसूत्रकी यह त्रिविध अनुमानभेद-परम्परा जैन तर्कग्रन्थोंमें अनुसृत नहीं हुई। इसका कारण यह ज्ञात पड़ता है कि इस त्रिविध अनुमानभेद-परम्पराको तर्ककी कसौटीपर रखने (परीक्षण करने) पर यह सदोष (अव्याप्त और अतिव्याप्त) दिखायी पड़ी। अतएव

---

१ न्यायकुमु० च० १।१४, पृ० ४६२।

२ चरकसू० २१, २२।

३. उ० हृ० पृ० १३।

४ न्या० प्र० पृ० १।

५. न्या० बि० पृ० २१, ४६।

उसका न केवल परित्याग हुआ, अपितु वीतादि, मात्रामात्रिकादि और सयोगी आदि अनुमानभेदोंकी तरह उसकी समीक्षा भी की गयी है।

(क) अकलङ्कोक्त अनुमानभेद समीक्षा

अकलङ्कने[1] उक्त अनुमानके त्रैविध्य और चातुर्विध्य अथवा पाञ्चविध्य नियमों (पूर्ववत आदि तीन प्रकारका ही अनुमान है, वीत आदि तीन तरहका ही अनुमान है, सयोगी आदि चार या पाँच विध ही अनुमान है) की समीक्षा करते हुए उन्हें अव्याप्त बतलाया है। 'अस्ति आत्मा प्रमाणत उपलब्धे', 'सर्वज्ञोऽस्ति सुनिश्चितासम्भवद्बाधकप्रमाणत्वात्,' 'खरविषाण नास्ति अनुपलब्धे' आदि समीचीन हेतु हैं, क्योंकि अपने साध्योंके साथ उनका अविनाभाव (व्याप्ति) है। पर ये हेतु न पूर्ववत् आदि तीनके अन्तर्गत आते हैं न वीत आदि तीनमें अन्तर्भूत होते हैं और न सयोगी आदिमें इनका समावेश सम्भव है, क्योंकि उपलब्धि या अनुपलब्धि आत्मादिका कार्य या कारण आदि नहीं है। दूसरी बात यह है कि उक्त हेतुओ (पूर्ववदादि) को पक्षधर्मत्वादि त्रिरूपता या पञ्चरूपताके आधारपर यदि गमक माना जाए तो 'सन्ति प्रमाणानि इष्टसाधनात्', 'उदेष्यति शकटं कृत्तिकोदयात्'[2] इत्यादि हेतु गमक नहीं हो सकेंगे, क्योंकि इनमें न पक्षधर्मत्वादि त्रिरूपता है और न पञ्चरूपता। केवल साध्य साधनमें अन्तर्व्याप्ति (अन्यथानुपपत्ति) के सद्भावसे ही उनमें गमकता मानी गयी है।[3] अत अकलङ्कदेवका मन्तव्य है कि जो हेतु अन्यथानुपपन्नत्वसहित (अपने साध्यके अभावमें न होने वाले) हैं वे ही साध्यज्ञान (अनुमान) के जनक हैं और जो अन्यथानुपपन्नत्वरहित (अपने साध्य के अभावमें भी रहने वाले) हैं वे हेतु नहीं, हेत्वाभास हैं और उनसे उत्पन्न होने वाला ज्ञान अनुमानाभास है। तात्पर्य यह कि पूर्ववदादि अथवा वीतादि[4] या सयोगी आदि हेतु तीन रूपों या पाँच रूपोंसे सम्पन्न होने पर भी यदि अन्यथानुपपन्नत्व-रहित हैं तो वे हेत्वाभास हैं। स्पष्ट है कि 'स श्यामस्तत्पुत्रत्वात् इतरतत्पुत्रवत्,' 'वज्रं लोहलेख्य पार्थिवत्वात् धातुवत्,' 'इमान्याम्रफलानि पक्वानि आम्रफलत्वात् प्रसिद्धाम्रफलवत्, इत्यादि हेतु त्रिरूपता और पञ्चरूपतासे युक्त हैं, पर अपने साध्यों के

---

१ एतेन पूर्ववद्वीत संयोग्यादौ कथा गता।
तल्लक्षणमपर्याप्तं सिद्धम्योऽन्यथा दिशा
—न्यायवि० २।१७३, १७४।

२ वादिराज, न्या० वि० वि० २।१७३, पृ० २०३।

३ पक्षधर्मत्वहीनोऽपि गमक कृत्तिकोदय।
अन्तर्व्याप्तेरत सैव गमकत्वप्रसाधनी॥
—वादीभसिंह स्या० सि० ४।८३ ८४।

४ उद्योतकर, न्या० वा० १।१।३५, पृ० १२३।

साथ उसका अन्यथानुपपन्नत्व (व्याप्ति) नहीं है। आशय यह कि यह नियम (व्याप्ति) नहीं है कि उसका पुत्र होनेसे उसे श्याम होना चाहिए, पार्थिव होनेसे वज्रको लोहलेख्य होना चाहिए और आम्रफल होनेसे मात्र इस आम्रको पक्व होना चाहिए, क्योंकि उसका पुत्र होने पर भी वह (गर्भस्थ पुत्र) अश्याम सम्भव है, पार्थिव होनेपर भी वज्र अलोहलेख्य होता है और आम्रफल होनेपर भी कुछ आम्र फल अपक्व (कच्चे) हो सकते हैं। अतएव ये हेतु हेत्वाभास हैं। अकलंकके इसी आशयको व्यक्त करते हुए उनके विवरणकार वादिराजने लिखा है—

अन्यथानुपपत्तिश्चेत्, पाञ्चरूप्येण किं फलम् ।
विनापि तेन तन्मात्रात् हेतुभावावकल्पनात् ॥
नान्यथानुपपत्तिश्चेत् पाञ्चरूप्येण किं फलम् ।
सतोऽपि व्यभिचारस्य तेनाशक्यनिराकृतेः ॥
अन्यथानुपपत्तिश्चेत् पाञ्चरूप्येऽपि कल्प्यते ।
पाञ्चरूप्यात् पञ्चरूपत्वनियमो नावतिष्ठते ॥
पाञ्चरूप्यात्मिकैवेयं नान्यथानुपपन्नता ।
पक्षधर्मत्वाद्यभावेऽपि चास्याः सत्त्वोपपादनात् ॥[1]

निष्कर्ष यह कि अन्यथानुपपन्नत्वविशिष्ट ही एक हेतु अथवा अनुमान है। वह न त्रिविध है और न चतुर्विध आदि। अतः अनुमानका त्रैविध्य और चातुर्विध्य उक्त प्रकारसे अव्याप्त एवं अतिव्याप्त हैं। अकलंकके इस विवेचनसे प्रतीत होता है कि अन्यथानुपपन्नत्वको अपनाने से हेतु एक ही प्रकारका है और सब अनुमान भी एक ही तरहका सम्भव है[2]। यही कारण है कि उन्होंने अन्यथानुपपन्नत्वके अभावमें हेत्वाभास भी एक ही प्रकारका माना है[3]। वह है अकिंचित्कर। असिद्धादि तो उसीका विस्तार है।

इस प्रकार अकलंकने पूर्ववत् आदि अनुमानोंकी मीमांसाका सूत्रपात किया, जिसका अनुसरण प्रायः सभी उत्तरवर्ती जैन तार्किकोंने किया है। परन्तु विद्या

१ न्या० वि० वि० २।१५४, १५५, १५६, पृ० १८० ।

२,३ (क) साधनं प्रकृताभावेऽनुपपन्नं ततोऽपरे ।
विरुद्धासिद्धसन्दिग्धा अकिञ्चित्करविस्तराः ॥
—न्या० वि० २।१०१, १०२ पृ० १२७, १२६ ।

(ख) अन्यथानुपपन्नत्वरहिता ये त्रिलक्षणाः ।
अकिञ्चित्कारकान् सर्वान् तान् वयं संगिरामहे ॥
—वही, २।२०२ पृ० २३३ ।

नन्द[1], वादिराज[2] प्रभाचन्द्र[3] प्रभृति मनीषियोंने भी अपने तर्कग्रन्थोंमें उस मीमासाको वितृत तथा पल्लवित किया है।

(ख) विद्यानन्दकृत अनुमानभेद-मीमासा

विद्यानन्दकी[4] मीमासाकी दो बातें उल्लेखनीय हैं। एक यह कि उन्होंने न्यायवार्तिकमें उल्लिखित एव प्रतिपादित वीत और अवीत हेतुद्वयके अतिरिक्त वीतावीत नामके एक तीसरे हेतुका भी निर्देश किया है जो उन्हें किसी प्राचीन न्यायग्रन्थसे प्राप्त हुआ होगा, क्योंकि न्यायभाष्य, न्यायवार्तिक आदि न्याय ग्रन्थोंमें वह उपलब्ध नही होता। हाँ, जैन ग्रन्थ न्यायविनिश्चयविवरणमें उसे वादिराजने[5] अवश्य दिया है, जो या तो विद्यानन्दसे लिया गया है और या विद्यानन्दकी तरह उन्होंने भी उसी प्राचीन न्यायग्रन्थपरसे लिया है जो आज उपलब्ध नही है। विद्यानन्दने इसका स्वरूप और उदाहरण भी दिया है। वे लिखते हैं कि वीतानुमान तो वह है जो स्वरूपत विधिरूप अथवा परिच्छेदक है। जैसे—शब्द अनित्य है, क्योंकि वह उत्पत्तिधर्म वाला है, जैसे घडा। अवीतानुमान वह है जो निषेधमुखसे अर्थका ज्ञापक है। यथा—यह जीवित शरीर आत्मशून्य नही है, क्योंकि उसमें प्राणादिके अभावका प्रसग आएगा, जैसे घटादि। तथा वीतावीतानुमान वह है जो विधि और निषेध दोनों रूपसे अर्थकी परिच्छित्ति कराता है। यथा—यह पर्वत अग्निसहित है, निरग्नि नही है, क्योंकि धूम वाला है, अन्यथा धूमके अभावका प्रसग आएगा। विद्यानन्द इनकी समीक्षामें एक ही बात कहते हैं[6]। वह यह कि ये तीनों हेतु यदि

---

१ त० श्लो० १।१३ पृ० २०५ २०६।

२ न्या० वि० वि० २।१७३, १७४, पृष्ठ २०१ २१०।

३ प्रमेयक० मा० ३।१५ पृष्ठ ३६२।

४ यदप्यत्राभाणि—उदाहरणसाधर्म्यात्साध्यसाधनं हेतुरिति वीतलक्षणं लिंगं तत्स्वरूपेणार्थपरिच्छेदकत्वं च तथैव इति वचनात्। तद्यथा—अनित्य शब्द उत्पत्तिधर्मकत्वाद् घटवदिति। उदाहरणवैधर्म्यात्साध्यसाधनम् हेतुरित्यवीतलक्षणम् । उदाहरणसाधर्म्यवैधर्म्याभ्यां साध्यसाधनमनुमानमिति वीतावीतलक्षणं स्वरूपविधानेन परपक्षप्रतिषेधेन चार्थपरिच्छेदहेतुत्वात्। ।

—त० श्लो० १।१३।२०२, पृष्ठ २०६। तथा प्र० प० पृष्ठ ७५।

५ न्या० वि० वि० २।१७३ पृष्ठ २०८।

६ तदेतद्वीतादित्रय यदि साध्याभावासम्भूष्णु तदाऽन्यथानुपपत्तिबलादेव गमकत्वं न पुनर्वीतादित्वेनैव अन्यथानुपपत्तिविरहेऽपि गमकत्वप्रसगात्। यदि पुनरन्यथानुपपत्ति वीतादित्वे साध्य हेतोर्लक्षण तदा 'हेतो साध्य हेतोर्वा विशेषत' इति वक्तव्य इत्यनुभाषितम् यावत्। हेतोरन्वयव्यतिरेकानुविधानादिरेवलक्षणस्य हेतुत्वेऽपि सर्वागित। तदन्वयव्यतिरेकानुविधानाभावात्तस्यानि महत्त्वेऽपि समानात्। हेतोरन्यथानुपपत्तिमदसत्त्वमनुस्वात्गमकत्वागमकत्वयोरिति न किंचिद्वीतादिभिलक्षणैर्लक्षणाना भेदाना वा सर्वथा गमकत्वानिर्णयात् सर्वमदोषमसत्त्वाच्च।

—त० श्लो० १।१३।२०२, पृ० २०६।

साध्यके अभावमें नहीं होते तो अन्यथानुपपत्तिके बलसे ही उनमें गमकता माननी चाहिए, न कि वीतादिरूपता होनेसे ही। अन्यथा अन्यथानुपपत्तिके अभावमें भी उन्हें गमक मानना पड़ेगा। तात्पर्य यह कि 'वज्र लोहलेख्य है क्योंकि वह पार्थिव है, जैसे अन्य सुवर्णादि धातुएँ' यह वीत हेतु है। पर पार्थिवत्वकी लोहलेख्यत्वके साथ व्याप्ति (अन्यथानुपपत्ति) न होनेसे हेत्वाभास है। अतः कोई भी हेतु क्यों न हो, यदि वह अन्यथानुपपन्न है तो साध्यका अवश्य अनुमापक होगा। इसलिए हेतुकी गमकताका प्रयोजक तत्त्व अन्यथानुपपन्नत्व है, वीतत्व, अवीतत्व और वीतावीतत्व नहीं। यदि कहा जाए कि अन्यथानुपपत्ति वीतादिरूपको प्राप्त करके ही हेतुका लक्षण है तो यह 'देवता प्राप्य हरीतकी विरेचयत' अर्थात् 'देवताको पाकर हरीतकी विरेचन (पाचन) कराती है' कहावत चरितार्थ होती है। विरेचनका हरीतकीके साथ अन्वय-व्यतिरेक होनेसे वह देवतोपयोगिनी होती है, देवताके साथ विरेचनका सीधा अन्वय-व्यतिरेक नहीं है, ऐसा माननेपर तो प्रकृतमें भी यही कहा जा सकता है, क्योंकि अन्यथानुपपत्तिके होनेपर हेतु गमक होता है और उसके अभावमें वह गमक नहीं होता। अतः वीतादित्रयरूप होनेसे हेतुमें गमकता नहीं है। इसके अतिरिक्त समस्त हेतुभेदोंका उस (वीतादित्रय) में संग्रह भी नहीं हो पाता है।

विद्यानन्दकी दूसरी उल्लेखयोग्य बात यह है कि वे पूर्ववत् आदि अनुमानोंके त्रैविध्यनियमको अव्यापक बतलाते हैं। वे कहते हैं कि जिस प्रकार (१) कारणसे कार्यका अनुमान पूर्ववत् अनुमान है। यथा—ये मेघ वृष्टि करनेकी शक्तिसे सम्पन्न हैं, क्योंकि गम्भीर गर्जना और चिरप्रभाव युक्त होकर छाये हुए हैं, जैसे अन्य बरसने वाले मेघ। (२) कार्यसे कारणका अनुमान शेषवत् अनुमान है। यथा—यहाँ अग्नि है, क्योंकि धूम है, जैसे रसोई घर। (३) जो न कार्य है और न कारण है उससे अनुभयात्मक (अकार्यकारण) का अनुमान सामान्यतोदृष्ट अनुमान है। यथा—इस फलमें मधुर रस है, क्योंकि इसका रूप है, जैसे उसी तरहके अन्य फल। उसी प्रकार उभयात्मक (कारणकार्यरूप) हेतुसे उभयात्मक (कारणकार्यरूप) साध्यका ज्ञान (अनुमान) सम्भव है, क्योंकि जिनमें परस्पर उपकार्य-उपकारकभाव होता है उनमें अविनाभाव देखा जाता है[1]। उदा-

---

1 उभयात्मनोऽपि वस्तुनो भावात्। यथैव हि कारणात्कार्येऽनुमानम्—[illegible] मेघा गम्भीरध्वानत्वे चिरप्रभावत्वे च सति समुन्नतत्वात् वृष्टिं करिष्यन्ति। कार्यात्कारणे—वह्निरत्र धूमादित्यादि। अकार्यकारणादनुभयात्मनि ज्ञानम्—मधुररसमिदं फलमेवंरूपत्वादित्यादि। तथैवोभयात्मकाद्धेतोरुभयात्मनि ज्ञानम्, परस्परोपकार्योपकारकभावस्याविनाभावित्वात्। यथा बीजांकुरसन्तानयोः। ...।'
—त० श्लो० १।१३।२०३, २०४, पृष्ठ २०७।

हरणके लिए हम बीजसन्तान और अंकुरसन्तानको ले सकते हैं। प्रकट है कि बीजसन्तान अंकुरसन्तानके और अंकुरसन्तान बीजसन्तानके अभावमें नहीं होता, तब उनमें परस्पर गम्यगमकभाव क्यों नहीं होगा? अत हम अनुमान कर सकते हैं कि 'यहां यवबीजसन्तान है, क्योंकि यवांकुरसन्तान देखा जाता है।' इसी प्रकार यह भी अनुमान किया जा सकता है कि 'यहां यवांकुरसन्तान है, क्योंकि यवबीज उपलब्ध होता है।' इस तरह कार्यकारणरूप चौथा अनुमान भी सिद्ध होता है। कोई वजह नहीं कि कारणानुमान, कार्यानुमान और अकार्यकारणानुमान ये तीन अनुमान तो माने जाएँ, पर कारणकार्योभयानुमान न माना जाए।

(ग) वादिराज द्वारा अभिहित अनुमानभेद-समीक्षण

यहां वादिराजकी भी दो विशेषताएं द्रष्टव्य हैं। उनका कहना है कि अनुमान तीन या चार भेदोंमें ही सीमित नहीं है। अनेक हेतु ऐसे हैं जो न पूर्ववत् हैं, न शेषवत् और न सामान्यतोदृष्ट। उदाहरणार्थ[1] विषम तुलाके छोरोंमें पाये जाने वाले नाम और उन्नाम परस्पर अविनाभूत हैं क्योंकि वे एक दूसरेके अभावमें उपपन्न नहीं होते' अथवा 'इस समान तुलामें उन्नाम (ऊंचाई) नहीं है, क्योंकि नाम (नीचाई) अनुपलब्ध है।' ये दोनों सहचर अनुमान सम्यक् अनुमान हैं। पर ये न पूर्ववत्में आते हैं, न शेषवत्में और न सामान्यतोदृष्टमें। अत त्रैविध्य का नियम नहीं बनता। इसके सिवाए तीन प्रकारका अनुमान कालत्रयकी अपेक्षा नौ प्रकारका और अव्युत्पन्न, सन्दिग्ध एवं विपर्यस्त प्रतिपाद्योंकी अपेक्षा सत्ताईस प्रकारका भी सम्भव है।[2] यदि इन भेदोंकी अपेक्षा न कर केवल व्यापारभेदसे तीन अनुमान कहे जाएं तो उन व्यापारत्रयकी भी अपेक्षा न कर एक केवल अन्यथानुपपत्तिको ही अवलम्ब कर एक ही प्रकारका अनुमान मानना उचित है। अन्यथानुपपत्तिका क्षेत्र इतना व्यापक और विशाल है कि उसमें वे पूर्ववत् आदि तीन और वीतादि तीन अनुमान तो समा ही जाते हैं। किन्तु उनके अलावा उक्त प्रकारके सहचर आदि अनुमान भी उसके अन्तर्गत आ जाते हैं।

---

१ नापि तथा त्रैविध्यनियम, उन्नामादीनामपूर्ववत्त्वेन तत्रानन्तर्भावात्। पूर्ववत्त्वेन स्वयमन्वयात्मीति व्याख्यानात्।

—न्या० वि० वि० २।१७३, पृष्ठ २०८।

२ त्रिविधस्य सत कालभेदापेक्षया नवविधत्वस्य नवविधस्यापि पुन व्युत्पन्नसन्दिग्धविपर्यस्तरूपप्रतिपाद्यापेक्षया सप्तविंशतिविधत्वस्यापि सम्भवात्। तन्निबन्धनभेदानभ्युपगम्य व्यापारमात्रकृतेन भेदेन त्रैविध्यमुच्यते इति चेत्, तमप्यनपेक्ष्य अन्यथानुपपत्तिनिबन्धनमेकविधमेव तद्धि वक्तव्यम्। विस्तरेण निःप्रयोजनत्वात् नवविधत्वसप्तविंशतिविधत्वाभ्यामपि सम्भवात्। तत वीतादिभेदकल्पनमप्यनुपपन्नम्।

—वही, २।१७३, पृष्ठ २०८।

वादिराजकी दूसरी विशेषता यह है कि उन्होंने वैशेषिक-सम्मत चतुर्विध या पञ्चविध अनुमानकी भी समीक्षा की है। इस समीक्षामें उन्होंने बतलाया है[1] कि अनेक हेतु ऐसे हैं जो न संयोगी हैं, न एकार्थसमवायी न समवायी और न विरोधी। फिर भी वे गमक (अनुमानजनक) हैं। उदाहरणके लिए निम्न दो हेतु प्रस्तुत किये जा सकते हैं—

(१) एक मुहूर्तके अन्तमें शकट नामक नक्षत्रका उदय होगा, क्योंकि अभी कृत्तिकाका उदय हो रहा है।

(२) एक मुहूर्त पहले भरणिका उदय हो चुका है, क्योंकि अब कृत्तिकाका उदय हो रहा है।

इनमें पहला पूर्वचर है और दूसरा उत्तरचर। ये दोनों हेतु उक्त चारोंमेंसे किसीमें भी अन्तर्भूत नहीं हो सकते—न संयोगीमें, न समवायीमें, न एकार्थसमवायीमें और न विरोधीमें। ये केवल अन्यथानुपपत्तिके आधारसे ही अपने साध्योंके नियमतः साधक (अनुमापक) हैं। इन्हें अहेतु या हेत्वाभास भी नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि ये साध्यके अभावमें नहीं होते। अतः वैशेषिकोंका भी अनुमान-चातुर्विध्यनियम नहीं ठहरता। उन्हें उक्त चारके अतिरिक्त इन और इन जैसे अन्य हेतुओंको भी मानना पड़ेगा।

(घ) प्रभाचन्द्रप्रतिपादित अनुमानभेद-आलोचना

प्रभाचन्द्रने भी प्रमेयकमलमार्त्तण्ड[2] और न्यायकुमुदचन्द्र[3] में उक्त अनुमान भेदोंकी मीमांसा प्रस्तुत की है। विशेष यह कि इन्होंने वैशेषिकोंके चार और सांख्योंके सप्तविध अनुमानोंका भी उल्लेख करके उनकी आलोचना की है तथा कृत्तिकोदयादि हेतुओंका उनमें अन्तर्भाव न हो सकनेसे उन्हें अव्यापक बतलाया है।[4] साथ ही अविनाभावके बलपर ही हेतुका अनुमानांग होनेका प्रतिपादन किया है। उनकी यह विचारणा बहुत सरल और वजनपूर्ण है।

---

१ यथा संयोग्यादिभेदभिन्नानामपि तथापि साध्यस्याव्यभिचारात्। न हि कृत्तिकोदय-दर्शनेन्द्रशकटोदयस्य संयोगी, सम्बन्धाभावेन संयोगासम्भवात्। नापि तयोरन्य एकार्थसमवायी नापि समवायी। एवं नक्षत्रविशेषोदयस्यापि भरण्युदयं प्रत्यनुमानतया-भावात्।

—न्या० वि० वि० २।१७२ पृष्ठ २०८-२१०।

२ प्र० क० मा० ३।१५ पृष्ठ ३६६।

३ न्या० कुमु० ३।१४, पृ० ४६० ४६१।

४ न्या० कुमु० पृ० ४६१।

अनुमानभेद-समीक्षाका उपसंहार

निष्कर्ष यह कि पूर्ववत् आदिरूपसे या वीतादिरूपसे अभिमत तीन अनुमानों, संयोगी आदिरूपसे या कारण आदिरूपसे स्वीकृत चार या पाँच अनुमानों और मात्रामात्रिक आदिरूपसे अंगीकृत सात अनुमानोंकी संख्या अपूर्ण तथा अतिप्रसक्त है।[1] पर साध्य और साधनमें अनिवार्यरूपसे आवश्यक अन्यथानुपपन्नत्व या अन्यथानुपपत्तिके आधारसे अनुमान संख्या माननेमें न अपूर्णताका दोष आता है और न अतिप्रसक्ति, क्योंकि अन्यथानुपपन्नत्व एक ऐसा व्यापक एवं अव्यभिचारी आधार है, जिसमें सभी प्रकारके समीचीन हेतुओंका समावेश हो जाता है और असमीचीन हेतु (हेत्वाभास) उसके द्वारा निरस्त हो जाते हैं।[2] अतः जैन तार्किकोंने इसीको हेतुका निर्दोष एवं प्रधान लक्षण बतलाया है, त्रैरूप्य और पाँचरूप्यको नहीं। पर अन्य तार्किक जितना बल त्रैरूप्य और पाँचरूप्यपर देते हैं उतना अविनाभावपर नहीं। यही जैन तार्किकों और अन्य तार्किकोंके अनुमान-सम्बन्धी चिन्तन एवं प्रतिपादनमें मौलिक अन्तर है।

स्वार्थ और परार्थ

यद्यपि ऊपरके विवेचनसे हम इस तथ्यपर पहुँचते हैं कि अनुमानके प्रधान अंग हेतुका प्रयोजक तत्त्व एकमात्र अन्यथानुपपन्नत्व है और उसके एक होनेसे उससे आत्मलाभ करने वाला अनुमान भी एक ही प्रकारका सम्भव है, तथापि वह अन्यथानुपपन्नत्व दोके द्वारा गृहीत होता है—(१)स्व और (२) पर। जब वह स्वके द्वारा गृहीत होता है तो उसके आधारसे होने वाला अनुमान उस (स्व) की साध्यप्रतिपत्तिके लिए होता है और वह स्वार्थानुमान कहा जाता है। स्वार्थानुमाता किसी परके उपदेश (प्रतिज्ञादि प्रयोग)के बिना स्वयं ही निश्चित अविनाभावी साधनके ज्ञानसे साध्यका ज्ञान करता है। उदाहरणार्थ—जब वह धूमको देखकर अग्निका ज्ञान, रसको चखकर उसके सहचर रूपका ज्ञान या कृत्तिकाके उदयको देखकर एक मुहूर्त बाद होने वाले शकटके उदयका ज्ञान आदि करता है तब उसका वह ज्ञान स्वार्थानुमान कहलाता है। और जब वही स्वार्थानुमाता उक्त हेतुओं और साध्योंको बोलकर दूसरोंको उन साध्य-साधनोंकी व्याप्ति (अन्यथानुपपत्ति)

१,२ अस्येदं कारणं कार्यं इति सूत्रोपात्ता एव पञ्चहेतवो लैङ्गिकागमम्, तच्चय नैयायिकाना(वैशेषिकाणा)मनुमानसंख्यानियमो न व्यवतिष्ठेत, तदसमानिरोधाभिधानम्, तदतिरिक्तानां कृत्तिकोदयादिहेतूनां तदङ्गत्वप्रतिपादनात्। अविनाभावबलाद्धि हेतो रनुमानाङ्गत्वं न कारणादिरूपतामात्रेण, अस्याव्यापकत्वादतिप्रसंगाच्च। अविनाभावस्य तु सकलहेतुव्याप्यव्यापित्वात्तदाभासेभ्यो व्यावृत्तत्वाच्च तदङ्गत्वं हेतोरनन्तरं प्रतिपत्तव्यम्।

—न्या० कु० ३।१४ पृष्ठ ४६१।

ग्रहण कराता है तथा दूसरे उसके वचनोंको सुनकर व्याप्तिग्रहण करके उक्त हेतुओंसे उक्त साध्योंका ज्ञान करते हैं तो दूसरोंका यह अनुमानज्ञान 'परार्थानुमान' कहा जाता है। और वे परार्थानुमाता कहे जाते हैं। अतः अनुमानके उपादानभूत हेतुका प्रमाणरूप तत्त्व अन्यथानुपपन्नत्व स्व और पर दोनों द्वारा गृहीत होने तथा दोनों अन्यथानुपपन्नत्व गृहीताओंको अनुमान होनेसे प्रदेशभेद, व्यक्तिभेद या प्रयोजनभेदकी अपेक्षासे अनुमानके अधिक से-अधिक दो प्रकार हो सकते हैं— (१) स्वार्थानुमान और (२) परार्थानुमान। सम्भवतः इन दो भेदोंकी परिकल्पनाके मूलमें प्रशस्तपाद[1] और दिङ्नागकी भी यही दृष्टि रही है।

यद्यपि प्रशस्तपाद[2] या दिङ्नाग अथवा न्यायप्रवेशकारने[3] इन अनुमानभेदोंकी परिगणना नहीं की, तथापि उनके द्वारा किया गया इन अनुमानोंका निरूपण स्पष्ट बतलाता है कि उन्हें ये दो भेद अभिप्रेत हैं।

जैन परम्परामें सबसे पहले इन दो भेदोंका प्रतिपादन सिद्धसेनने[4] किया जान पड़ता है। उन्होंने यद्यपि 'स्वार्थानुमान'का[8] उल्लेख नहीं किया—केवल परार्थानुमानका निर्देश किया है और उसका उसी प्रकार स्वरूप बतलाया है जिस प्रकार प्रशस्तपादने[5] प्रशस्तपादभाष्यमें और प्रमाणवार्तिकालंकारकारने [6]प्रमाणवार्तिकालंकारमें उक्त उद्धृत पद्य द्वारा प्रस्तुत किया है। सिद्धसेनने[7] परार्थानुमानका एक लक्षण और दिया है जो न्यायप्रवेशकारके परार्थानुमानलक्षणपर आधृत है। फिर भी सिद्धसेनने 'स्वनिश्चयवत्' पदके द्वारा स्वार्थानुमानका ग्रहण किया है। दूसरे

१ प्रश० भा० पृ० १०६।

२ वही पृ० १०६, ११३।

३ न्या० प्र० पृष्ठ २, ७।

४ स्वनिश्चयवदन्येषां निश्चयोत्पादनं बुधैः।
परार्थं मानमाख्यातं वाक्यं तदुपचारतः॥
—न्यायाव० का० १०।

५ प्रश० भा० पृ० ११३।

६ स्वनिश्चयवदन्येषां निश्चयोत्पादनेच्छया।
पक्षधर्मत्वसम्बन्धसाध्योक्तेरन्यवर्जनम्॥
—प्र० वार्तिकाल० पृष्ठ ४८७।

७ साध्याविनाभुवो हेतोर्वचो यत्प्रतिपादकम्।
परार्थानुमानं तत् पक्षादिवचनात्मकम्॥
—न्यायाव० का० १३।

८ साध्याविनाभुनो लिङ्गात् साध्यनिश्चायकं स्मृतम्।
अनुमानं तदभ्रान्तं प्रमाणत्वात् समक्षवत्॥
—वही का० ५।

बात यह है कि उन्होंने परार्थानुमानके लक्षणसे पूर्व जो सामान्य अनुमानका लक्षण प्रस्तुत किया है वह स्वार्थानुमानका लक्षण है।

सिद्धिविनिश्चयमें अकलंकदेवने[1] स्वार्थानुमान और परार्थानुमान दोनोंका उल्लेख किया है तथा दोनोंमें पक्ष भेद बतलाते हुए कहा है कि स्वार्थानुमानमें तो जिज्ञासाके विषयभूत विशेष (अग्नि आदि) से विशिष्ट धर्मी (पर्वत आदि) पक्ष होता है। किन्तु परार्थानुमानमें जनवानेकी इच्छाके विषयभूत विशेष (अग्नि आदि) से विशिष्ट धर्मी पक्ष होता है, क्योंकि स्वनिश्चयकी तरह दूसरोंको भी निश्चय करानेके लिए पक्षको स्वीकार करना आवश्यक है। तात्पर्य यह कि प्रतिपत्ताके भेदसे अनुमानके स्वार्थ और परार्थ भेद उन्हें भी अभिप्रेत हैं।

विद्यानन्द[2] भी अनुमानके उक्त दो भेदोंका प्रतिपादन करते हैं। इतना विशेष है कि वे[3] परार्थानुमानके भी दो भेदोंका निर्देश करते हैं—(१) अनक्षरश्रुत और (२) अक्षरश्रुत। तथा उन्हें क्रमशः अश्रोत्रमतिज्ञान और श्रोत्रमतिज्ञानपूर्वक होनेके कारण परोक्ष श्रुतप्रमाणमें अन्तर्भाव करते हैं।

वादिराज कृत मुख्य और गौण अनुमानभेद

वादिराजने[4] उक्त अनुमान भेदोंसे भिन्न दो अन्य भेदोंका प्रतिपादन किया है। वे हैं—(१) गौण और (२) मुख्य। इनमें गौण अनुमानके तीन भेद हैं—(१) स्मरण, (२) प्रत्यभिज्ञा और (३) तर्क। स्मरण प्रत्यभिज्ञाका, प्रत्यभिज्ञा तर्कका और तर्क अनुमानका कारण होनेसे तीनों गौण अनुमान हैं। साध्याविनाभावी साधनसे होनेवाला साध्यका ज्ञान मुख्यानुमान है। परन्तु वादिराजकी इस द्विविध अनुमान-मान्यताको उत्तरवर्ती किसी जैन तार्किकने नहीं अपनाया और वह उन्हीं तक सीमित रही है। इसका कारण यह प्रतीत होता है कि

---

१ स्वार्थानुमाने जिज्ञासितविशेषो धर्मी पक्षः। परार्थानुमाने पुनः जिज्ञापयिषितविशेषः स्वनिश्चयवदन्येषां निश्चयोत्पादनाय पक्षपरिग्रहात्।
—सि० वि० वृ० ६।२, पृष्ठ ३७३।

२ प्र० प० पृष्ठ ७६।

३ परार्थमनुमानमनक्षरश्रुतज्ञानं अक्षरश्रुतज्ञानं च तस्याश्रोत्रमतिपूर्वकस्य श्रोत्रमतिपूर्वकस्य च तथात्वोपपत्तेः।
—वही, पृष्ठ ७६।

४ अनुमानं द्विविधं गौणमुख्यविकल्पात्। तत्र गौणमनुमानं त्रिविधं—स्मरणं प्रत्यभिज्ञा तर्कश्चेति। तस्य चानुमानत्वं यथापूर्वमुत्तरोत्तरहेतुतयाऽनुमाननिबन्धनत्वात्। ... मुख्यस्यापि। किं तदिति चेत्, साधनात्साध्ये विज्ञानमेव, साधनं साध्याविनाभावनियमलक्षणं तस्मान्निश्चयपथप्राप्तात्साध्यस्य साधयितुं शक्यस्याप्रसिद्धस्य यद्विज्ञानं तदनुमानम्।
प्रमा० नि० पृष्ठ ३३, ३६।

यदि स्मरणादिको अनुमानका कारण होनेसे अनुमान माना जाए तो प्रत्यक्षको भी अनुमानका हेतु होनेसे अनुमान माना जाना चाहिए और इस तरह स्मरणादिकी तरह प्रत्यक्ष भी गौण अनुमान कहा जाएगा, जो किसी भी तार्किकको अभिमत नहीं है। सम्भवतः इसीसे उत्तरवर्ती तार्किकोंने वादिराजके इस अनुमानद्वैविध्यको स्वीकार नहीं किया।

माणिक्यनन्दिने[1] अनुमानके उक्त स्वार्थ और परार्थ भेदोंका विशद निरूपण किया है। उनके बाद तो सभी परवर्ती प्रभाचन्द्र[2], अनन्तवीर्य[3], देवसूरि[4], हेमचन्द्र[5] आदिने इसी द्विविध अनुमान-मान्यताको अनुसृत किया है। देवसूरि और हेमचन्द्रका यहाँ एक वैशिष्ट्य परिलक्षित होता है। वह यह कि उन्होंने एक ही सूत्र द्वारा अनुमानके दो प्रकारोंकी सूचना और उन दोनों प्रकारोंका निर्देश किया है, माणिक्यनन्दिकी तरह उन्होंने दो सूत्रोंकी रचना नहीं की। इन दोनों तार्किकोंकी एक विशेषता और उल्लेख्य है। इन्होंने अनुमान सामान्यके लक्षणके अतिरिक्त स्वार्थानुमानका अलग लक्षण प्रस्तुत किया है जो बहुत विशद और उचित है। माणिक्यनन्दिने[6] सिद्धसेनकी तरह सामान्यलक्षणको ही स्वार्थानुमानका लक्षण बताया है। ध्यातव्य है कि हेमचन्द्रका स्वार्थानुमान लक्षण देवसूरिके स्वार्थानुमान लक्षणसे भिन्न और निर्दोष है। हेमचन्द्रने[7] 'स्वयं निर्णीत साध्याविनाभाववाले साधनसे होनेवाले साध्यज्ञानको स्वार्थानुमान' कहा है जो परार्थानुमानमें अतिव्याप्त नहीं है। पर देवसूरिने[8] जो 'हेतुग्रहण और सम्बन्धस्मरणपूर्वक होनेवाले साध्य-

---

१ तदनुमानं द्वेधा, स्वार्थपरार्थभेदात्, स्वार्थमुक्तलक्षणम्, परार्थं तु तदर्थपरामर्शिवचनाज्जातम्, तद्वचनमपि तद्धेतुत्वात्।
—प० मु० ३।५२, ५३, ५४, ५५, ५६।

२ प्र० क० मा० ३।५२ ५६।

३ प्र० र० मा० ३।४८-५२।

४ अनुमानं द्विप्रकारं स्वार्थं परार्थं चेति। तत्र हेतुग्रहणसम्बन्धस्मरणकारणकं साध्यविज्ञानं स्वार्थमिति। पक्षहेतुवचनात्मकं परार्थमनुमानमुपचारादिति।
—प्र० न० त० ३।९, १०, २३।

५ तद् द्विधा स्वार्थं परार्थं च।
स्वार्थं स्वनिश्चितसाध्याविनाभावैकलक्षणात् साधनात् साध्यज्ञानम्।
—हेमचन्द्र, प्रमाणमी० १।२।८,९।
यथोक्तसाधनाभिधानजः परार्थम्। वचनमुपचारात्।
—वही, २।१।१,२।

६ स्वार्थमुक्तलक्षणम्।
—परीक्षामु० ३।५४।

७ प्र० मी० १।२।९, पृ० ३९।

८ प्र० न० त० ३।१०।

ज्ञानको स्वार्थानुमान' बतलाया है वह परार्थानुमानमें अतिव्याप्त है, क्योंकि हेतुका ग्रहण और सम्बन्धस्मरण परार्थानुमानमें भी रहते हैं, भले ही वे स्वार्थानुमाताके वचनोंसे हों। हेमचन्द्रको[1] यहाँ एक बात और स्मरणीय है। उन्होंने वचनात्मक परार्थानुमानका दो प्रकारका प्रतिपादन किया है—(१) तथोपपत्ति और (२) अन्यथानुपपत्ति। परन्तु माणिक्यनन्दि[2], प्रभाचन्द्र, अनन्तवीर्य और देवसूरि[3] प्रभृतिने वचनात्मक परार्थानुमानको दो प्रकारका न मानकर हेतुप्रयोगको दो प्रकारका कहा है जो सिद्धसेनके[4] न्यायावतारके सर्वथा अनुरूप है। यथार्थमें हेतुका प्रयोग दो तरहसे किया जाता है—एक तथोपपत्तिरूपसे और दूसरा अन्यथानुपपत्तिरूपसे। यथा—

अग्निमानयं देशस्तथैव धूमवत्त्वोपपत्तेः धूमवत्त्वान्यथानुपपत्तेर्वा[5]।

यह प्रदेश अग्नि वाला है, क्योंकि उसके होने पर ही धूम होता है अथवा अग्निके अभावमें धूम नहीं होता।

यहाँ हेतुका ही प्रयोग दो तरहसे हुआ है, पक्षका प्रयोग तो एक ही प्रकारसे है। और परार्थानुमान (वचनात्मक) पक्ष तथा हेतु दोनोंके वचनको कहा गया है।[6] देवसूरिने[7] स्पष्ट शब्दोंमें हेतुप्रयोगको ही दो प्रकारका बतलाया है। उल्लेखनीय है कि उन्होंने[8] दो स्वतन्त्र सूत्रों द्वारा उन (तथोपपत्ति और अन्यथानुपपत्ति दोनों) का स्वरूप भी प्रतिपादन किया है। सभी जैन तार्किक इस विषयमें एकमत हैं कि हेतुका चाहे तथोपपत्तिरूपसे प्रयोग किया जाए और चाहे अन्यथानुपपत्ति-

---

१ तद् द्वेधा। तथोपपत्त्यन्यथानुपपत्तिभेदात्।
—प्र० मी० २।१।३४, पृष्ठ ४६।

२ हेतुप्रयोगस्तु तथोपपत्त्याऽन्यथानुपपत्त्यैव वा।—प० मु० ३।९४।

३ हेतुप्रयोगस्तथोपपत्ति अन्यथानुपपत्तिभ्यां द्विप्रकार इति।—प्र० न० त० ३।२९।

४ हेतोस्तथोपपत्त्या वा स्यात्प्रयोगोऽन्यथापि वा।
द्विविधोऽन्यतरेणापि साध्यसिद्धिर्भवेदिति॥
—न्यायाव० का० १७।

५ प० मु० ३।९५।

६ पक्षहेतुवचनात्मकं परार्थमनुमानमुपचारात् इति।
—देवसूरि, प्र० न० त० ३।२३।

७ हेतुप्रयोगस्तथोपपत्त्यन्यथानुपपत्तिभ्यां द्विप्रकार इति।
—वही, ३।२९।

८ सत्येव साध्ये हेतोरुपपत्तिस्तथोपपत्तिरिति।
असति साध्ये हेतोरनुपपत्तिरेवान्यथानुपपत्तिरिति।
—वही, ३।३०, ३१।

रूपसे। व्युत्पन्नोंके लिए दोनोंके प्रयोगकी आवश्यकता नहीं है,[1] उनके लिए तो किसी एकका ही प्रयोग पर्याप्त है और वे उतने मात्रसे व्याप्ति-ग्रहण तथा साध्य का ज्ञान कर लेते हैं। देवसूरिकी[2] एक विशेषता और दिखाई देती है। वे जयन्त भट्टकी तरह श्रोताके स्वार्थानुमान मानते हैं और वक्ताको परार्थानुमानका प्रयोक्ता। उनका कहना है कि श्रोता वक्ताके वचनमात्रसे साध्यका ज्ञान नहीं करता और न वक्ता ही यह मानता है कि श्रोताने मेरे वचनोंसे साध्यका ज्ञान किया। किन्तु *वक्ता मानता है कि मैं उस अनुमानसे बोध कराता हूँ तथा* श्रोता भी यह समझता है कि मैंने साध्याविनाभावी साधनसे साध्यका ज्ञान किया। अतः वक्ताका अनुमान श्रोताके साध्यज्ञानका कारण होनेसे परार्थ कहा जाता है और श्रोताका स्वार्थानुमान। देवसूरिका यह विचार बुद्धिको स्पर्श करता है। वास्तवमें अनुमान उसीको होता है जिसने व्याप्तिका ग्रहण कर रखा है। जिसने व्याप्तिका ग्रहण नहीं किया, उसे अनुमान नहीं होता। अतः वक्ता पक्ष और हेतु वचन बोलकर प्रतिपाद्यको व्याप्ति ग्रहण कराता है। व्याप्ति ग्रहणके बाद प्रतिपाद्य स्वयं साधनसे *साध्यका ज्ञान कर लेता है। अतएव उसका वह साध्यज्ञान स्वार्थानुमान ही कहा* जाएगा, परार्थानुमान नहीं। परार्थानुमान तो वक्ताका पक्ष और हेतुवचन तथा उनसे उत्पन्न श्रोताका व्याप्तिज्ञान माना जाएगा, जो श्रोताके स्वार्थानुमानके कारण *हैं। तात्पर्य यह कि श्रोताका साध्यज्ञान हर हालतमें स्वार्थानुमान है,* भले ही उसके इस स्वार्थानुमानमें कारण पड़नेसे वक्ताके पक्ष और हेतुवचनों तथा उनसे होने वाले श्रोताके व्याप्तिज्ञानको परार्थानुमान कहा जाए।

प्रत्यक्ष परार्थ है : सिद्धसेन और देवसूरिका मत : उसकी मीमांसा

सिद्धसेनने[3] न्यायावतारमें अनुमानकी तरह प्रत्यक्षको भी परार्थ प्रतिपादन किया है। उनका कहना है कि प्रत्यक्ष और अनुमान दोनों प्रसिद्ध अर्थका प्रकाशन करते हैं और दोनों ही परके प्रसिद्धार्थ प्रकाशनके उपाय हैं। अतः दोनों परार्थ हैं। जब प्रत्यक्ष प्रतिपन्न अर्थका दूसरोंके लिए वचनद्वारा प्रतिपादन किया जाता है तो वह वचन भी ज्ञानमें कारण होनेसे प्रत्यक्ष कहा जाता है। उनके इस विचारका

---

१ प० मु० ३।९६, ९७। प्र० मी० २।१।६।

२ स्या० र० ३।२३ पृ० ५४८, ५४९।

३ प्रत्यक्षेणानुमानेन प्रसिद्धार्थप्रकाशनात्।
परस्य तदुपायत्वात् परार्थत्वं द्वयोरपि ॥
प्रत्यक्षप्रतिपन्नार्थप्रतिपादि च यद्वचः।
प्रत्यक्षं प्रतिभासस्य निमित्तत्वात् तदुच्यते ॥
—न्यायाव० का० ११, १२।

अनुसरण देवसूरिने[1] भी किया है और उनकी कारिकाके उद्धरणपूर्वक उसका समर्थन किया है। ये दो ही ऐसे तार्किक हैं जिन्होंने प्रत्यक्षको परार्थ बतलाया है। जैन या इतर परम्परामें, जहाँ तक हमें ज्ञात है, अन्य किसी तार्किकने प्रत्यक्षको परार्थ नहीं कहा।

तथ्य यह है कि चाहे प्रत्यक्षप्रतिपन्न अर्थको कहने वाला वचन हो और चाहे अनुमानप्रतिपन्न अर्थको। दोनों ही प्रकारके वचनोंको श्रोत्रेन्द्रिय द्वारा ग्रहण करना तो श्रोत्र प्रत्यक्ष है। पर उन्हें सुनकर श्रोताको जो उनके द्वारा प्रतिपाद्य अर्थका ज्ञान होगा वह अर्थसे अर्थान्तरका ज्ञान होनेसे अनुमान कहा जाएगा, परार्थ प्रत्यक्ष नहीं। सच तो यह है कि प्रतिपत्ति दो प्रकारकी होती है—(१) स्वार्थ और (२) परार्थ। स्वार्थ प्रतिपत्तिका साधन ज्ञान (प्रत्यक्ष, स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क और स्वार्थानुमान) है तथा परार्थप्रतिपत्तिका उपाय एकमात्र शब्द है। अतः जिस प्रकार अनुमानगम्य अग्नि आदिको बतानेवाले धूमादि साधनका प्रतिपादक धूमादिवचन है उसी प्रकार प्रत्यक्षगम्य घटादिको कहने वाला घटादि वचन है और यह घटादिवचन धूमादिवचनकी तरह वचनात्मक परार्थानुमान है, परार्थ प्रत्यक्ष नहीं।

अनुमानके स्वार्थ परार्थ भेदोंका मल्लिषेणने[2] भी कथन किया है और उनके लक्षण देवसूरि जैसे ही बतलाये हैं।

पन्द्रहवीं शताब्दीके आरम्भमें होनेवाले विश्रुत तार्किक धर्मभूषणने न केवल उक्त स्वार्थ-परार्थ द्विविध अनुमान भेदों तथा उनके लक्षणोंका ही कहा है, अपितु उनका विशद एवं विशेष वर्णन भी किया है। स्वार्थानुमानका स्पष्टीकरण करते हुए उन्होंने लिखा है—

परोपदेशमनपेक्ष्य स्वयमेव निश्चितात्प्राक्तर्कानुभूतव्याप्तिस्मरणसहकृताद्धूमादेः साधनादुत्पन्नं पर्वतादौ धर्मिण्यग्न्यादेः साध्यस्य ज्ञानं स्वार्थानुमानमित्यर्थः। यथा पर्वतोऽयमग्निमान् धूमवत्त्वादिति।[3]

अर्थात् प्रतिज्ञा और हेतुरूप परोपदेशकी अपेक्षा न करके स्वयं ही निश्चित तथा इससे पूर्व तर्क द्वारा गृहीत व्याप्तिके स्मरणसे सहकृत धूमादि साधनसे उत्पन्न हुए पर्वत आदि धर्मीमें अग्नि आदि साध्यके ज्ञानको स्वार्थानुमान कहते हैं। जैसे यह पर्वत अग्निवाला है, क्योंकि वह धूमवाला है।

---

१ प्र० न० त० ३।२६, १७।

२ अनुमानं द्विधा स्वार्थं परार्थं च। तत्रान्यथानुपपत्त्येकलक्षणहेतुग्रहणसम्बन्धस्मरणकारणकं साध्यविज्ञानं स्वार्थम्। पक्षहेतुवचनात्मकं परार्थमनुमानमुपचारात्।
—स्या० म० पृष्ठ २२२।

३ न्या० दी० पृष्ठ ७१, ७२।

यद्यपि स्वार्थानुमान ज्ञानात्मक है, वचनात्मक नहीं, फिर भी उसका स्वरूप बतानेके लिए कि स्वार्थानुमाता इस तरह अनुमान करता है, शब्द द्वारा उसका उल्लेख किया जाता है। जैसे 'यह घडा है' इस शब्द द्वारा घटप्रत्यक्षका निर्देश होता है।[1]

स्वार्थानुमानके अङ्ग

धर्मभूषणने[2] इस स्वार्थानुमानके सम्पादक तीन अंगोंका भी विवेचन किया है। वे तीन अंग इस प्रकार हैं—धर्मी, साध्य और साधन। साधन तो गमकरूपसे अंग है, साध्य गम्यरूपसे और धर्मी दोनोंका आधाररूपसे। वास्तवमें आधारविशेषमें ही अनुमेयकी सिद्धि करना अनुमानका प्रयोजन है। धर्ममात्र (अग्निसामान्य) की सिद्धि तो उसी समय हो जाती है जब 'जहा जहा धूम होता है वहा वहा अग्नि होती है' इस प्रकारसे तर्क द्वारा व्याप्ति गृहीत होती है। इन तीनों अंगोंमेंसे एक भी न हो तो स्वार्थानुमान सम्पन्न नहीं हो सकता। अतः तीनों आवश्यक हैं।

पक्ष और हेतुके भेदसे उन्होंने[3] स्वार्थानुमानके दो भी अंग बतलाये हैं। जब साध्य धर्मको धर्मीसे पृथक् नहीं माना जाता तब साध्यधर्म विशिष्ट धर्मीको पक्ष कहा जाता है और उस स्थितिमें पक्ष तथा हेतु ये दो ही स्वार्थानुमानके अंग हैं। इन दोनों निरूपणोंमें उक्तिवैचित्र्यको छोडकर और कोई भेद नहीं है, यह स्वयं धर्मभूषणने[4] स्पष्ट किया है।

धर्मीकी प्रसिद्धता

ध्यान रहे कि धर्मी प्रसिद्ध होता है।[5] हा, उसकी प्रसिद्धि कहीं प्रत्यक्षादि प्रमाणसे होती है, जैसे अग्निको सिद्ध करनेमें पर्वत प्रत्यक्षप्रमाणसे सिद्ध है। कहीं विकल्प (प्रतीति) से सिद्ध मान लिया जाता है, जैसे अस्तित्व सिद्ध करनेमें सर्वज्ञ और नास्तित्व सिद्ध करनेमें खरविषाण विकल्पसिद्ध धर्मी हैं। और कहीं प्रमाण तथा विकल्प दोनोंसे धर्मी सिद्ध रहता है, जैसे अनित्यता सिद्ध करनेमें शब्द उभय

---

१ न्या० दी०, पृ० ७२ ३ २३।

२ वही, पृ० ७२, ३ २४।

३, ४ अथवा पक्षो हेतुरित्यङ्गद्वयं स्वार्थानुमानस्य, साध्यधर्मविशिष्टस्य धर्मिणः पक्षत्वात्। तथा च स्वार्थानुमानस्य धर्मिसाध्यसाधनभेदात्त्रीण्यंगानि। पक्षसाधनभेदादङ्गद्वयं चेति सिद्धम्, विवक्षावैचित्र्यात्। पूर्वत्र हि धर्मिधर्मभेदविवक्षा। उत्तरत्र तु तत्समुदायविवक्षा। —न्या० दी० पृष्ठ ७२, ७३, ३ २५।

५ स एव धर्मित्वेनाभिमतः प्रसिद्ध एव। तदुक्तमभियुक्तैः—'प्रसिद्धो धर्मी' (परीक्षामु० ३-२७) इति। —वही, पृ० ७३, ३ २५।

६ वही, पृ० ७३, ३ २६।

सिद्ध धर्मी है। प्रकट है कि योग्य देशस्थ और वर्तमानकालीन शब्द श्रावणप्रत्यक्षसे सिद्ध है तथा दूरस्थ और अतीत एवं भावी शब्द विकल्पसिद्ध है। धर्मीकी प्रसिद्धताका निरूपण जैन परम्परामें धर्मभूषणके सिवाय उनके पूर्व माणिक्यनन्दि[1], देवसूरि[2], हेमचन्द्र[3] प्रभृतिने भी किया है। उल्लेखनीय है कि न्यायप्रवेशकारने[4] धर्मीको प्रसिद्ध तो माना है, पर वे उसे प्रमाणसिद्ध ही स्वीकार करते प्रतीत होते हैं, विकल्पसिद्ध और प्रमाणविकल्पसिद्ध नहीं, क्योंकि उसे उन्होंने मात्र प्रत्यक्षाद्यविरुद्ध कहा है, जिसका तात्पर्य है कि धर्मी प्रत्यक्षादि प्रमाणोंसे अविरोधी होना चाहिए। धर्मकीर्तिने[5] तो विकल्पसिद्ध और प्रमाणविकल्पसिद्ध धर्मीकी मान्यतापर आक्षेप करके उनका निराकरण भी किया है। यह कहना कठिन है कि उनका आक्षेप किनपर है? पर इतना निश्चित है कि धर्मकीर्तिके आक्षेपका सविस्तर उत्तर उनके उस आक्षेपप्रदर्शक पद्यके उद्धरणपूर्वक जैन तर्कग्रन्थोंमें ही उपलब्ध होता है। अतः सम्भव है कि उक्त तीन प्रकारके धर्मी (पक्ष) को माननेवाले जैन तार्किकोंपर ही उनका वह आक्षेप हो। देवसूरिने[6] स्पष्टतया धर्मकीर्तिके आक्षेपका उत्तर देते हुए उनके उल्लेखपूर्वक कहा भी है कि धर्मकीर्तिको स्वयं विकल्पसिद्ध धर्मी मानना पड़ता है। अन्यथा 'प्रधानादि नहीं है, क्योंकि उनकी उपलब्धि नहीं होती' आदि प्रयोग वे कैसे कर सकेंगे, क्योंकि प्रधानादि उनकी दृष्टिमें प्रमाणसिद्ध नहीं है। इसी तरह देवसूरिने विकल्पसिद्ध धर्मीको स्वीकार न करनेवाले नैयायिकोंकी भी सयुक्तिक समीक्षा की है। तात्पर्य यह कि उक्त तीन प्रकारके धर्मी की मान्यता जैन तार्किकों द्वारा प्रस्तुत ज्ञात होती है और केवल प्रमाणसिद्ध धर्मी की मान्यता अन्य तार्किकोंकी।

---

१ प० मु० ३।२७-३१।

२ प्र० न० त० ३।२०-२२।

३ प्र० मी० १।२।१६-१७।

४ तत्र पक्षः प्रसिद्धो धर्मी प्रसिद्धविशेषेण विशिष्टतया स्वयं साध्यत्वेनेप्सितः। प्रत्यक्षाद्यविरुद्ध इति वाक्यशेषः।

—न्या० प्र० पृष्ठ १।

५ नासिद्धे भावधर्मोऽस्ति व्यभिचार्युभयाश्रयः।
धर्मो विरुद्धोऽभावस्य सा सत्ता साध्यते कथम्॥

—प्र० वा० १।१९२।

६ प्र० र० मा० ३।२५। स्या० रत्ना० ३।२२ प्र० मी० १।२।१७।

७ न च विकल्पाद्धर्मिप्रसिद्धिं नाभ्युपगमन् भवान्। न सन्ति प्रधानादयोऽनुपलब्धेरित्यादिप्रयोगाणां धर्मकीर्तिना स्वयं समर्थनात्।

—स्या० र० ३।२२, पृ० ५४२।

धर्मभूषणने स्वार्थानुमानका प्रदर्शक एक महत्त्वपूर्ण एवं प्राचीन श्लोक[1] उद्धृत किया है, जिसमें द्रष्टाको स्वार्थानुमान होनेका उल्लेख है तथा 'साधनात' पदका 'दृश्यमानात'[2] (देखे गये) यह अर्थ देकर उन्होंने जो खास बात कही है वह यह कि अनुमानमें प्रयुक्त साधनको वर्तमानकालिक (दृश्यमान) होना चाहिए। इससे उस नव्यन्यायमतकी समीक्षा प्रतीत होती है, जिसमें भूत या भावि धूमादिसे भूत या भावि अग्नि आदिकी सिद्धि अभिहित है। वास्तवमें जो साधन अनुभूयमान है वही अनुमानका प्रयोजक हो सकता है। किन्तु भूत या भावि साधनोंमें व्याप्ति गृहीत न हो सकनेसे वे अनुमानके प्रयोजक नहीं हो सकते। *'यह यज्ञशाला अग्निमती थी या होगी, क्योंकि भूतकालमें धूम था या भविष्यमें होगा'*[3] इस प्रकारके अनुमान जैन दर्शनमें मान्य नहीं हैं, क्योंकि ऐसे हेतुओंकी व्याप्तिका ग्रहण सम्भव नहीं है। व्याप्तिके ग्रहणके लिए साधनका वर्तमान कालमें होना आवश्यक है। साध्य भले ही भूत या भावि हो।

परार्थानुमानका स्वरूप बतलाते हुए धर्मभूषणने[4] लिखा है कि प्रतिज्ञा और हेतुरूप परोपदेशकी अपेक्षा लेकर श्रोताको जो साधनसे साध्य (अनुमेयार्थ) का ज्ञान उत्पन्न होता है वह परार्थानुमान है। यहाँ भी उनका 'श्रोता' पद उल्लेखनीय है, जिसके द्वारा यह व्यक्त किया गया है कि श्रोताको परार्थानुमान होता है, स्वार्थानुमान नहीं। स्वार्थानुमान तो द्रष्टाको होता है। मालूम होता है कि धर्मभूषणने यहाँ जयन्तभट्ट[5] और वादि देवसूरि[6] उस मतकी आलोचना की है जिसमें उक्त तार्किकोंने श्रोताके भी स्वार्थानुमान बतलाया है और वक्ताको परार्थानुमानका प्रयोक्ता कहा है। पर हम पहले इन दोनों तार्किकोंके मतपर विचार प्रकट करते हुए कह आये हैं कि वक्ता परार्थानुमानवचनप्रयोग द्वारा श्रोताको व्याप्तिज्ञान कराता है या वक्ताके उक्त प्रकारके वचनप्रयोगसे श्रोताको व्याप्ति

---

१ परोपदेशाभावेऽपि साधनात्साध्यबोधनम्।
यद्द्रष्टुर्जायते स्वार्थमनुमानं तदुच्यते ॥
—न्या० दी० पृष्ठ ७५।

२ 'तदेव परोपदेशानपेक्षं साधनाद् दृश्यमानादभिनिष्ठतया साध्ये यद्विज्ञानं तत्स्वार्थानुमानमिति स्थितम्।
—वही पृष्ठ ७४।

३ 'इय यज्ञशाला वह्निमती भविष्यति भाविधूमात्। इयं यज्ञशाला वह्निमत्यासीद् भूतधूमात्।'
—सि० मु० (टिप्प०) पृष्ठ ५६।

४ प्रतिज्ञाहेतुरूपपरोपदेशवशात् श्रोतुरुत्पन्नं साधनात्साध्यविज्ञानं परार्थानुमानमित्यर्थः।
—न्या० दी० पृष्ठ ७५।

५ न्या० मं० पृष्ठ १३० १३१

६ स्या० र० ३।२३ पृष्ठ ५४८, ५४६।

ज्ञान होता है। परन्तु व्याप्तिज्ञानके अनन्तर साधनसे साध्यका ज्ञान वह स्वयं करता है। अतः उसका साध्यज्ञान स्वार्थानुमान ही है। हाँ, श्रोताका व्याप्तिज्ञान उसके स्वार्थानुमानका कारण होनेसे परार्थ अनुमान कहा जा सकता है। तथा वक्ताके प्रतिज्ञा हेतुरूप वचन भी श्रोताके व्याप्तिज्ञानके कारण होनेसे परार्थानुमान कहे जा सकते हैं।

परार्थानुमानके अंग और अवयव

धर्मभूषणकी एक विशेषता और उल्लेख्य है। उन्होंने[1] स्वार्थानुमानकी तरह परार्थानुमानके भी अंगोंका निर्देश किया है। अर्थात् परार्थानुमान भी स्वार्थानुमानकी भाँति धर्मी, साध्य और साधन इन तीन अथवा पक्ष और हेतु इन दो अंगोंसे सम्पन्न होता है। यह ज्ञानात्मक परार्थानुमानके सम्बन्धमें उनका विवेचन है। पर वचनात्मक परार्थानुमान (परार्थानुमान प्रयोजक-वाक्य) के उन्होंने[2] दो अवयव बतलाये हैं—(१) प्रतिज्ञा और (२) हेतु। और इनका समीक्षा पूर्वक प्रतिपादन किया है। इनपर हम आगे 'अवयव विमर्श' प्रकरण में विशेष विचार करेंगे।

इस प्रकार जैन तर्कग्रन्थोंमें अनुमानके स्वार्थ और परार्थ यही दो भेद अभिमत हैं।

---

१ यथैतस्य परार्थानुमानस्यांगसम्पत्तिः स्वार्थानुमानवत्।
—न्या० दी० पृष्ठ ७६।

२ परार्थानुमानप्रयोजकस्य च वाक्यस्य द्वाववयवौ, प्रतिज्ञा हेतुश्च।
—वही, पृष्ठ ७६।

द्वितीय परिच्छेद

व्याप्ति-विमर्श

(क) व्याप्ति स्वरूप

अनुमानका मूलाधार व्याप्ति है। अतएव उसका यहाँ विशेपतया स्वरूप विवेचित किया जाता है।

'व्याप्ति' (वि + आप्ति) का शाब्दिक अर्थ है विशेष प्राप्ति—विशेष सम्बन्ध। उस विशेष सम्बन्धका नाम व्याप्ति है जो न विच्छिन्न होता है और न व्यभिचरित। प्रश्न है कि वह विशेष सम्बन्ध क्या है ? तर्कशास्त्रमें यह विशेष सम्बन्ध उन दो पदार्थोंके नियत साहचर्यको कहा गया है जिनमें गम्यगमकभाव या साध्यसाधनभाव विवक्षित है। अथवा लिंग लिंगी या साधन साध्यमें गमक-गम्यभाव या साधन साध्यभावका प्रयोजक जो सम्बन्ध है वह विशेष सम्बन्ध है। यथा—विशिष्ट मेघ और वृष्टिका सम्बन्ध। सामान्यतया साहचर्य दो प्रकारका है—(१) अनियत और (२) नियत। अनियतका अर्थ है व्यभिचरित और नियतका अव्यभिचरित। वह्नि और धूमका सम्बन्ध अनियत सम्बन्ध है, क्योंकि कदाचित वह्निके रहते हुए भी धूम नहीं होता। जैसे अगारे या कोयलेकी अग्नि। इस सम्बन्धमें एककी उपस्थिति दूसरेके बिना भी सम्भव है। अतएव इस प्रकारका साहचर्य-सम्बन्ध अनियत या व्यभिचरित कहलाता है। यहाँ अनियम या व्यभिचारका अर्थ एकके अभावमें दूसरेका सद्भाव। पर जिन दोका साहचर्य नियत (अव्यभिचरित) होता है उनमें विशेष सम्बन्ध अर्थात् व्याप्ति मानी गयी है।[1] यथा—धूम और वह्निका सम्बन्ध। जहाँ धूम होता है वहाँ वह्नि अवश्य होती है, जैसे—पाकशाला। और जहाँ वह्नि नहीं होती वहाँ धूम भी नहीं होता, जैसे—जलाशय। इस प्रकार धूमकी वह्निके साथ व्याप्ति है—उस (वह्नि) के होनेपर ही वह (धूम) होता है, न होनेपर नहीं होता। अत धूम और वह्निका साहचर्य सम्बन्ध नियत एव अव्यभिचरित सम्बन्ध है। तात्पर्य यह कि जिस साधन और साध्यके साहचर्य सम्बन्धमें अनियम या व्यभिचार न पाया जाए उसे नियत एव अव्यभिचरित सम्बन्ध कहा गया है और ऐसे सम्बन्धका नाम ही व्याप्ति है।

विचारणीय है कि प्राचीन न्यायग्रन्थोंमें व्याप्तिका स्वरूप क्या बतलाया है ?

---

१ यत्र यत्र धूमस्तत्र तत्राग्निरिति साहचर्यनियमो व्याप्ति।
—अन्नम्भट्ट, तर्कस० पृष्ठ ५४। केशव मिश्र तर्कभा० पृष्ठ ७२।

व्याप्तिसमीक्षण प्रकरणमें यह कहा जा चुका है कि गौतमके न्यायसूत्र, वात्स्यायन के न्यायभाष्य और उद्योतकरके न्यायवार्तिकमें व्याप्तिको स्वीकार नही किया। अत इन ग्रन्थोंमें व्याप्तिका स्वरूप उपलब्ध नही होता। बौद्ध तार्किक धर्मकीर्ति[1] और उनके व्याख्याकार अर्चटने[2] अवश्य उसका स्वरूप निर्दिष्ट किया है। उन्होने बताया है कि व्यापकके होने पर ही व्याप्यका होना अथवा व्याप्यके होने पर व्यापकका होना ही हेतुकी व्याप्ति है। यहाँ व्यापक और व्याप्य दोनोके धर्मको व्याप्ति कहा गया है। जब यह कहा जाता है कि व्यापकके होने पर ही व्याप्यका होना व्याप्ति है तब व्याप्य धर्म व्याप्ति विवक्षित है। और जब यह प्रतिपादन किया जाता है कि व्याप्यके होने पर व्यापकका होना ही व्याप्ति है तब व्यापक-धर्म व्याप्ति अभिप्रेत है।

न्यायवार्तिकतात्पर्यटीकाकार वाचस्पतिने यद्यपि व्याप्तिको लक्ष्य मानकर उसका स्वरूप नही दिया, क्योकि उन्हें न्यायपरम्परानुसार व्याप्ति स्वीकार्य नही है, पर उन्होंने[3] साध्यके साथ साधनका स्वाभाविक सम्बन्ध मानकर उसका जैसा विवेचन किया है वह व्याप्ति जैसा है। उदयनने[4] उनके आशयका उद्घाटन व्याप्तिपरक किया है। वाचस्पतिने लिखा है कि कोई सम्बन्ध हो, वह जिसका स्वाभाविक एव नियत है वही गमक और इतर सम्बन्धी गम्य होता है। और स्वाभाविकका अर्थ है कोई उपाधि न होना। जैसे धूमादिकका वह्न्यादिके साथ स्वाभाविक सम्बन्ध है, क्योकि उसमें कोई उपाधि नही है। पर वह्न्यादिका धूमादिके साथ स्वाभाविक सम्बन्ध नहीं है, क्योकि वह्न्यादि धूमादिके बिना भी उपलब्ध है। अत यहाँ आर्द्रेन्धनादि उपाधिका अनुभव किया जाता है। तात्पर्य यह कि वाचस्पतिके[5] अभिप्रायानुसार निरुपाधिक स्वाभाविक सम्बन्धका नाम व्याप्ति है। उदयनने[6] वाचस्पतिका अनुसरण करते हुए स्पष्टतया स्वाभा

१ तस्य व्याप्तिहि व्यापकस्य तत्र भाव एव। व्याप्यस्य वा तत्रैव भाव ।
—हेतुबि० पृ० ५३।

२ तस्य धर्मधर्मस्य सतो व्याप्ति —यो व्याप्नोति यश्च व्याप्यते तदुभयधर्मतया प्रतीते ।
—हेतुबि० टी० पृष्ठ १७-१८।

३ तस्माद्यो वा स वाऽस्तु सम्बन्ध, केवल यस्यासौ स्वाभाविको नियत स एव गमको गम्यश्चेतर सम्बन्धीति युज्यते। ।
—न्या० वा० ता० टी० १।१।५, पृष्ठ १६५।

४ न्यायवा० ता० परि० १।१।५ पृ० ६७६।

५ तस्मादुपाधि प्रयत्नेनान्विष्यन्तोऽनुपलभमाना नास्तीत्यवगम्य स्वाभाविकत्व सम्बन्धस्य निश्चिनुम ।
—न्या० वा० ता० टी० १।१।५ पृ० १६५।

६ ननु कोऽयं प्रतिबन्धो नाम। अनौपाधिक सम्बन्ध इति ब्रूम ।
—किरणा० पृ० २९७ तथा ३००।

विकका अथ अनौपाधिक किया ह और उपाधिके विशदीकरणके साथ उसके भेदों का भी विवेचन किया है[1]।

वाचस्पति और उदयनके इस निरूपणसे अवगत होता है कि साध्य-साधन या गम्य गमकरूपसे अभिमत दो वस्तुओम नियत सम्बन्धका कारण अनौपाधिकता ह और अनियतसम्बन्धका कारण औपाधिकता (उपाधि)। उपाधि न हानेसे साधन साध्यका नियमस अनुमापक होता हैं और उपाधिके रहनेसे साधन साधन न रह कर साधनाभास हा जाता है और वह साध्यका सम्यक गमक नही होता। उदाहरणाथ 'अयोगोलक धूमवत् वह्ने' इस अनुमानमें आर्द्रेन्धनसयोग उपाधि ह। अतएव 'वह्नि' हेतु सोपाधिक हानेसे व्याप्यत्वासिद्ध या व्यभिचारी हेत्वाभास माना गया है। और इसलिए उससे यथाथ अनुमिति सम्भव नही है। अत साध्य-साधनमें नियत सम्बन्धके निर्णायाथ उसका उपाधिरहित होना आवश्यक है।

(ख) उपाधि

यत नियतसम्बन्ध—व्याप्तिका उपयुक्त स्वरूप उपाधिघटित है, अत उपाधिका विश्लेषण आवश्यक है। इसका अभिधेयाथ है—'उप समीपवर्तिनि आदधाति स्वकीय रूपमिति उपाधि'[2]—जो समीपवर्ती वस्तुमें अपना रूप आरोपित करे वह उपाधि है। उदाहरणके लिए जपाकुसुमको लिया जा सकता है। यदि जपाकुसुमको स्वच्छ स्फटिकमणिके समीप रख दें तो उसकी लालिमा उसमे आरोपित हो जाती है। यत यह लालिमा जपाकुसुमरूप उपाधिके ससर्गसे उसमें आयी है, अत वह औपाधिक है, स्वाभाविक नही। इसी प्रकार वह्नि हेतुसे धूमानुमान करनेमें धूम सामग्री (आर्द्रेन्धनसयोग) उपाधि है, क्योंकि उसके ससर्गसे 'वह्नि' में धूमव्याप्तिका आरोप (आधान) होता है। अत 'वह्नि' हेतु आर्द्रेन्धनसयोगरूप उपाधियुक्त होनेके कारण साध्यका गमक नही ह।

उपाधिकी उदयनकृत परिभाषाके[3] अनुसार भी आर्द्रेन्धनसयोग साध्यका व्यापक और साधनका अव्यापक होनेसे उपाधि है और उपाधिसहित होनेके कारण 'वह्नि' हेतु धूम साध्यका साधक नही है। इसी तरह 'स श्यामो मैत्री

---

१ वही पृ० ३००, ३०१।

२ हेत्वाभासविशेषप्रयोजकीभूतोऽर्थ (उपाधि)। यद्व्यभिचारित्वेन साधनस्य साध्यव्यभिचारित्वं स। उदयनाचार्यमते उपाधिरिदं योगरूढम्। अत्र व्युत्पत्ति। उप समीपवर्तिनि आदधाति सक्रामयति स्वीयं धर्ममित्युपाधि, इति। यथा स्फटिके लौहित्ये जपाकुसुममुपाधिरित्यत्र लौहित्यसक्रामकत्वम्।'।
—भीमाचार्य, न्यायकोश पृष्ठ १७७, उपाधि' शब्द।

३ साध्यव्यापकत्वे साधनाव्यापकत्वमिति।
—किरणा० पृष्ठ ३००।

तनयत्वात्, इतरतनयवत्'[1] इस असद् अनुमानमें भी अन्नपानादिपरिणतिविशेष या शाकपाकजत्व उपाधि विद्यमान होनेसे मैत्रीतनयत्वहेतु अपने श्यामतासाध्य का अनुमापक नहीं है।

उदयनके पश्चात् केशवमिश्र[2], अन्नम्भट्ट[3], विश्वनाथ[4] आदि अनेक नैयायिकोंने भी व्याप्ति और उपाधिपर चिन्तन एवं निबन्धन किया है। किन्तु सर्वाधिक विचार और लेखन गंगेश उपाध्याय (१२०० ई०)ने किया है। उन्होंने[5] पूर्वपक्षमें प्रथमतः उन व्याप्तिलक्षणोंको प्रस्तुत करके उनकी समीक्षा की है, जो या तो अन्य तार्किकों द्वारा अभिमत हैं या उन्होंने स्वयं अपनी प्रतिभाके बलपर उनकी समालोचनार्थ परिकल्पना की है। तदनन्तर सिद्धान्तपक्षके रूपमें अपना परिष्कृत व्याप्ति लक्षण उपस्थित किया और उसमें सम्भाव्य दोषोंका परिहार करके उसे निर्दुष्ट सिद्ध किया है। ये सभी व्याप्तिलक्षण नव्यन्यायपद्धतिसे चर्चित हैं। इनपर रघुनाथ शिरोमणिने दीधिति, मथुरानाथ तर्कवागीशने माथुरी, जगदीश तर्कालङ्कारने जागदीशी और गदाधर भट्टाचार्यने गादाधरी व्याख्याएं लिखकर उन्हें विशाल, जटिल और दुरवबोध बना दिया है। पर दुरवबोधके कारण उनका अध्ययन-अनुशीलन अवरुद्ध नहीं हुआ, वह मिथिला और नवद्वीपसे बाहर आकर धीरे धीरे महाराष्ट्र, मद्रास और काश्मीरमें होता हुआ प्रायः सारे भारतमें प्रसृत हो गया।[6] आजसे एक पीढ़ी पूर्व तक उक्त अध्ययनकी धारा बहती रही परन्तु अब वह क्षीण होती जा रही है।

(ग) उपाधि निरूपणका प्रयोजन

प्रश्न है कि व्याप्ति निरूपणके साथ उपाधि निरूपणका प्रयोजन क्या है? इसका समाधान करते हुए गंगेश आदि तार्किकोंने[7] कहा है कि यदि किसी अनुमानमें उपाधिका सद्भाव है तो स्पष्ट है कि हेतु साध्यव्यभिचारी है, क्योंकि जो साध्यके

---

१ न च श्यामात्रिपु मैत्रतनयान्तीनां स्वाभाविकप्रतिबन्धसम्भवः अन्नपानपरिणतिभेदस्योपाधेः श्यामतायां मैत्रतनयसम्बन्धं प्रति विद्यमानत्वेन मैत्रतनयत्वस्यागमकत्वात्।
—न्यायवा० ता० टी० १।१।५, पृष्ठ १६७।

२ तर्कभा० पृष्ठ ७२ ७४, ७६।

३ तर्कसं० पृष्ठ ७८ ८२ तथा ६२।

४ सि० मु० पृ० ५३-७८ तथा १२२।

५. त० चि०, जागदी० पृ० ७८ ८२, ८६ ८६, ९९ १२१, १७२, १७७ १७८ १८१, १८६, १६७, २०१ २०२ २०६ तथा २०९ ३६०।

६ विश्वम्भर सिद्धान्तशिरोमणि, तर्कभाषा-भूमिका, पृष्ठ ४८।

७ तथाहि-समव्याप्तस्य विषमव्याप्तस्य वा साध्यव्यापकस्य व्यभिचारेण साधनस्य साध्यव्यभिचारः स्फुट एव, व्यापकव्यभिचारिणस्तद्व्याप्यव्यभिचारनियमात्।
—त० चि० उपाधिवाद, पृष्ठ ३४५।

व्यापकका व्यभिचारी होता है वह साध्य (व्याप्य)का व्यभिचारी अवश्य होता है। उदाहरणार्थ 'धूमवत् वह्नेः' यहाँ आर्द्रेन्धनसंयोग उपाधि है[1]। आर्द्रेन्धनसंयोग धूम (साध्य)का व्यापक (समव्याप्त) है और वह्नि (हेतु) आर्द्रेन्धनसंयोग का व्यभिचारी है—वह उसके अभाव (अयोगोलक आदि)में भी रहता है। अतः 'वह्नि' हेतु 'धूम' साध्यके व्यापक (आर्द्रेन्धनसंयोग)का व्यभिचारी होनेसे धूम (साध्य-व्याप्य)का भी व्यभिचारी है। तात्पर्य यह कि उपाधिके सद्भावसे हेतुमें व्यभिचार और उपाधिके अभावमें उसमें अव्यभिचारका अनुमान होता है।[2] अतः यदि किसी हेतुमें उपाधि उपलब्ध होती है तो उससे उस हेतुमें व्यभिचारका निश्चय होता है और व्यभिचारके निश्चयसे तज्जन्य अनुमान दूषित-अनुमान समझा जाता है और यदि उपाधि नहीं पायी जाती तो उसके अभावमें हेतुमें अव्यभिचार-का निर्णय किया जाता है और अव्यभिचारके निर्णयसे तदुत्पन्न अनुमान निर्दोष माना जाता है।[3] यही उपाधि विचारका प्रयोजन है।

एक प्रश्न और है। वह यह कि उपाधिके सद्भाव और असद्भावका निर्णय कैसे होता है? इस सम्बन्धमें वाचस्पतिका[4] मत है कि प्रयत्नसे उपाधिका अन्वेषण किया जाए। यदि अन्वेषण करने पर वह उपलब्ध न हो तो 'उपाधि नहीं है' ऐसा अवगत करके विवक्षित साधनके सम्बन्धकी स्वाभाविकता (अनौपाधिकता)का निश्चय कर सकते हैं। उदयन[5] वाचस्पतिके इस मन्तव्यको स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि प्रत्यक्ष-गम्य उपाधियोंका निराकरण तो योग्यानुपलब्धिसे हो जाता है और प्रमाणान्तरगम्य व्यापक अव्यापक नित्य अनित्य सम्भाव्य उपाधियोंका निरास परीक्षा (सर्वशङ्का निवर्तक तर्क) द्वारा होता है। यही कारण है कि उपाधिका न देखने पर विरोधि प्रमाणके होने न होनेके निश्चयमें व्यग्र रहनेके कारण अनुमाता अनुमितिमें कुछ कालका विलम्ब कर देते हैं। अन्ततोगत्वा उपाधिके अनुपलम्भसे उसके अभावका

---

१ उदयन, किरणावली, पृष्ठ ३०१।

२ व्यभिचारस्यानुमानमुपाधेस्तु प्रयोजनम्।
—विश्वनाथ, सि० मु० का० १४०, पृ० १२३।

३ तस्मादुपाधावश्यं व्यभिचारोऽनुपाधावश्यमव्यभिचार
—न्यायवा० ता० परि० १।१।५, पृ० ६७२ तथा किरणावली पृष्ठ ३००।
त० चि० उपाधिवाद, पृ० ३९४-९५।

४ तस्मादुपाधिं प्रयत्नेनान्विष्यन्तोऽनुपलभमाना नास्तीत्यवगम्य स्वाभाविकत्वं सम्बन्धस्य निश्चिनुम।
—न्यायवा० ता० टी० १।१।५, पृ० १६५।

५ प्रत्यक्षाणामुपाधीनां योग्यानुपलब्ध्यैव निरस्ता। प्रमाणान्तरपरिदृष्टानामपि व्यापका-नामुपाधित्वे वह्नेः सार्वत्रिकप्रसङ्ग अव्यापकानामपि नित्यानामुपाधित्वे। अत एवो पाधिमपश्यन्तो मुहूर्तमनुमितौ विलम्बामहे।
—न्यायवा० ता० परिशु० १।१।५, पृ० ६९२-९५। तथा किरण० पृ० ३०१।

निश्चय हो जाता है। यथा धूमके स्वाभाविक सम्बन्धमें उपाधिके अनुपलम्भसे उसके अभावका निश्चय किया जाता है। इसी प्रकार अन्यत्र भी दृष्टव्य है। उक्त स्पष्टीकरणके पश्चात् भी एक शंका बनी रहती है, जिसकी ओर वर्द्धमानोपाध्यायने संकेत किया है[1]। वह यह कि उक्त प्रकारसे प्रत्यक्षगम्य उपाधियोंके अभावका निश्चय होने पर भी अतीन्द्रिय (अयोग्य) या शंकित उपाधियोंके अभावका निश्चय कैसे होगा? उदयनने[2] इसका भी समाधान प्रस्तुत किया है। वे कहते हैं कि विपक्षबाधक तर्कसे उक्त प्रकारकी उपाधियोंके अभावका भी निश्चय हो जाता है। इस सन्दर्भमें केशव मिश्रका[3] समाधान भी उल्लेखनीय है। उनका कहना है कि अतीन्द्रिय उपाधियोंकी आशंका नहीं हो सकती, क्योंकि उनके अतीन्द्रिय होनेसे वे उपाधि आविष्कर्त्ताको ज्ञात नहीं हैं और अज्ञात स्थितिमें उनके सद्भावकी शंका निर्मूल है। तात्पर्य यह कि प्रमाणसिद्ध उपाधिकी आशंका की जानी चाहिए।[4] अन्यथा भोजनादिमें भी विषादिके सद्भावकी शंका रहने पर उनमें लौकिकोंकी प्रवृत्ति नहीं हो सकेगी।[5] निष्कर्ष यह कि प्रमाणोपपन्न उपाधिके निश्चयसे व्यभिचारका निश्चय और व्यभिचारके निश्चयसे विवक्षित साध्य-साधनमें व्याप्तिके अभावका निर्णय होता है। तथा उपाधिके अभावनिश्चयसे व्यभिचारके अभावनिश्चयका और व्यभिचारके अभावनिश्चयसे व्याप्तिका निश्चय होता है।

(घ) जैन दृष्टिकोण

माणिक्यनन्दि[6] आदि जैन तार्किकोंने व्याप्तिका स्वरूप देते हुए लिखा है—'इसके होने पर ही यह होता है, नहीं होने पर नहीं ही होता' यह व्याप्ति है। इसीको अविनाभाव अथवा अन्यथानुपपत्ति भी कहते हैं। अतएव साधनको अवि-

---

१ वर्द्धमानोपाध्याय, न्यायवा० तात्प० परि० न्यायनिबन्धप्रकाशटी० पृ० ६९५।

२ तर्कश्च सर्वशङ्कानिराकरणपटीयान् विराजते (विजयते)।
—उदयन, न्यायवा० ता० परि० १।१।५, पृ० ६९८ तथा किरणा० पृष्ठ ३०१।

३ अयोग्यस्य शङ्कितुमशक्यत्वात्। —केशवमिश्र, तर्कभा० पृ० ७६।

४ व्यभिचार एव प्रतिबन्धाभाव। उपाधेरेव व्यभिचारज्ञप्ता प्रमाणनिश्चित एवोपाधिरेव शङ्कनीय। —उदयन, न्यायवा० ता० परि० १।१।५, पृ० ६७६-७७।

५ यथा चाप्रामाणिकोपाधिशङ्कया व्यभिचारित्वशङ्कयानुमानादिनिवृत्तिस्तथाऽप्रामाणिकविषशङ्कयैव विशिष्टाहारभोजनादिनिवृत्ति।
—वही पृ० ६७६, तथा पृष्ठ ६७५।

६ इदमस्मिन् सत्येव भवत्यसति तु न भवत्येव।
यथाऽग्नावेव धूमस्तदभावे न भवत्येवेति च।
—माणिक्यनन्दि, प० मु० ३।१२, १३।

(१) बौद्ध व्याप्ति ग्रहण

धर्मकीर्तिके[1] अनुसार व्याप्ति दो सम्बन्धोंपर आधृत है—(१) तदुत्पत्ति और (२) तादात्म्य।

जिन दो वस्तुओंमें कार्यकारणभाव होता है उनमें तदुत्पत्ति सम्बन्ध माना गया है। जैसे धूम और वह्नि। तथा जिन दोमें व्याप्यव्यापकभाव होता है उनमें तादात्म्य स्वीकार किया गया है। यथा सत्त्व और क्षणिकत्व अथवा शिंशपात्व और वृक्षत्व। इन दो सम्बन्धोंको छोडकर अन्य कोई सम्बन्ध या प्रमाण अविनाभावका नियामक (स्थापक) नही है। न ही दर्शन (अन्वय या प्रत्यक्ष) से उसकी स्थापना सम्भव है और न अदर्शन (व्यतिरेक या अप्रत्यक्ष-अनुपलम्भ) से। अर्चटने[2] धर्मकीर्तिके इस कथनका समर्थन करते हुए लिखा है कि तादात्म्य और तदुत्पत्तिके साथ अविनाभाव और अविनाभावके साथ ये दोनो व्याप्त हैं। जिनमें न तादात्म्य है और न तदुत्पत्ति उनमें अविनाभाव नही होता।

परन्तु पूर्वचर, उत्तरचर, सहचर आदि कितने ही ऐसे हेतु हैं जिनमें न तादात्म्य है और न तदुत्पत्ति, फिर भी उनमें अविनाभाव रहता है तथा अविनाभाव रहनेसे उन्हें गमक स्वीकार किया गया है। उदाहरणार्थ[3] 'श्व सविता उदेता अद्यतन सवितुरुदयात्', 'शकट उदेष्यति कृत्तिकोदयात्', 'उद्गाद्भरणि कृत्तिकोदयात्', 'रसमसमानकाल रूप जात रसात्', 'चन्द्रोदयो जात समुद्रवृद्धे' इत्यादि हेतुओंमें न तादात्म्य है और न कार्यकारणभाव। पर अविनाभाव है और इसलिए वे गमक हैं।[4]

---

१ कार्यकारणभावाद्वा स्वभावाद्वा नियामकात्।
अविनाभावनियमो दर्शनान्न नादर्शनात्॥
—प्र० वा० १।३०।

२ तादात्म्यतदुत्पत्तिभ्यामविनाभावो व्याप्त, तयोरतत्रान्वयभावात्। तस्य च तयोरेव भावा दतत्स्वभावस्यातदुत्पत्तेश्च (तदनायत्तत्व) या तदव्यभिचारनियमाभावात्।
—हे० वि० टी० पृष्ठ ८।

३ चन्द्रादेर्जलचन्द्रादिप्रतिपत्तिस्तथानुमा॥
न हि जलचन्द्रादे चन्द्रादि स्वभाव कार्य वा।
भविष्यत्प्रतिपद्येत शकट कृत्तिकोदयात्।
श्व आदित्य उदेतेति ग्रहण वा भविष्यति॥
—लघीय० का० १३ १४।

४ तदेतस्मिन् प्रतिबन्धनियमे कथं चन्द्रादेरर्वाग्भागदर्शनात् परभागोऽनुमीयेत ? नानयो कार्यकारणभाव सहैव भावात्। न च तादात्म्य, लक्षणभेदात्। अलमन्यथानुपपत्तेरन यथमनुमानम्।
—सिद्धिवि० ६।२, पृष्ठ ३७३।

उल्लेखनीय है[1] कि सर्वदर्शनसंग्रहकारने बौद्धोंके कार्यकारणभावनिश्चयके प्रकारका भी निर्देश किया है। वह प्रकार है 'पंचकारणी'। उन्होंने लिखा है कि बौद्ध नैयायिक पंचकारणी प्रक्रियाके द्वारा कार्यकारणभावका निश्चय करते हैं और कार्यकारणभावके निश्चयमें अविनाभावका निश्चय[2]। यह प्रतिपादन धर्मकीर्तिका है, जिसे उन्होंने हेतुबिन्दुमें[3] किया है। परन्तु धर्मकीर्ति और उनके टीकाकारोंने अविनाभावको कार्यकारणभाव और स्वभाव (तादात्म्य) इन दोमें ही नियन्त्रित कर उसके व्यापक स्वरूप एवं क्षेत्रको संकुचित बना दिया है, फलतः उक्त पूर्वचरादि हेतुओंमें व्याप्तिकी स्थापना नहीं हो सकती।

(२) वेदान्त व्याप्ति स्थापना

वेदान्त दर्शनमें[4] व्याप्तिका ग्रहण प्रत्यक्ष द्वारा माना गया है। उसका मत है कि साध्य साधनके साहचर्यको ग्रहण करनेवाला प्रत्यक्ष भूयोदर्शन, व्यभिचारादर्शन आदि सहकारियोंसे सहकृत होकर व्याप्तिका निश्चय करता है। जहाँ पूर्वसंस्कार प्रबल रहते हैं वहाँ व्याप्तिका निर्णय अनुमान और आगम द्वारा भी होता है। यथा—'ब्राह्मणो न हन्तव्यः', 'गौर्न पादा स्पृष्टव्या' जैसे स्थलमें व्याप्तिका ग्रहण आगमद्वारा ही सम्भव है।

बौद्धों और वेदान्तियोंकी व्याप्तिस्थापनामें यह अन्तर है कि बौद्धोंके[5] अनुसार

---

१ तस्मात्तदुत्पत्तिनिश्चयेनाविनाभावो निश्चीयते। तदुत्पत्तिनिश्चयश्च कार्यहेत्वोः प्रत्यक्षोपलम्भानुपलम्भपंचकनिबन्धनः। कार्यस्योत्पत्तेः प्रागनुपलम्भः कारणोपलम्भे सति उपलम्भः उपलब्धस्य पश्चात् कारणानुपलम्भादनुपलम्भः इति पंचकारण्या धूमधूमध्वजयोः कार्यकारणभावो निश्चीयते।

—माधवाचार्य, सर्वदर्शनसंग्रह बौद्धद० पृष्ठ ७०।

२ देवसूरि स्याद्वादरत्नाकर ३।८, पृष्ठ ५१३ ५१४ भी द्रष्टव्य है।

३ कार्यहेतौ कार्यकारणभावसिद्धिः यथेऽस्मिन्नुपलम्भे उपलभ्यते उपलब्धिलक्षणप्राप्तमनुपलब्धमनुपलभ्यते, सत्स्वप्यन्येषु हेतुषु अस्याभावे न भवतीति यत्तद्भावे भावस्तदभावेऽभावश्च प्रत्यक्षानुपलम्भसाधनः कार्यकारणभावः तस्य सिद्धिः।

—हेतु० बि० पृष्ठ ५४।

४ वेदान्तिनस्त्वाहुः। प्रत्यक्षं व्याप्तिग्राहकम्। तथा च साहचर्यग्राहिणः प्रत्यक्षस्य भूयोदर्शनव्यभिचारादर्शनोपाध्यभावनिश्चया सहकारिणः। एवमनुमानागमावपि व्याप्तिग्राहकौ। तत्रागमेन व्याप्तिग्रहस्तु 'ब्राह्मणो न हन्तव्यः', गौर्न पादा स्पृष्टव्या' इति। अत्र दृष्टान्तापेक्षा नास्ति।

—न्यायकोश, पृ० ८३३।

५. (क) अथ प्रत्यक्षपृष्ठभाविविकल्पात् साकल्येन साध्यसाधनभावप्रतिपत्तेः प्रमाणान्तरं तदस्य गृह्यमित्यपरः।

—प्र० र० मा० २।२ पृष्ठ ५१।

(ख) यस्यानुमानमन्तरेण सामान्यं न प्रतीयते तस्यार्थं प्रत्यक्षपृष्ठभाविनापि विकल्पेन प्रवृत्तिविभ्रमात् सामान्यं प्रत्याय्यते।

—हेतुबिन्दुटी०, पृष्ठ २३, २४। तथा मनोरथ० पृष्ठ ७।

निर्विकल्पक प्रत्यक्षके बाद होने वाला सविकल्पक व्याप्तिग्राहक है, जो उक्त दो सम्बन्धोंपर निर्भर है। पर वेदान्तदर्शनमें भूयोदर्शनादि सहकृत निर्विकल्पक अनुभव व्याप्तिको ग्रहण करता है।

(३) सांख्य व्याप्ति ग्रहण

सांख्यदर्शनमें[1] व्याप्तिग्रह प्रत्यक्ष द्वारा माना गया है। पर भाष्यकार विज्ञान भिक्षु[2] नियम (अव्यभिचार—व्याप्ति)का ग्रहण अनुकूल तर्क द्वारा भी प्रतिपादन करते हैं। तात्पर्य यह है कि साध्य और साधन दोनोंके अथवा केवल साधनके नियत साहचर्यका नाम व्याप्ति है और इस व्याप्तिका ग्रहण व्यभिचारशंकानिवर्तक अनुकूल तर्क सहकृत दर्शनसे होता है। अतएव व्याप्तिदर्शनके अनन्तर जो वृत्तिरूप साध्यज्ञान होता है उसे अनुमान कहा गया है।

(४) मीमांसा व्याप्ति-ग्रह

प्रभाकरानुयायी शालिकानाथने[3] अव्यभिचारको व्याप्ति कह कर उसका ग्रहण असकृद्दर्शनसे बतलाया है। उनका अभिमत है कि जिस प्रमाणसे साधन सम्बन्ध विशिष्ट गृहीत होता है उसी प्रमाणसे उस साधनका व्याप्ति सम्बन्ध भी गृहीत हो जाता है। उसके ग्रहणके लिए प्रमाणान्तरकी अपेक्षा नहीं होती। उदाहरणार्थ 'यह धूम अग्नि सम्बद्ध है' ऐसा प्रत्यक्ष (असकृद्दर्शन)से ज्ञान होने पर उसकी सम्बन्धिता (धूमनिष्ठ व्याप्तिसम्बन्ध) का भी ज्ञान उसीसे हो जाता है। अतः असकृद्दर्शन व्याप्तिग्राहक है।

भट्ट कुमारिलने[4] भाष्यकार शबरके अनुमानलक्षणगत 'सम्बन्धको' व्याप्ति

---

१ प्रतिबन्धदृशः प्रतिबद्धज्ञानमनुमानम्। प्रतिबन्धो व्याप्तिः। व्याप्तिदर्शनाद् व्यापकज्ञानं वृत्तिरूपमनुमानं प्रमाणमिति।
—सां० द० प्र० भा० १ १००।

२ नियतधर्मसाहित्यमुभयोरेकतरस्य वा व्याप्तिः। तथा चोभयोः साध्यसाधनयोरेकतरस्य साधनमात्रस्य वा नियतः अव्यभिचरितो यः सहचारः स व्याप्तिः नियमश्चानुकूल तर्केण ग्राह्य इति।
—विज्ञानभिक्षु वही ५।२९।

३ अव्यभिचारो हि व्याप्तिः। यद्वस्तु येन प्रमाणेन सम्बन्धविशिष्टं गृह्यते—यथा प्रत्यक्षेण धूमोऽग्निसम्बन्धविशिष्टः तस्य तेनैव प्रमाणेन सम्बन्धे व्याप्यतापि गम्यते। अव्यभिचारस्त्वसकृद्दर्शनगम्यः।
—प्र० पंचिका १।१।५, पृष्ठ ९५ ९६।

४ सम्बन्धो व्याप्तिरिष्टाऽत्र लिङ्गधर्मस्य लिङ्गिना।
व्याप्यस्य गमकत्वं च व्यापकं गम्यमिष्यते॥
भूयोदर्शनगम्या च व्याप्तिः सामान्यधर्मयोः।
ज्ञायते भेदहानेन क्वचिच्चापि विशेषयोः।
—मी० श्लो० १।१।५, अनु० परि०, पृष्ठ ३४८।

बतलाते हुए उसे भूयोदर्शनगम्य प्रतिपादन किया है। वे कहते हैं कि चाहे समव्याप्ति हो या विषमव्याप्ति, दोनोंमें व्याप्य ही गमक होता है और व्यापक ही गम्य, क्योंकि व्याप्यके ज्ञानसे व्यापकका ज्ञान अवश्य होता है। परन्तु व्यापकके ज्ञानमें व्याप्यका नहीं। अत व्याप्यमें व्याप्यता (व्याप्ति) और व्यापकमें व्यापिता (व्यापकता) है। जब जब धर्म्यन्तर (महानस)में धूम देखा गया तब-तब वहाँ वह्नि भी देखी गयी। इसलिए धर्म्यन्तर (सपक्ष) में हुआ धूम और वह्निका अनेकवारका सहदर्शन (भूयोदर्शन) ही धूम और वह्निमें व्याप्ति-सम्बन्धका निश्चय कराता है। विशेष यह कि कुमारिल[1] उस व्याप्ति सम्बन्धको केवल पूर्वदृष्ट महानसादिगत ही मानते तथा उसे ही अनुमानाग कहते हैं, सकलदेशकालगत नहीं। पार्थसारथि[2] कुमारिलके आशयको व्यक्त करते हुए कहते हैं कि बहुत दर्शनोंसे धूम और वह्निके साहित्य (साहचर्य)का ज्ञान होने और उनमें व्यभिचारका ज्ञान न होने पर महानसादिमें अग्निके साथ धूमकी व्याप्ति अवगत हो जाती है। किन्तु उसके पश्चात जो ऐसा ज्ञान होता है कि 'जहाँ जहाँ धूम होता है वहाँ वहाँ अग्नि होती है,' वह परोक्षरूप होनेसे आनुमानिक है। इससे प्रतीत होता है कि कुमारिल और उनके अनुवर्ती मीमांसक तार्किक व्याप्तिको केवल सपक्षगत मानते है, उसे सर्वोपसंहारवती नहीं। इसी कारण वे उसे प्रत्यक्ष (भूयोदर्शन) गम्य बतलाते है।

(५) वैशेषिक व्याप्ति ग्रह

वैशेषिकदर्शनमें सर्वप्रथम प्रशस्तपादने[3] अन्वय और व्यतिरेक द्वारा व्याप्तिग्रह प्रतिपादन किया है। वे कुमारिलकी तरह व्याप्तिको केवल सपक्षगत नहीं मानते,

---

१ तत्र धर्म्यन्तरेष्वपा यस्य येनैव यादृशी।
देशे यावति काले वा व्याप्यता माड्निरूपिता॥
तस्य तावति तादृक्षम दृष्टो धर्म्यन्तरे पुन।
व्याप्यानां व्यापकांशस्य तथैव प्रतिपादक॥
—मी० श्लो० वा० १।१।५ अनुमानपरि० श्लो० १०, ११।

२ बहुभिस्तु दर्शनैर्बहुषु देशेषु धूमस्याग्निना साहित्य गम्यते, तस्मिश्चावगते व्यभिचारेऽज्ञानवतो यथादृष्टेषु धूमस्याग्निना व्याप्तिरवगता भवति। तावतैव दृष्टेऽवगताग्निसाहित्यस्य धूमस्य परिदृष्टेषु देशान्तरेषु वह्निनियमोऽवगतो भवति, तावत्वानुमानाग तदनन्तर तु यत्र यत्र धूम तत्र तत्राग्निरिति यज्ज्ञानम सोऽप्यानुमानिक एव परोक्षरूपत्वात्, तस्य तु प्रत्यक्षत्वं सविद्धिरुद्ध।
—वही, पा० श्लो० १।१।५, अनु० प० १०, ११, पृष्ठ ३५०।

३ विधिस्तु यत्र धूमस्तत्राग्निरग्न्यभावे धूमोऽपि न भवतीति। एव प्रसिद्धसमदस्यासन्दिग्धधूमदर्शनात् साहचर्यानुस्मरणात्तदनन्तरमग्न्यध्यवसायो भवतीति। एव सर्वत्र देशकालाविनाभूतं इतरस्य लिङ्गम्।
—प्रश० भा० पृ० १०२, १०३।

अपितु समस्त देश और समस्त कालानुयायी बतलाते हैं। उदाहरणार्थ 'जहा धूम होता है वहा अग्नि होती है और जहा अग्नि नहीं होती वहा धूम भी नहीं होता।' इस अन्वय-व्यतिरेक प्रदर्शक उदाहरणसे प्रशस्तपादका अभिप्राय व्याप्तिका सर्वोप सहारवती बतलानेका स्पष्ट ज्ञात होता है। अन्वयका अर्थ दर्शन और व्यतिरेकका अर्थ अदर्शन है[१]। इस दर्शन-अदर्शनसे व्याप्ति निश्चय किया जाता है। प्रशस्तपादभाष्यके टीकाकार उदयनका[२] मत है कि साधन और साध्य दोनों सम्बन्धी हैं और दोनों महानसादिमें प्रत्यक्षसे अवगत हैं, अत उनकी व्याप्ति (अविनाभाव सम्बन्ध) बाह्येन्द्रियजन्य सविकल्पकप्रत्यक्षग्राह्य ही है। तर्क और स्मरण उसके प्रकारान्तर भी सम्भव हैं। टिप्पणकारने[३] भूयोदर्शनसहकृत अन्वय-व्यतिरेकको व्याप्तिग्रहोपाय सूचित किया है।

(६) न्याय व्याप्तिग्रह

न्यायदर्शनमें व्याप्तिग्रहणपर कुछ अधिक विस्तृत विचार मिलता है। गौतमने[४] अनुमानका कारण प्रत्यक्ष बतलाया है। वात्स्यायन[५] उनके प्रत्यक्षपदसे लिंगलिंगीके सम्बन्धदर्शन तथा लिंगदर्शनका ग्रहण करते हैं। साथ ही सम्बद्ध लिंग लिंगीके दर्शनसे उन्हें लिंगस्मृति अभीष्ट है और इस तरह वात्स्यायन स्मृति और लिंगदर्शन पूर्वक अप्रत्यक्ष अथवा अनुमान मानते हैं। 'सम्बन्धदर्शन' पदसे उन्हें 'व्याप्तिदर्शन' विवक्षित जान पड़ता है। यदि ऐसा हो तो कहा जा सकता है कि उन्होंने व्याप्तिका ज्ञान प्रत्यक्षसे स्वीकार किया है। उद्योतकरने[६] वात्स्यायनका ही समर्थन किया है। उनका वैशिष्ट्य है कि उन्होंने लिंगलिंगीसम्बन्धदर्शनको[७] प्रथम प्रत्यक्ष, लिंग

---

१ उदयन, किरणाव० पृ० ३०१।

२ किं पुनर्व्याप्तिग्रहणे प्रमाणं तत्राह् व्याप्ति प्रत्यक्षयोस्सम्बन्धिनोर्बाह्येन्द्रियजन्यस विकल्पकग्राह्यैव संस्कारस्मरणस्य चात्र प्रकारान्तरणापि सम्भवात्।
—उदयन वही, पृष्ठ ३०१, ३०२।

३ विधिरिस्त्विति। अविनाभावग्रहणप्रकारस्त्वित्यर्थ। अनेन भूयोदर्शनसहकृतान्वयव्यतिरेकावेव तद्ग्रहोपाय इति सूचितम्।
—दुण्ढिराज शास्त्री, प्रश० भा० टि० पृष्ठ १०२।

४ गौतम अक्षपाद, न्यायसू० १।१।५।

५ 'तत्पूर्वकम्' इत्यनेन लिंगलिंगिनो सम्बन्धदर्शनं लिंगदर्शनं चाभिसम्बध्यते। लिंगलिंगिनो सम्बद्धयोर्दर्शनेन लिंगस्मृतिरभिसम्बध्यते। स्मृत्या लिंगदर्शनेन चाप्रत्यक्षोऽर्थोऽनुमीयते।
—वात्स्यायन, न्यायभा० १।१।५ पृष्ठ २१।

६ उद्योतकर, न्यायवा० १।१।५, पृष्ठ ४४।

७ लिंगलिंगिसम्बन्धदर्शनमाद्यप्रत्यक्षं लिंगदर्शनं द्वितीयम्। तदिदं अन्तिमं प्रत्यक्षं पूर्वाभ्यां प्रत्यक्षाभ्यां स्मृत्या चानुगृह्यमाणं परामर्शरूपमनुमानं भवति।
—उद्योतकर, न्यायवा० १।१।५, पृष्ठ ४४।

दर्शनको द्वितीय प्रत्यक्ष, लिंगदर्शनके अनन्तर होने वाली स्मृति और स्मृतिके बाद होने वाले 'यह धूम है' इस प्रकारके ज्ञानको तृतीय (अन्तिम) प्रत्यक्ष कह कर उन्हें अनुमितिकी सामग्री बतलाया है और उक्त दोनों प्रत्यक्षों तथा स्मृतिसे अनुगृहीत तृतीय लिंगदर्शनको, जिसे परामर्श कहा है, अनुमान प्रतिपादन किया है। यद्यपि उद्योतकरने[1] प्रसंगत कतिपय अन्य अनुमानपरिभाषाओंकी समीक्षा भी प्रस्तुत की है। पर व्याप्तिग्रहणपर कोई विशेष प्रकाश नहीं डाला। वाचस्पति मिश्रने अवश्य व्याप्तिग्रहोपायपर चिन्तन किया है। साथ ही तदुत्पत्ति और तादात्म्यसे व्याप्तिकी स्थापना करने वाले बौद्धोंकी मीमांसा भी की है[2]। साध्य साधनके स्वाभाविक सम्बन्धपर बल देते हुए उन्होंने प्रतिपादन किया है कि जहां कोई उपाधि उपलब्ध नहीं होती वहां स्वाभाविक सम्बन्ध होता है[3]।

प्रश्न है कि इस स्वाभाविक सम्बन्धका ग्रहण होता कैसे है? वाचस्पतिका[4] मत है कि जहां सम्बन्धी (साधन साध्य) प्रत्यक्ष हैं वहां उनके सम्बन्धका ग्रहण प्रत्यक्षसे होता है और जहां सम्बन्धी (साधन साध्य) प्रत्यक्षातिरिक्त प्रमाणोंसे विदित हैं वहां उनके स्वाभाविक सम्बन्धका निर्णय भूयादर्शन सहकृत अन्य प्रमाणोंसे सम्पन्न होता है। उन अन्य प्रमाणोंमें मुख्य तर्क है। वह तर्क इस प्रकार है—'जो हेतु स्वभावतः अपने साध्यके साथ प्रतिबद्ध हैं वे यदि साध्यके बिना हो जाएं तो वे स्वभावसे ही च्युत हो जाएंगे' इस प्रकारके तर्ककी सहायतासे जिनके साध्याभावमें रहनेका सन्देह निरस्त हो जाता है वे हेतु अपने साध्यके उपस्थापक (गमक)

१ (क) अपरे तु ब्रुवते नान्तरीयकार्थदर्शनं तद्विदोऽनुमानमिति। (ख) एतेन तादृगविनाभाविधर्मोपदर्शनं हेतुरिति प्रत्युक्तं। (ग) अपरे तु मन्यन्ते—अनुमेयेऽथ तत्तुल्ये सद्भावो नास्तिताऽसतीत्यनुमानम्। ।
—उद्योतकर न्यायवा० १।१।५, पृष्ठ ५४, ५५।

२ अपि च रसादन्यद्रूपं रससमानकालमनुमिमतेऽनुमातार, न चानयोरस्ति कार्यकारणभावः तादात्म्यं वा। अपि चाद्यतनस्य सवितुरुदयस्य ह्यस्तनेन सवितुरुदयेन चन्द्रोदयस्य च समानकालस्य समुद्रवृद्ध्या, मध्यन्दिनवृष्ट्या चाद्यतनस्य उदयस्य न कार्यकारणभावस्तादात्म्यं वा, अथ च दृष्टो गम्यगमकभावः।
—न्यायवा० ता० टी० १।१।५, पृष्ठ १६१, १६२। तथा उदयन, न्यायवा० ता० टी० परिशु० १।१।५, पृ० ६६७-६६९।

३ वही, पृ० १६५।

४ केन पुनः प्रमाणेन स्वाभाविकः सम्बन्धो गृह्यते। प्रत्यक्षसम्बन्धिषु प्रत्यक्षेण। परं मानान्तरविदितसम्बन्धिषु मानान्तराण्येव यथास्वं भूयोदर्शनसहायानि स्वाभाविकसम्बन्धग्रहणे प्रमाणान्युन्नेतव्यानि। स्वभावतश्च प्रतिबद्धा हेतवः स्वसाध्येन यदि साध्यमन्तरेण भवेयुः स्वभावादेव प्रच्यवेरन्निति तर्कसहाया निरस्तसाध्यव्यतिरेकाशङ्कासन्देहा यत्र दृष्टास्तत्र स्वसाध्यमुपस्थापयन्त्येव।
—वही, पृष्ठ १६६, १६७।

अवश्य होते हैं। तात्पर्य[1] यह कि प्रत्यक्षसम्बन्धिस्थलमें भूयोदर्शनजन्य संस्कारसे युक्त इन्द्रिय ही धूमादिका अग्न्यादिके साथ स्वाभाविक सम्बन्ध ग्रहण कर लेती है। पर प्रमाणान्तरगम्य सम्बन्धियोंके स्वाभाविक सम्बन्धका निश्चय भूयोदर्शनसहकृत तर्क द्वारा होता है। उल्लेख्य है कि वाचस्पति[2] भूयोदर्शनकी सूक्ष्म विशेषताओंको व्यक्त करनेके लिए उत्तमजातिके मणिका उदाहरण देते हुए कहते हैं कि जिस प्रकार उत्तम जातिका मणि अपनी विभिन्न विशेषताओंके कारण विविध व्यवहारका प्रयोजक एवं धारयिताके भिन्न भिन्न फलविशेषोंका सम्पादक अनुमित होता है और उसकी उन सूक्ष्म विशेषताओंका निर्णय जौहरी कर लेते हैं उसीप्रकार भूयोदर्शनोंकी सूक्ष्म विशेषताएँ भी परीक्षक अनुमाताओं द्वारा विदित हो जाती हैं। सर्वप्रथम भूयोदर्शन काकतालीयन्यायका निरास करता है। इसके अनन्तर धूमगत सातत्य-उद्धवगत्यादिका विशेष ज्ञान करता है और उसके पश्चात् उपाधि शङ्काको दूर करता है। वारसंख्याका उसमें नियम नहीं है। वह प्रतिपत्ताओंपर निर्भर है कि उन्हें कितने भूयोदर्शन अपेक्षित हैं। क्योंकि वे कोमल, मध्य और तीव्र बुद्धिके भेदसे अनेक प्रकारके होते हैं। अतः भूयोदर्शनकी संख्या कम-बढ़ भी हो सकती है। तात्पर्यपरिशुद्धिमें उदयनने[3] वाचस्पतिके इस आशयका वैशद्येन उद्घाटन किया है। स्मरण रहे वाचस्पतिको स्वाभाविक सम्बन्धसे व्याप्ति अभिप्रेत है, जिसे उदयनने स्पष्ट किया है।

वर्द्धमानोपाध्यायने[4] भूयोदर्शनकी मीमांसा करते हुए अपने पिता (गंगेश उपाध्याय) के मतानुसार व्यभिचारज्ञान-विरहसहकृत सहचारदर्शनको व्याप्तिग्राहक प्रतिपादन किया तथा सत्तर्कको व्याप्तिप्रमा और तर्काभासको व्याप्ति-अप्रमाका वर्णन किया है।[5] उन्होंने[6] तर्कपर विशेष बल देते हुए यहाँ तक कहा है कि जो

१. तस्मादभिचारितमणिभेदतत्त्ववद् भूयादर्शनजनितसंस्कारसहितमिन्द्रियमेव धूमादीनां वह्न्यादिभिः स्वाभाविकसम्बन्धग्राहीति युक्तमुत्पश्याम।

—न्यायवा० ता० टी० १।१।५ पृष्ठ १६७।

२. यथा मणिर्वैर्विशेषैरसद्व्यवहारविषयः भवति धारयितुश्च तत्तत्फलभेदसम्पादकत्वेनानुमीयते ते ते सूक्ष्मा विशेषाः परीक्षकैरन्वीयन्ते भूयोदर्शनैरित्यादारात्। तथा हि प्रथमं तत्तावद्भूयोदर्शनं काकतालीयन्यायमनुमिमाय। तत्र मृदुमध्याधिमात्रप्रज्ञभेदेन पुंसां विचित्रशक्तित्वात्।

—उदयन, न्यायवा० ता० परि० १।१।५ पृष्ठ ७०१ ७०२।

४. वही, वर्द्धमान उपाध्याय, न्यायनिबन्धप्र० टी० पृष्ठ ६९९-७०२।

५. तथा च सत्तर्कात् व्याप्तिप्रमा, तदाभासादप्रमेति न काचित् क्षतिः।

—वही, १।१।५, पृष्ठ ७०१।

६. अतएव तर्कं विना सहचारदर्शनमात्रेण व्याप्तिग्रह इति परास्तमनुपाधि त्वादि दूषितम्।

—वही, पृष्ठ ७०१।

तर्कके बिना मात्र सहचारदर्शनसे ही व्याप्तिग्रह मानते हैं उनके अनुमानोंमें 'पक्षेतरत्व' उपाधि होती है। जहा व्यभिचारज्ञानविरहसहकृत सहचार दर्शन नही है वहा शब्द और अनुमानसे व्याप्तिग्रह होनेका भी उन्होंने उल्लेख किया है।[1]

वर्द्धमान उपाध्यायके जिस प्रतिपादनका ऊपर उल्लेख किया गया है वह गगेशने[2] तत्त्वचिन्तामणिमें विस्तारपूर्वक दिया है। उन्होंने मीमासाकादिद्वारा अभिमत भूयोदर्शनादि व्याप्तिग्रहोपायोकी समीक्षा करते हुए भूयोदर्शनको सहायक और तर्कको अनवस्थाग्रस्त निरूपित किया है और उत्तरपक्षके रूपमें व्यभिचारज्ञानविरहसहकृत सहचारदर्शनको व्याप्तिग्राहक बतलाया है। उनका मत है कि व्यभिचारनिश्चय और व्यभिचारशका दोनोंका अभाव कही तो विपक्षबाधक तर्कसे और कही स्वय ही सिद्ध होता है। जब तक व्यभिचारकी आशका रहती है तब तक तर्क अपेक्षित होता है। अत तर्कका किसी सीमा तक व्याप्तिग्राहक माननेपर अनवस्थाका प्रसग नही आता। इसी प्रकार जहा विरोधी प्रमाणके प्रदर्शनसे शका ही अवतरित नही होती, वहा तर्कके बिना ही व्याप्तिग्रह हो जाता है।

विश्वनाथ[3], केशव[4], अन्नभट्ट[5], प्रभृति नैयायिकोंने प्राय गगेशका ही अनुसरण किया है। सक्षेपमें न्यायदर्शनमें व्याप्तिग्रहके निम्न साधन वर्णित हैं—

(१) भूय सहचारदर्शन

(२) व्यभिचारज्ञानविरह

---

१ इय च प्रत्यक्षव्याप्तिग्रहसामग्री तदभावेऽपि शब्दानुमानाभ्या व्याप्तिग्रह इति सक्षेप।
—वही, पृष्ठ ७०२।

२ अत्रोच्यते। व्यभिचारविरहसहकृत सहचारदर्शन व्याप्तिग्राहकम्। ज्ञान निश्चय शका च। सा च क्वचिदुपाधिसन्देहात् क्वचिद्विशेषादर्शनसहितसाधारणधर्मदर्शनात्। तद्विरहश्च क्वचिद्विपक्षबाधकतर्कात्, क्वचित् स्वत सिद्ध एव। तर्कस्य व्याप्तिग्रहमूलकत्वेनानवस्थेति चेत्। न। यावदाशक तर्कानुसरणात्। यत्र च व्याघातेन शकैव नावतरति तत्र तर्क विनैव व्याप्तिग्रह।
—त० चि०, जागदीशी व्याप्तिग्रहोपाय, पृ० ३७८।

३ व्यभिचारस्याग्रहोऽपि सहचारग्रहस्तथा।
हेतुर्व्याप्तिग्रहे, तर्क क्वचिच्छकानिवर्तक ॥
—सि० मु० का० १३७, पृष्ठ १२१, १२२।

४ इति तर्कसहकारिणाऽनुपलम्भसनाथेन प्रत्यक्षेणैवोपाध्यभावोऽवधार्यते। तथा च उपाध्यभावग्रहणजनितसस्कारसहकृतेन साहचर्यग्राहिणा प्रत्यक्षेणैव धूमाग्न्योर्व्याप्तिरवधार्यते।
—तर्कभा० अनु० पृष्ठ ७६।

५ स्वयमेव भूयोदर्शनेन यत्र यत्र धूमस्तत्र तत्राग्निरिति महानसादौ व्याप्ति गृहीत्वा पर्वत समीप गत ।
—त० स० पृष्ठ ५८।

(३) तर्क (विपक्षबाधक अथवा व्यभिचारशंकानिवर्तक प्रमाणप्रदर्शन)
(४) अनुपलम्भ (व्यतिरेक)
(५) भूयोदर्शनजनित संस्कार
(६) सामान्यलक्षणा
(७) शब्द और अनुमान

इनमें प्रथमके दो साधन प्रत्यक्ष सम्बन्धी स्थलमें और शेष अन्यत्र व्यस्त या समस्त रूपमें यथायोग्य अपेक्षित हैं।

व्याप्तिग्रहके उपर्युक्त विवेचनसे हम इस निष्कर्ष एवं तथ्य पर पहुँचते हैं कि निःसन्देह सार्वत्रिक और सार्वदिक व्याप्तिके ग्रहणकी एक समस्या रही है और सम्भवतः इसीसे चार्वाक, जयराशिभट्ट, श्रीहर्ष आदिने अनुमानका प्रामाण्य स्वीकार नहीं किया।[1] पर यह समस्या ऐसी नहीं है, जिसका समाधान न हो। हम ऊपर देख चुके हैं कि सभी अनुमान प्रमाणवादी दार्शनिकोंने उसे सुलझानेका प्रयास किया है। प्रशस्तपादने[2] अन्वय और व्यतिरेक द्वारा तथा धर्मकीर्तिने[3] तादात्म्य एवं तदुत्पत्ति द्वारा व्याप्तिग्रहण प्रतिपादन किया है। अन्य सभी दार्शनिकोंने भूयोदर्शन या सहचारदर्शनरूप प्रत्यक्षको व्याप्तिग्राहक बतलाया है। सांख्यदर्शनमें विज्ञानभिक्षु[4] और न्यायदर्शनमें वाचस्पति[5] ये दो ऐसे तार्किक हैं जिन्होंने तर्कको भी व्याप्तिग्रहणकी सामग्रीमें सहायकरूपमें निविष्ट किया है। उनके बाद उदयनने[6] उसका विशेष समर्थन किया है। वर्द्धमानोपाध्याय[7] तो तर्कपर अधिक बल देते हुए यहाँ तक कहते हैं कि जो तर्कके बिना ही मात्र सहचारदर्शनसे व्याप्तिग्रह मानते हैं उनके अनुमानोंमें 'पक्षेतरत्व' उपाधिका होना अनिवार्य है, जिसका निवारण तर्कके बिना सम्भव नहीं है। पिछले सभी तार्किकोंने व्याप्तिग्रहकी सामग्रीमें तर्कको विशेष स्थान देकर उसे आवश्यक रूपमें मान लिया है।

(च) जैन विचारकोंका मत

जैन विचारकोंने आरम्भसे ही तर्कको व्याप्तिका निश्चायक प्रतिपादन किया है। जैनागमोंमें अनुमानको अव्यवहित[8] पूर्ववर्ती सामग्रीके रूपमें 'चिन्ता' शब्दसे

---

१ प्रभाचन्द्र, प्रमेयक० मा० २।२, पृष्ठ १७७।
२ प्रश० भा० पृ० १०२।
३ प्रमाणवा० १।३०।
४ सांख्यद० प्र० भा० ५।२९।
५ न्यायवा० ता० टी० १।१५, पृष्ठ १६६, १६७।
६ किरणा० पृष्ठ ३०१।
७ न्यायवा० ता० टी० परिशु० न्यायनिब० प्र० १।१५, पृष्ठ ७०१।
८ षट्ख० ५।५।४१, तथा त० सू० १।१३।

उसका निर्देश मिलता है। चिन्तन, ऊह, ऊहापोह और तर्क उसीके पर्याय हैं। अकलकने[1] चिंतन और तर्कको, विद्यानन्द[2], माणिक्यनन्दि[3], प्रभाचन्द्र[4], देवसूरि[5], और हेमचन्द्रने[6] तर्क, ऊह तथा ऊहापोहको चिन्ताका पर्याय प्रतिपादन किया है। भारतीय तार्किकोंमें जैन तार्किक अकलंक[7] ही ऐसे प्रथम तार्किक प्रतीत होते हैं जिन्होंने तर्कका व्याप्तिग्राहकरूपमें सर्वप्रथम समर्थन किया और उसका सबलताके साथ प्रामाण्य स्थापित किया है। यद्यपि गौतम अक्षपादने[8] तर्कको सोलह पदार्थोंमें परिगणित किया है पर उन्होंने उसे मात्र तत्त्वज्ञानार्थ माना है और उनके व्याख्याकार वात्स्यायन[9] तथा उद्योतकरने[10] उसे जिज्ञासात्मक प्रमाण-सहायक, प्रमाणानुग्राहक या संशय और निर्णयका मध्यवर्ती बतलाया है, उसे व्याप्तिग्राहक नहीं कहा। किन्तु अकलंकके बाद वाचस्पति उदयन, वर्द्धमान आदि प्राचीन तथा नव्य नैयायिकों और विज्ञानभिक्षु आदि दार्शनिकोंने उसे भी व्याप्तिग्राहक-सामग्रीमें स्थान दिया तथा व्याप्तिग्राहकरूपमें दृढतासे मान लिया है। पर उसे प्रमाण स्वीकार नहीं किया।

अकलंकने तर्कके प्रामाण्य, स्वरूप, विषय और क्षेत्रविस्तारका भी निर्धारण किया है। उन्होंने[11] उसे प्रमाण सिद्ध करते हुए युक्तिपूर्वक कहा कि उसे प्रमाण न मानने पर उससे उत्पन्न होने वाले लैंगिक (अनुमान) का प्रामाण्य भी असंदिग्ध एवं निरापद नहीं रह सकेगा। दूसरे, प्रत्यक्ष और अनुमानकी तरह वह भी संवादी है, अतः उसे अवश्य प्रमाण मानना चाहिए। तर्कका स्वरूप बतलाते हुए उन्होंने[12]

---

१ 'चिन्तन चिन्ता।'
—तत्त्वा० वा० ११३, पृष्ठ ५८।
चिन्ताया तर्कस्य।'
—लघी० स्वोप० वृ० १।२।१० पृ० ५।

२ त० श्लो० १।१३, पृ० १८८ १९४, १९६।

३ प० मु० १।११ १६।

४ प्र० क० मा० १।११, १६।

५ प्र० न० त० ३।७।

६ प्र० मी० १।२।५, ११।

७ न्या० वि० का० ३२९, ३३०। लघीय० का० १०, ११ ४९। प्र० स० का० १२।

८ न्यायसू० १।१।४०।

९ न्या० भा० १।१।१। पृष्ठ ९, १।१।४०, पृ० ५४, ५५, ५६।

१० न्या० वा० १।१।४०, पृ० १४१ १४२।

११ न्या० विनि० का० ३३०, ३३१, तथा लघी० का० ४९ और प्र० सं० स्वो० वृ० का० १२।

१२ सम्भवप्रत्ययस्तर्कः प्रत्यक्षानुपलम्भतः। अन्यथासम्भवासिद्धेरनवस्थानुमानतः॥
—प्रमाण सं० का० १२, अकलंकग्रं० पृ० १००।

प्रतिपादन किया कि प्रत्यक्ष और अनुपलम्भ पूर्वक जो 'उसके बिना वह सम्भव नहीं' इस प्रकारका सम्भव प्रत्यय (ज्ञान) होता है वह तर्क है। यहाँ 'प्रत्यक्ष' से उन्हें उपलम्भ (अन्वयज्ञान) अर्थ अभिप्रेत है तथा उपलम्भसे प्रत्यक्ष और अनुमानादि प्रमाण विवक्षित हैं, क्योंकि प्रत्यक्षगम्य साध्य-साधनोंकी तरह अनुमेयादि साध्य साधनोंमें भी व्याप्ति होती है। सूर्यमें गतिशक्ति गतिमत्त्वहेतुसे और गतिमत्त्व देशाद्देशान्तरप्राप्तिहेतुसे अनुमित होता है। अकलंकके प्रत्यक्ष और अनुपलम्भ शब्द यद्यपि प्रशस्तपादके अन्वय और व्यतिरेकके स्मारक हैं। पर उनमें अन्तर है। अकलंकके प्रत्यक्ष और अनुपलम्भ शब्द ज्ञान-परक हैं और प्रशस्तपादके अन्वय और व्यतिरेक ज्ञेयसूचक। यतः जैन दर्शनमें ज्ञानको ही ज्ञानका कारण माना गया है, ज्ञेयको नहीं। अतः अनुमानका उत्पादक तर्क और तर्कके उत्पादक प्रत्यक्ष और अनुपलम्भ ज्ञानात्मक हैं। तथ्य यह[1] कि व्याप्ति अविनाभाव (अर्थात् साध्यके अभावमें साधनका न होना और साध्यके सद्भावमें ही साधनका होना) रूप है और उसे तर्क ही ग्रहण कर सकता है, क्योंकि वह सर्वोपसंहारवती (अर्थात जितना धूम है वह अन्य कालों और अन्य देशोंमें अग्निका ही कार्य है, अनग्निका नहीं, इस प्रकार सर्वदेश और सर्वकाल वर्तिनी) होती है। उसका ज्ञान प्रत्यक्ष द्वारा सम्भव नहीं है[2], कारणकि प्रत्यक्ष सन्निहित और वर्तमानको ही जानता है, *असन्निहित एवं अवर्तमान (अतीत-अनागत) को नहीं। अनुमान द्वारा भी व्याप्ति* ग्रहण असम्भव है क्योंकि व्याप्तिज्ञान हुए बिना अनुमानकी उत्पत्ति नहीं हो सकती। अन्य अनुमानसे व्याप्तिग्रहण माननेपर *अनवस्था* आती है। *आगमादि* प्रमाणोंका विषय भिन्न होनेसे उनके द्वारा भी व्याप्तिनिश्चय अशक्य है। अतः व्याप्तिज्ञानके लिए परोक्षात्मक तर्कको पृथक् प्रमाण स्वीकार करना अनिवार्य है[3]।

---

१ सम्भवप्रत्ययविज्ञानं स तर्कः परिनिष्ठितः । अविनाभावसम्बन्धः साकल्येनावधार्यते ॥
सहदृष्टेश्च धर्मैस्तैर्विना तस्य न सम्भवः । इति तर्कमपेक्षेत नियमेनैव लैङ्गिकम् ॥
तस्माद् वस्तुबलादेव प्रमाणं ।
—*न्यायविनि०* का० ३२९ ३३१, अ० प्र० पृष्ठ ७४।

२ अविकल्पधिया लिङ्गं न किञ्चित्सम्प्रतीयते ।
नानुमानादसिद्धत्वात् प्रमाणान्तरमाञ्जसम् ॥
न हि प्रत्यक्षं यावान् कश्चिद्धूमः कालान्तरे देशान्तरे च पावकस्यैव कार्यं नार्थान्तरस्येतीयतो व्यापारान् कर्तुं समर्थं संनिहितविषयबलोत्पत्तेरविचारकत्वात्। नाप्यनुमानान्तरम् सर्वत्राविशेषात्। न हि साकल्येन लिङ्गस्य लिङ्गिना व्याप्तेरसिद्धौ क्वचित् किञ्चिदनुमानं नाम।
—*लघीय०* स्वो० वृ० का० ११, १२, अ० प्र० पृष्ठ ५।

३ व्याप्तिं साध्येन हेतोः स्फुटयति न विना चिन्तयैकत्र दृष्टिः, साकल्येनैष तर्कोऽनधिगत-
विषयः तत्कृतार्थैकदेशे।
लघीय० का० ४६, अ० प्र०।

अकलङ्कके इस विवेचनसे स्पष्ट है कि प्रत्यक्ष और अनुपलम्भपूर्वक सर्वदेश और सर्वकालके उपसंहाररूप अविनाभाव (व्याप्ति) का निश्चय करनेवाला ज्ञान तर्क है और वह प्रमाण है। इसमें प्रत्यक्ष[1], स्मरण और सादृश्यप्रत्यभिज्ञान परम्परा सहायक हैं।

तर्कका क्षेत्र व्यापक और विशाल है। प्रत्यक्ष जहाँ सन्निहितको, अनुमान नियत देश काल में विद्यमान अनुमेयको, उपमान सादृश्यको और आगम शब्दसंकेतादिपर निर्भरितको जानते हैं वहाँ तर्क सन्निहित असन्निहित, नियत अनियत देश-कालमें विद्यमान साध्य-साधनगत अविनाभावको विषय करता है। तात्पर्य यह कि तर्क केवल प्रत्यक्षके विषयभूत साध्य साधनोंके अविनाभावको ही नहीं, अपितु अनुमेय एवं आगमगम्य साध्य साधनोंके भी अविनाभावको उपलम्भ और अनुपलम्भके आधारसे अवगत करता है[2]।

परवर्ती विद्यानन्द, माणिक्यनन्दि, प्रभाचन्द्र, देवसूरि, हेमचन्द्र, धर्मभूषण प्रभृति सभी जैन तार्किकोंने अकलङ्कदेवका अनुसरण करते हुए तर्क द्वारा ही व्याप्तिग्रहणका कथन किया है। विद्यानन्द कहते हैं कि प्रतिपत्ता[3] साध्य और साधनोंके व्याप्ति-सम्बन्धका जिस प्रत्यय (ज्ञान) द्वारा निश्चय करके अनुमानके लिए प्रवृत्त होता है वह तर्क है तथा व्याप्तिसम्बन्धमें संवादी होनेसे वह प्रमाण है। यदि वह संवादी न हो तो तदुत्पन्न अनुमान भी संवादी नहीं हो सकता। यतः अनुमान संवादी है अतः व्याप्ति-सम्बन्धग्राही तर्क भी अवश्य संवादी है। यदि उसके सम्वादमें सन्देह किया जाए तो अनुमाताको निःशंक अनुमिति नहीं हो सकती। अगर कहा

---

१ सम्भवविकल्पानुस्मरणपरामर्शसम्बन्धाभिनिबोधस्तर्कः प्रमाणम्।
—प्रमाणसं० स्वो० वृ० का० १२, अ० ग्र० पृष्ठ १००।

२ तेनातीन्द्रियसाध्यसाधनयोरागमानुमाननिश्चयानिश्चयहेतुकसम्बन्धबाधस्यापि संग्रहान्ना-व्याप्तिः। यथा 'अस्त्यस्य प्राणिनो धर्मविशेषो विशिष्टसुखादिसद्भावान्यथानुपपत्ते', इत्यादौ, 'आदित्यस्य गमनशक्तिसम्बन्धोऽस्ति गतिमत्त्वान्यथानुपपत्ते' इत्यादौ च। न खलु धर्मविशेषः प्रवचनादन्यतः प्रतिपत्तुं शक्यः, नाप्यतोऽनुमानादन्यतः कुतश्चित्प्रमाणादादित्यस्य इति।
—प्रभाचन्द्र, प्रमेयक० मा० ३।११, पृ० १४८।

३ येन हि प्रत्ययेन प्रतिपत्ता साध्यसाधनार्थानां व्याप्त्या सम्बन्धं निश्चित्यानुमानाय प्रवर्तते स तर्कः सम्बन्धे संवादात् प्रमाणमिति मन्यामहे। न हि तर्कस्यानुमाननिबन्धने सम्बन्धे संवादाभावेऽनुमानस्य संवादः सम्भवी। तत्संवादसन्देहे निःशङ्कानुमितिः न स्यात्। गृहीतग्रहणात्तर्कोऽप्रमाणमिति चेन्न वै। प्रत्यक्षानुपलम्भाभ्यां सम्बन्धो देशतो गतः। साध्यसाधनयोस्तर्कात्सामस्त्येनेति चिन्तितम्॥ प्रमाणाद्भिन्नं प्रमाणं तर्कः साध्यसाधनसम्बन्धाज्ञाननिवृत्तिरूपे साक्षात्स्वार्थनिश्चायने फले साधकतमत्वात्।
—विद्यानन्द, तत्त्वार्थश्लो० १।१३।८४ ११९।

जाए कि गृहीतग्राही होनेसे वह प्रमाण नहीं है तो यह कथन भी ठीक नहीं है, क्योंकि विशेष परिच्छित्ति करनेके कारण वह अपूर्वार्थग्राही है। स्पष्ट है कि प्रत्यक्ष और अनुपलम्भ द्वारा साध्य और साधनका सम्बन्ध एकदेशसे ही जाना जाता है और तर्कसे वह सामस्त्यन अवगत किया जाता है। दूसरी बात यह है कि समारोपव्यवच्छेदक होनेसे भी तर्क प्रमाण है। अतः साध्य और साधनके सम्बन्ध (अविनाभाव) विषयक अज्ञानको दूर करने रूप फलमें साधकतम होनेसे तर्क प्रमाण है।

माणिक्यनन्दिने[1] अकलङ्क और विद्यानन्दका समर्थन करते हुए प्रतिपादित किया है कि व्याप्तिका निश्चय तर्कसे होता है जो उपलम्भ तथा अनुपलम्भपूर्वक होता है। उसका उन्होंने उदाहरण दिया है—जैसे अनलके होनेपर ही धूमका होना और अनलाभावमें धूमका न होना। इनकी विशेषता है कि इन्होंने[2] उस व्याप्तिका स्वरूप—अविनाभावको सहभाव और क्रमभाव नियमरूप बतलाया है। सहचारियों (रूपरसादिकों) और व्याप्य व्यापकों (शिंशपात्व-वृक्षत्वादिकों) में सहभावनियम होता है तथा पूर्वचर उत्तरचरों और कार्यकारणोंमें क्रमभावनियम। प्रतीत होता है कि माणिक्यनन्दिने धर्मकीर्ति द्वारा व्याप्तिस्थापकरूपमें प्रतिपादित तादात्म्य और तदुत्पत्ति सम्बन्धोंके स्थानमें सहभाव और क्रमभावनियमकी स्थापना करके उनके उक्त सम्बन्धोंको अव्याप्त बतलाया है। प्रकट है कि रूपरसादि सहचरों और नक्षत्रोदय-कृत्तिकोदयादि पूर्वोत्तरचरोंमें न तादात्म्य सम्भव है और न तदुत्पत्ति। पर उनमें अविनाभाव होनेसे गम्यगमकभाव माना गया है। प्रभाचन्द्रने भी अपनी व्याख्या द्वारा उनके प्रतिपादनकी सम्पुष्टि की है।

देवसूरिने[4] व्याप्तिसम्बन्धको त्रिकालवर्ती बतलाते हुए कहा है कि उसका ग्रहण सन्निहितग्राही प्रत्यक्षसे और नियतदेशग्राहक अनुमानसे सम्भव नहीं है। उसका ज्ञान एकमात्र तर्क (ऊह) से ही हो सकता है। उनका उदाहरण माणिक्यनन्दिके ही समान है।

---

१ प० मु० ३।९, ११, १२, १३, १६, १७, १८।

२ सहक्रमभावनियमोऽविनाभावः। सहचारिणोर्व्याप्यव्यापकयोश्च सहभावः। पूर्वोत्तरचारिणोः कार्यकारणयोश्च क्रमभावः।

—प० मु० ३।१६, १७, १८।

३ प्रमेयक० मा० ३।११, ११, १२, १३।

४ उपलम्भानुपलम्भसम्भवं त्रिकालीकलितसाध्यसाधनसम्बन्धाद्यालम्बनमिदमस्मिन् सत्येव भवतीत्याद्याकारं संवेदनमूहापरनामा तर्कः। यथा यावान् कश्चिद् धूमः स सर्वो वह्नौ सत्येव भवतीति।

—प्र० न० त० ३।७, ८ तथा इसकी टीका स्याद्वा० र० पृ० ५०४-५१५।

अनन्तवीर्यने[1] प्रत्यक्ष और अनुमानकी तरह आगम, उपमान, अर्थापत्ति, अभाव अनुपलम्भ, कारणानुपलम्भ, व्यापकानुपलम्भ और प्रत्यक्षफल ऊहापोहविकल्पमें व्याप्तिग्रहकी सम्भावनाओंको भी निरस्त करके तर्कको ही व्याप्तिग्राहक सिद्ध किया है। उनका मन्तव्य है कि आगम सर्वतद्वारा वस्तुको, उपमान सादृश्यको, अर्थापत्ति अन्यथानुपपद्यमान अर्थको और अभाव अभावको विषय करता है। इनमें सार्वत्रिक और सार्वदिक व्याप्तिका कोई ग्रहण नहीं करता। सबका विषय सर्वथा भिन्न भिन्न है। अनुपलम्भ उपलम्भकी तरह प्रत्यक्षका विषय अथवा स्वयं प्रत्यक्ष है और कारणानुपलम्भ तथा व्यापकानुपलम्भ दोनों लिंगरूप होनेसे तज्जनित ज्ञान अनुमान है और प्रत्यक्ष एवं अनुमान व्याप्तिग्रहमें असमर्थ हैं। ऊहापोहविकल्पको, जिसे वैशेषिक प्रत्यक्षका फल मानते हैं, प्रत्यक्ष या अनुमानके अन्तर्गत माननेपर उनके द्वारा व्याप्तिग्रह असम्भव है। अतः उसे प्रत्यक्ष और अनुमानसे पृथक् प्रमाण मानना ही उचित है। प्रत्यक्षका फल होनेसे उसे अप्रमाण नहीं कहा जा सकता, क्योंकि वैशेषिकोंने स्वयं विशेषणज्ञानको सन्निकर्षका फल होनेपर भी विशेष्यज्ञान-रूप फलका उत्पन्न करनेके कारण प्रमाण स्वीकार किया है। उसी तरह ऊहापोह-विकल्प, जो तर्कसे भिन्न नहीं है, अनुमानज्ञानका कारण होनेसे प्रमाण माना जाना चाहिए।

हेमचन्द्रका[2] ऊहलक्षण और उसका व्याप्तिनिश्चायकत्व प्रतिपादन माणिक्य-नन्दिके प्रतिपादनसे शब्दशः मिलता है। हाँ, उन्होंने माणिक्यनन्दि और देवसूरिकी तरह उदाहरणका प्रदर्शन नहीं किया, किन्तु बौद्ध तार्किक धर्मकीर्ति[3] अभिहित एवं अर्चट[4] द्वारा समर्थित व्याप्ति लक्षण अवश्य संगृहीत किया है। वे लिखते हैं कि व्याप्ति, व्याप्य और व्यापक दोनोंका धर्म है। जब व्यापक (गम्य)का धर्म व्याप्ति विवक्षित हो तब व्यापकका व्याप्यके होनेपर होना ही व्याप्ति है और जब व्याप्य (गमक) का धर्म व्याप्ति अभिप्रेत हो तब व्याप्यका व्यापकके होनेपर ही होना व्याप्ति है। इस प्रकार हेमचन्द्रने[5] व्याप्तिके दो रूप प्रदर्शित किये हैं। प्रथम रूपमें अयोगव्यवच्छेदरूपसे व्याप्तिकी प्रतीति होती है और दूसरेमें अन्ययोगव्यवच्छेदरूपसे। व्याप्तिके इन रूपोंको अन्य जैन तार्किकोंने प्रस्तुत नहीं किया।

---

१ प्र० रत्न० २.२, पृष्ठ ५७-६२।

२ हेमचन्द्र प्रमाणमी० १।२।५, ६, १०।

३, ४ हेतुबिन्दुटी० पृ० १७-१८।

५ व्याप्तिर्व्यापकस्य व्याप्ये सति भाव एव व्याप्यस्य वा तत्रैव भावः। पूर्वत्रायोगव्यवच्छेदेनावधारणम्, उत्तरत्रान्ययोगव्यवच्छेदेनेति।

—हेमचन्द्र, प्र० मी० १।२।६ तथा इसोकी व्याख्या।

पं० सुखलाल जी सघवीका[1] मत है कि धर्मकीर्ति और अर्चटसे प्रभावित होकर ही हेमचन्द्रने यह निरूपण अपनाया है।

धर्मभूषणने[2] भी व्याप्तिका प्रकाशक तर्कको ही माना है। उनका कहना है कि व्याप्ति सर्वोपसंहारवती होती है। अर्थात् 'जहाँ जहाँ धूम होता है वहाँ वहाँ अग्नि होती है' इस उदाहरणमें धूमके होने पर अनेकबार अग्निकी उपलब्धि और अग्निके अभावमें धूमकी अनुपलब्धि पायी जानेपर 'सब जगह और सब कालमें धुआँ अग्निका व्यभिचारी नहीं है—अग्निकेहोनेपर ही होता है और अग्निके अभाव में नहीं होता' इस प्रकारके सर्वदेश और सर्वकाल व्यापी व्यापारका नाम व्याप्ति है। उसका ग्रहण प्रत्यक्षादिसे सम्भव नहीं है। इन्द्रियप्रत्यक्ष नियत और वर्तमान ग्राही है। वह इतने लम्बे व्यापारको नहीं कर सकता। मानसप्रत्यक्ष यद्यपि उसे ग्रहण कर सकता है किन्तु वह ज्ञान विशदज्ञान है और उपर्युक्त सर्वोपसंहारी व्याप्ति ज्ञान अविशद है। अतः उसे मानस प्रत्यक्ष भी नहीं कहा जा सकता। अनुमान द्वारा भी व्याप्ति ग्रहण नहीं हो सकता, क्योंकि अनुमानकी उत्पत्ति स्वयं व्याप्ति ज्ञानके अधीन है। अतः स्मरण, प्रत्यभिज्ञान और अनेकों बारका हुआ प्रत्यक्ष ये तीनों मिलकर एक ऐसे ज्ञानको उत्पन्न करते हैं जो व्याप्तिके ग्रहण करनेमें समर्थ है और वह तर्क है।

योगिप्रत्यक्ष द्वारा[3] व्याप्तिग्रहणकी बात इसलिए निरर्थक है, क्योंकि योगी तो प्रत्यक्षसे ही समस्त साध्य-साधनोंको जान लेता है, अतः उसे न व्याप्तिग्रहणकी आवश्यकता है और न अनुमानकी ही। व्याप्तिग्रहण और अनुमानकी आवश्यकता अल्पज्ञोंके लिए है। अतएव अल्पज्ञोंका व्याप्तिका अविशद किन्तु अविसंवादी ज्ञान करानेवाला तर्क प्रमाण ही है।

सामान्यलक्षणा प्रत्यासत्ति[4] अग्नित्वेन समस्त अग्नियों और धूमत्वेन सकल धूमोंका ज्ञान हो सकता है, पर उनके व्याप्तिसम्बन्धका ज्ञान उससे सम्भव नहीं

---

१ पं० सुखलाल सघवी, प्र० मी० भाषाटि० पृष्ठ ७९।

२ व्याप्तिज्ञानं तर्कः। स च तर्कस्तां व्याप्तिं सकलदेशकालोपसंहारेण विषयीकरोति "यत्र यत्र धूमस्तत्र तत्राग्निरिति सर्वोपसंहारवती हि व्याप्तिः। प्रत्यक्षस्य सन्निहितदेश एव धूमाग्निसम्बन्धप्रकाशनान्न व्याप्तिप्रकाशकत्वम्। अनुमानादेस्तु व्याप्तिग्रहणे प्रकृतसमानत्वम्।

—न्या० दी० पृ० ६२-६४।

३ (क) त० श्लो० १।१०।१५९, पृष्ठ १७९।
(ख) प्रमेयक० मा० ३।१३, पृ० ३५१।
(ग) जैनदर्शन, पृष्ठ ३०७।

४ सि० मु० प्रत्यक्षखण्ड पृष्ठ ४९, तथा जैन दर्शन पृष्ठ ३०० द्वि० संस्करण।

है। अत साध्य साधनव्यक्तियोका ज्ञान सामान्यलक्षणा द्वारा हो जानेपर भी 'धूम वह्निव्याप्य है, देशान्तर-कालान्तरमें वह्निके बिना नही होता इस प्रकारका ज्ञान चिन्ता अथवा तर्क या ऊह द्वारा ही सम्भव है और वह संवादी होनेसे प्रमाण है। प्रमाणके विषयका परिशोधक या प्रमाणानुग्राहक माननेपर[1] भी उसे प्रमाण अवश्य मानना चाहिए, क्योकि अप्रमाणसे न तो प्रमाणविषयका परिशोधन ही हो सकता है और न प्रमाणोका अनुग्रह। अन्यथा संशयादिसे भी वह हो जाना चाहिए।

निष्कर्ष

अनुमानप्रमाणके लिए आवश्यक साध्य साधनोंके अविनाभाव (व्याप्ति)का निश्चय जैन तार्किक जिस तर्क द्वारा स्वीकार करते हैं वह भारतीय वाङमयमें अपरिचित नही है। ऋग्वेदमें[2] ऊह् धातुसे उसका उल्लेख है। पाणिनि व्याकरणसूत्रमें[3] भी ऊह् धातुसे उसका निर्देश है। स्वयं तर्क शब्द कठोपनिषद्[4] और रामायणके[5] अतिरिक्त जैनागमो,[6] पिटको[7] और दर्शनसूत्रोंमें[8] उपलब्ध है। जनागमोंमें[9] उसके लिए 'चिन्ता और ऊहा 'शब्द भी आये हैं, उनका सामान्य अर्थ एक ही है और वह है विचारात्मक ज्ञानव्यापार। उसी अथवा कुछ भिन्न भावका द्योतक ऊह शब्द जैमिनीयसूत्र और उसके शाबरभाष्य आदिमें[10] भी पाया जाता है।

---

१ प्रमेयक० मा० ३।१३, पृ० ३५२, ३५३।

२ ऋग्वेद १०।१३१।१०।

३ उपसर्गाद्ध्रस्व ऊहत ।'
—पा० सू० ७।४।२३।

४ नैषा तर्केण मतिरपनेया।'
—कठो० २।६।

५ रामायण ३।२५।१२।

६ 'तक्का जत्थ न विज्जइ।
—आचा० सू० १७०।

७ 'विहिंसा वितक्क।'
—मज्झि० सब्बासवसु० २।६।

८ 'तर्काप्रतिष्ठानात्।'
—ब्रह्मसू० २।१।११।

९ 'सण्णा सदी मदी चिंता चेदि।'
—षट्खं० ५।५।४१।
ईहा ऊहा अपोहा मग्गणा गवेसणा मीमासा।
—वही ५।५।३८।

१० त्रिविधश्च ऊह।
—शाबरभा० ९।१।१।

न्यायसूत्रमें[1] तर्कको एक स्वतन्त्र पदार्थके रूपमें माना गया है और उसके लक्षणके साथ ऊह शब्द भी प्रयुक्त है। परन्तु उसे न्यायसूत्रकारने न प्रमाण माना है और न व्याप्तिग्राहक। वाचस्पतिने[2] अवश्य उसे व्याप्तिज्ञानमें बाधक होनेवाली व्यभिचारशङ्काको हटाकर व्याप्तिनिर्णयमें सहायता करनेवाला स्वीकार किया है, पर उसे प्रमाण उन्होंने भी नहीं माना। बौद्धतार्किक[3] भी तर्करूप विकल्पज्ञानको व्याप्तिज्ञानोपयोगी मानते हुए भी उसे प्रमाण नहीं मानते। इस तरह तर्कको प्रमाणरूप माननेकी मीमांसकपरम्परा और अप्रमाणरूप स्वीकार करनेकी नैयायिक तथा बौद्ध परम्परा है।

जैन परम्परामें प्रमाणरूपसे माने जानेवाले मतिज्ञानके एक भेदका नाम ऊहा है, जो वस्तुतः गुण-दोषविचारणात्मक ज्ञान-व्यापार ही है। उसके लिए चिन्ता, ईहा, अपोहा, मीमांसा, गवेषणा, मार्गणा और तर्क ये शब्द प्रयुक्त हुए हैं। अकलङ्कने[5] तर्कको सर्वप्रथम व्याप्तिग्राहक प्रतिपादन कर उसका प्रामाण्य एवं स्पष्टतया स्थापित किया है। उनके पश्चात् वाचस्पति आदि नैयायिकों और [illegible] आदि दार्शनिकोंने उसे व्याप्ति ग्राहक सामग्रीमें स्थान देकर भी उसका प्रामाण्य स्वीकार नहीं किया। अकलङ्कका अनुसरण जैन परम्पराके परवर्ती सभी तार्किकोंने किया है। यों तो तत्त्वार्थसूत्रकार[6] उसका परोक्ष प्रमाणके अन्तर्गत 'चिन्ता' पदके द्वारा प्रतिपादन कर चुके थे। पर तार्किकरूपमें उसकी परोक्ष प्रमाणोंमें परिगणना सर्वप्रथम अकलङ्कने[7] की है। इस प्रकार जहाँ अन्य तार्किक व्याप्तिका ग्रहण मानसप्रत्यक्ष, भूयोदर्शन, व्यभिचाराग्रहसहित सहचारदर्शन, अन्वय-व्यतिरेक, सामान्यलक्षणा और तादात्म्य-तदुत्पत्ति सम्बन्धसे मानते हैं वहाँ जैन तार्किक एकमात्र तर्क स्वीकार करते तथा संवादी होनेसे उसे प्रमाण वर्णित करते हैं।

---

१ न्या० सू० १।१।४०।

२ न्यायवा० ता० टी० १।१।४० पृष्ठ १६६, १६७।

३ हेतुबि० टी० पृ० २४।

४ षट्खं० ५।५।३८।

५ व्याप्तिं साध्येन हेतोः स्फुटयति न विना चिन्तयैकत्र दृष्टिः
साकल्येनैष तर्कोऽनधिगतविषयः स्पृशन्नंशेन।
—लघीय० का० ४९ अ० सं०। तथा न्या० विनि० का० ३२९, ३०।

६ त० सू० १।१३।

७ (क) 'परोक्षं शेषविज्ञानम्'।
—लघीय० का० ३।
(ख) 'परोक्षं प्रत्यभिज्ञादि'।
—प्र० सं० २, तथा न्यायवि० का० १०, २१, ६१।

(छ) व्याप्ति-भेद

समव्याप्ति विषमव्याप्ति

तर्कग्रन्थोंमें व्याप्तिके अनेक प्रकारसे भेद उपलब्ध होते हैं। कुमारिलके मीमांसाश्लोकवार्तिकमें[1] सम और विषमके भेदसे व्याप्तिका भेद मिलता है। जब व्याप्य व्यापकके देश और कालकी अपेक्षा सम देश-कालवृत्ति होता है तब उसे समव्याप्त और उसमें रहनेवाली व्याप्तिको समव्याप्ति कहा गया है[2] और जब वह व्यापकके देश कालसे न्यून देश कालवृत्ति होता है तब उसे विषमव्याप्त तथा उसमें विद्यमान व्याप्तिको विषमव्याप्ति प्रतिपादित किया गया है[3]। पर ध्यान रहे, व्यापक व्याप्यके सम और अधिक देश-कालवृत्ति होता है, व्याप्य नहीं, अतः व्याप्य तो व्यापकका गमक हो सकता है, पर व्यापक व्याप्यका नहीं। अतएव व्याप्यको ही गमक और व्यापकको ही गम्य माना गया है। व्याप्तिके इस द्विविध प्रकारका उल्लेख कुमारिलके परवर्ती जयन्तभट्ट[4], उदयन[5] और गंगेशने[6] भी किया है।

अन्वयव्याप्ति-व्यतिरेकव्याप्ति

अन्वयव्याप्ति और व्यतिरेकव्याप्तिके भेदसे भी व्याप्तिके दो भेद पाये जाते हैं। इन भेदोंका सर्वप्रथम संकेत प्रशस्तपादने[7] किया है, जिसका स्पष्टीकरण एवं समर्थन उदयन[8] किया है। जयन्तभट्ट[9], गंगेश,[10], केशवमिश्र[11], विश्वनाथ पंचा-

---

१, २, ३ यो यस्य देशकालाभ्यां समो न्यूनोऽपि वा भवेत्।
स व्याप्यो व्यापकस्तस्य समो वाऽभ्यधिकोऽपि वा॥
व्याप्यस्य गमकत्वं च व्यापकं गम्यमिष्यते।
तेन व्याप्ये गृहीतेऽर्थे व्यापकस्तस्य गृह्यते।
न ह्यन्यथा भवत्येषा व्याप्यव्यापकता तयोः॥
—मी० श्लो० अनुमा० परि० श्लो० ५, ४ ६ पृष्ठ ३४८।

४ न्यायमं० पृ० १४०।

५ न्यायवा० ता० परि० १।१।५, पृष्ठ ७०५।

६ त० चि० उपाधिवाद पृ० ३१६ ३१७, ३१६ ३४५।

७ प्रश० भाष्य पृष्ठ १०२।

८ तदनेनान्वयव्यतिरेकौ एव भूयोदर्शनसहचारिणौ तद्ग्रहणाय इति दर्शितम्। अन्वयव्यतिरेकाभ्यां प्रथमदर्शने एव व्याप्तिग्रहणात्।
—किरणा० पृ० २९५।

९ व्यापकात् प्रतिबन्धश्च व्यतिरेकात्मकः।
—न्यायमं० पृ० १३६।

१० अन्वयव्याप्त्यभिधानानन्तरं व्यतिरेकव्याप्तिमभिधत्ते।
—त० चि० पृष्ठ ७३१, ५८९-५९३।

११ तर्कभा० पृ० ८०, ८१।

नन्[1] और अन्नम्भट्ट[2] प्रभृति नैयायिकों द्वारा यही व्याप्ति द्वैविध्य अधिक आदृत हुआ है। बौद्ध दार्शनिक धर्मकीर्ति, अर्चट आदिने भी इसी व्याप्तिद्वैविध्यका उल्लेख किया है[3]। साध्य साधनके भावात्मक रूपको अन्वयव्याप्ति और उनके अभावात्मक रूपको व्यतिरेकव्याप्ति कहा गया है। इन्हींको साधर्म्यव्याप्ति और वैधर्म्यव्याप्ति नामोंसे भी व्यवहृत किया गया है।

जैन तार्किकोंने[4] इन्हें क्रमशः तथोपपत्ति और अन्यथानुपपत्ति संज्ञाओंसे प्रतिपादित किया है। साध्यके होने पर ही साधनका होना तथोपपत्ति है और साध्यके न होनेपर साधनका न होना अन्यथानुपपत्ति है। यथा—वह्निके होनेपर ही धूमका होना और वह्निके न होनेपर धूमका न होना। यथार्थमें उनके मतसे ये व्याप्तिके दो भेद नहीं हैं—व्याप्ति तो एक ही प्रकारकी है। किन्तु उसका प्रदर्शन या प्रयोग दो तरहसे होता है—तथोपपत्तिरूपसे अथवा अन्यथानुपपत्तिरूपसे। यही कारण है कि इन दो प्रयोगोंमेंसे अन्यतर प्रयोगको ही पर्याप्त माना गया है[5]। माणिक्यनन्दिने[6] व्याप्तिके आधार सहभावी और क्रमभावी पदार्थ होनेसे व्याप्तिके सहभावनियम और क्रमभावनियमरूपसे द्वैविध्यका वर्णन किया है। इसका समर्थन अभिनव चारुकीर्तिने[7] भी किया है।

---

१ द्विविधं भवेद्व्याप्तिरन्वयव्यतिरेकतः ।
अन्वयव्याप्तिरुक्तैव व्यतिरेकोऽधुनोच्यते ॥
—सि० मु० का० १४२, पृ० १२५।

२ यत्र धूमस्तत्राग्निर्यथा महानसमित्यन्वयव्याप्तिः। यत्र वह्निर्नास्ति तत्र धूमोऽपि नास्ति यथा ह्रद इति व्यतिरेकव्याप्तिः।
—तर्कसं० पृष्ठ ६२।

३ "अन्वयो व्यतिरेको वा वक्तव्य" वेदितव्य इति सम्बन्धः। अन्वयव्यतिरेकरूपत्वाद् व्याप्तेरिति भावः।
—हेतुबिन्दु तथा उसकी टीका पृ० १६।

४ सत्येव साध्ये हेतोरुपपत्तिस्तथोपपत्तिः। असति साध्ये हेतोरनुपपत्तिरेवान्यथानुपपत्तिरिति।
—देवसूरि प्रमाणनयतत्त्वा० ३।३०, ३१।

५ हेतुप्रयोगस्तु तथोपपत्त्याऽन्यथानुपपत्त्यैव वा।
—माणिक्यनन्दि, परीक्षामु० ३।९४। हेमचन्द्र, प्रमाणमी० २।१।७९।

६ सहक्रमभावनियमोऽविनाभावः।
—परीक्षामु० ३।१६।

७ प्रमेयरत्नालङ्कार ३।१६, पृ० १०९।

व्याप्तिके उपर्युक्त भेदोंके अतिरिक्त जैन तर्कग्रन्थोंमें[1] उसके तीन भेदोंका भी प्रतिपादन है। वे हैं—(१) बहिर्व्याप्ति, (२) सकलव्याप्ति और (३) अन्तर्व्याप्ति। सपक्षमें साध्यके साथ साधनकी व्याप्ति होना बहिर्व्याप्ति है और पक्ष तथा सपक्ष दोनोंमें साध्यके साथ साधनकी व्याप्ति होना सकलव्याप्ति है। पक्ष सपक्ष न हो अथवा उनमें हेतु न रहे—केवल साध्यके साथ साधनका अविनाभाव होना अन्तर्व्याप्ति है[2]। इन त्रिविध व्याप्तियोंमें आद्य दोनों व्याप्तियोंके न होनेपर भी मात्र अन्तर्व्याप्तिके बलसे जैन तार्किकोंने साधनको साध्यका गमक माना है[3]। यदि अन्तर्व्याप्ति न हो तो अन्य दोनों व्याप्तियाँ निरर्थक हैं। 'स श्यामः तत्पुत्रत्वात्, इतरतत्पुत्रवत्' इस अनुमानमें बहिर्व्याप्ति और सकलव्याप्ति दोनों हैं, पर अन्तर्व्याप्तिके न होनेसे 'तत्पुत्रत्व' हेतु 'श्यामत्व' साध्यका साधक नहीं है। इसी प्रकार 'उदेष्यति शकटं कृत्तिकोदयात्' इस अनुमानमें न बहिर्व्याप्ति है और न सकलव्याप्ति। किन्तु साधनकी साध्यके साथ अन्तर्व्याप्ति होनेसे 'कृत्तिकोदय' हेतु शकटोदयका गमक

---

१ 'सा च त्रिधा—बहिर्व्याप्तिः, साकल्यव्याप्तिः अन्तर्व्याप्तिश्चेति।
—प्रभाचन्द्र, प्रमेयक० मा० ३।१५, पृ० ३६४। अकलंक, सिद्धिवि० ५।१५, १६, प्रमाणसं० ३२, ३३ पृ० १०६। देवसूरि, प्र० न० त० ३।३८, ३९। यशोविजय, जैन तर्कभा० पृ० १२।

२ (क) पक्षीकृत एव विषये साधनस्य साध्येन व्याप्तिरन्तर्व्याप्तिः, अन्यत्र तु बहिर्व्याप्तिरिति। बहिः पक्षीकृताद्विषयादन्यत्र तु दृष्टान्तधर्मिणि तस्य तेन व्याप्तिर्बहिर्व्याप्तिरभिधीयते।
—देवसूरि, प्रमाणनयत० ३।३९।
(ख) पक्षे सपक्षे च सर्वत्र साध्यसाधनयोः व्याप्तिः सकलव्याप्तिः।
—सि० वि० टी० टिप्प० ५।१६ पृष्ठ ३४७।
(ग) पक्ष एव साधनस्य साध्येन व्याप्तिः अन्तर्व्याप्तिः।
—वही, पृ० ३४६।

३ (क) अन्तर्व्याप्त्यैव साध्यस्य सिद्धौ बहिरुदाहृतिः।
व्यर्था स्यात्तदसद्भावेऽप्येवं न्यायविदो विदुः॥
—सिद्धसेन, न्यायाव० का० २०।
(ख) विनाऽपि भाव इति वा हेतुनैव प्रसिद्ध्यति।
अन्तर्व्याप्त्यप्रसिद्धाया बहिर्व्याप्तिरसाधनम्।
साकल्येन कथं व्याप्तिरन्तर्व्याप्त्या विना भवेत्।
—अकलंक, सि० वि० ५।१५, १६, पृ० ३४५ ३४७। प्रमाणसं० ३२ ३३।
(ग) अन्तर्व्याप्त्या हेतोः साध्यप्रत्यायने शक्तावशक्तौ च बहिर्व्याप्तेरुद्भावनं व्यर्थम् इति
—देवसूरि, प्र० न० त० ३।३८, पृ० ५६२।

है। अतएव सिद्धसेन[1], अकलङ्क[2], विद्यानन्द[3], वादीभसिंह[4], देवसूरि[5] आदि जैन विचारकोंने यथार्थमें अन्तर्व्याप्तिको ही व्याप्ति और उसे ही साध्यसाधक माना है तथा अन्य दोनोंको उसके बिना न व्याप्ति कहा है और न उन्हें साध्यका गमक ही बतलाया है। यशोविजयने[6] बहिर्व्याप्तिमें सहचारमात्रताका लाभ और अन्तर्व्याप्तिको हेतुका अव्यभिचारि लक्षण बतलाते हुए भी व्याप्तिभेदका नहीं माना।

o

---

१ न्यायाव० का० २०।

२ सिद्धिवि० ५।१५, १६ तथा प्रमाणसं० का० ३२, ३३, पृ० १०६।

३ त० श्लो० १।१३।१४४-१४९, १७५, १८७।

४ किं च पक्षादिधर्मत्वेऽप्यन्तर्व्याप्तेरभावतः ॥
तत्पुत्रत्वादिहेतूनां गमकत्वं न दृश्यते।
पक्षधर्मत्वहीनोऽपि गमकः कृत्तिकोदयः ॥
अन्तर्व्याप्तेरतः सैव गमकत्वप्रसाधनी।
तथा [illegible] ॥
सा च हेतोः स्वरूपं [illegible] ।
—स्या० सि० ४।८३-८४, ४।७८, ७९।

५ प्र० न० त० ३।३८, पृष्ठ ५१२।

६ जैनतर्कभा० पृष्ठ १२।

अध्याय : ४ :

प्रथम परिच्छेद

अवयव-विमर्श

अवयवोंका विकासक्रम

अनुमानके सर्वाङ्गीण विचारके हेतु अवयवोंका विवेचन आवश्यक है। जैन तर्कशास्त्रमें अनुमानके अवयवोंका सर्वप्रथम सकेत हमें आचार्य गृद्धपिच्छके तत्त्वार्थसूत्रमें मिलता है। गृद्धपिच्छने अनुमानका उल्लेख अनुमानशब्द द्वारा नहीं किया। न उन्होंने अवयवोंका निर्देश भी अवयवरूपमें किया है। पर उनके द्वारा सूत्रोंमें प्रतिपादित आत्माके ऊर्ध्वगमन सिद्धान्तसे प्रतिज्ञा, हेतु और दृष्टान्त ये तीन अवयव फलित होते हैं। सूत्रकारने मुक्तजीवके ऊर्ध्वगमनकी सिद्धि तर्क पुरस्सर करते हुए निम्न प्रकार लिखा है—

(१) तदनन्तरमूर्ध्वं गच्छत्यालोकान्तात्।

(२) पूर्वप्रयोगादसङ्गत्वाद्बन्धच्छेदात्तथागतिपरिणामाच्च।

(३) आविद्धकुलालचक्रवद्व्यपगतलेपालाबुवदेरण्डबीजवदग्निशिखावच्च।[1]

इन सूत्रोंमें ऊर्ध्वगमनरूप प्रतिज्ञा (पक्ष), 'पूर्वप्रयोगात्', 'असङ्गत्वात्', 'बन्धच्छेदात्' और 'तथागतिपरिणामात्' ये चार हेतु तथा इन चार हेतुओंके समर्थनके लिए क्रमशः 'आविद्धकुलालचक्रवत्', 'व्यपगतलेपालाबुवत्', 'एरण्ड-बीजवत्' और 'अग्निशिखावत्' ये चार दृष्टान्त प्रयुक्त हैं। इससे स्पष्ट है कि आचार्य गृद्धपिच्छने अनुमानके तीन अवयवोंका यहाँ सकेत किया है।

---

१ त० सू० १०।५, ६, ७।

हमारे उक्त कथनकी सम्पुष्टि पूज्यपादकी सर्वार्थसिद्धिसे भी होती है। इसमें उक्त सूत्रकी व्याख्या देते हुए उन्होंने[1] बताया है कि हेतुके कथन किये बिना ऊर्ध्वगमन (प्रतिज्ञा)का निश्चय नहीं हो सकता। तथा पुष्कल हेतुओंका प्रयोग होनेपर भी वे दृष्टान्तके समर्थन बिना अभिप्रेतार्थकी सिद्धि करनेमें असमर्थ हैं। अतएव सूत्रकारने प्रतिज्ञा (ऊर्ध्वगमन)को सिद्ध करनेके लिए हेतु और दृष्टान्त प्रतिपादित किये हैं।

पूज्यपादके उक्त व्याख्यानसे निम्नलिखित निष्कर्ष निःसृत होते हैं —

(१) गृद्धपिच्छने प्रतिज्ञा, हेतु और दृष्टान्तका शब्दविषयक कथन भले ही न किया हो, पर अपने अभिप्रेत अर्थको सिद्ध करनेके लिए उनका अर्थतः निर्देश अवश्य किया है।

(२) पूज्यपादने सूत्रकारके कथनका समयानुसार न्यायसरणिका अनुसरण करके किया है। अतः नामतः निर्देश न होनेपर भी सूत्रकार अवयवत्रयसे परिचित थे। अतः व्याख्याकार या भाष्यकार अपने युगके विचारोंके आलोकमें प्राचीन तथ्योंके स्पष्टीकरणके साथ नवीन तथ्योंको प्रस्तुत करता है। अतः प्रतिज्ञा, हेतु और दृष्टान्तके स्पष्टीकरणको हम पूज्यपादकी विचारधारा नहीं मान सकते। पूज्यपादने गृद्धपिच्छकी मान्यताका ही स्फोटन कर उक्त अवयवत्रयकी उनकी मान्यताको अंकित किया है।

(३) गृद्धपिच्छके अवयवत्रयके संकेतको पूज्यपादने तर्क (अनुमान)का रूप दिया है। यही कारण है कि उन्होंने प्रतिज्ञा, हेतु और दृष्टान्त इन तीनोंके औचित्यका समर्थन किया है।

(४) अनुमानविषयक अवयव विचारका सूत्रपात सर्वप्रथम तत्त्वार्थसूत्रमें मिल जाता है। अतएव अवयवोंकी स्थापनाका मूल श्रेय जैन तर्कशास्त्रमें आ० गृद्धपिच्छको प्राप्त है।

ऐतिहासिक क्रमानुसार गृद्धपिच्छके अनन्तर स्वामी समन्तभद्रका स्थान आता है। समन्तभद्रने भी गृद्धपिच्छके समान उक्त अवयवत्रयका नामतः उल्लेख किये बिना अनुमेयकी सिद्धि प्रतिज्ञा, हेतु और दृष्टान्त इन तीनों अवयवोंसे की है। किन्तु समन्तभद्रकी विशेषता यह है कि उन्होंने अनुमेय सिद्धि पुष्ट तर्काधार में की है। जहाँ आ० गृद्धपिच्छ बार-बार हेतु और बार बार दृष्टान्त उपस्थित कर साध्यकी सिद्धि करते हैं वहाँ आ० समन्तभद्र एक पुष्ट प्रतिज्ञा और उसको

---

१ अत्र स्वगुरुनिरूपणार्थं वचनमारभ्यते । [illegible] १ । अतोऽस्य—
अ.६—हेत्वर्थः पुष्कलोऽपि दृष्टान्तसमर्थनमन्तरेणाभिप्रेतार्थसाधनाय [illegible] दृष्टान्तः—
—स० सि० १०।६ ७ का उत्थानिकाएँ ।

सिद्धिके लिए एक एक ही पुष्ट हेतु और दृष्टान्त प्रयुक्त करते हुए मिलते हैं। दूसरी विशेषता यह है कि समन्तभद्रने प्रतिज्ञा[1] हेतु[2] और दृष्टान्त[3] इन तीनों-का शब्दत भी प्रयोग किया है, जो उनके ग्रन्थोंमें विशकलित उपलब्ध होते हैं। किन्तु गृद्धपिच्छने उनका विशकलित प्रयोग भी नही किया।

दोनों आचार्योंकी प्रतिपादनशैलीका अध्ययन करनेपर निम्न लिखित तथ्य प्रस्फुटित होते हैं —

१ समन्तभद्रके समय तक तर्कशैली विकसित हो चुकी थी अत वे अपने अभिप्रेतकी सिद्धिके लिए उक्त तीनो अवयवोंका तो व्यवहार करते ही हैं, पर साधर्म्य और वैधर्म्य दृष्टान्तभेदोंका भी उपयोग करते हैं।

२ न्यायसरणिसे अवयवोंका सूक्ष्म और विशद विचार समन्तभद्रसे आरम्भ होता है। समन्तभद्रने अविनाभाव, सधर्मा, साधर्म्य, वैधर्म्य, साध्य, साधन, प्रतिज्ञा, हेतु अहेतु, प्रतिज्ञादोष, हेतुदोष जसे तर्कशास्त्रीय शब्दोंका प्रयोग कर अवयवोपयोगी नया चिन्तन प्रस्तुत किया है। अत स्पष्ट है कि गृद्धपिच्छने जिन अवयवोंका मात्र सकेत किया था उन्हें तर्क (अनुमान)का रूप समन्तभद्रने दिया है।

३ समन्तभद्र सर्वज्ञ, अनेकान्त और स्याद्वाद जैसे दार्शनिक प्रमेयोंको अनुमानकी कसौटी पर रखकर उक्त तीन अवयवोंसे उन्हे सिद्ध करते हैं। पर गृद्धपिच्छने इन प्रमेयोंपर अनुमानसे कोई विचार नही किया।

हम यहा अपने कथनकी पुष्टिके लिए समन्तभद्रके उक्त अवयवत्रयके प्रदर्शक कुछ उद्धरण उदाहरणार्थ प्रस्तुत कर रहे हैं —

(क) सूक्ष्मान्तरितदूरार्था प्रत्यक्षा कस्यचिद्यथा।
अनुमेयत्वतोऽग्न्यादिरिति सर्वज्ञ-सस्थिति ॥

(ख) अस्तित्व प्रतिषेध्येनाविनाभाव्येकधर्मिणि।
विशेषणत्वात्साधर्म्यं यथा भेद विवक्षया ॥

(ग) नास्तित्व प्रतिषेध्येनाविनाभाव्येकधर्मिणि।
विशेषणत्वाद्वैधर्म्यं यथाऽभेद विवक्षया ॥

(घ) विधेय प्रतिषेध्यात्मा विशेष्य शब्दगोचर।
साध्यधर्मा यथा हेतुरहेतुश्चाप्यपेक्षया ॥[4]

---

१ २ न साध्य न च हेतुश्च प्रतिज्ञा हेतुदोषत ।
—आप्तमी० का० ८० । युक्त्यनु० का० ११, १३, ४४ ।

३ नय स दृष्टान्तसमर्थनस्ते । दृष्टान्तसिद्धावुभयोविवादे ।
—स्वयम्भू० श्रेयाजिन० ५२, ५४ ।

४ आप्तमी० का० ५, १७ १८, १९ ।

इन चारों उद्धरणोंमें समन्तभद्रने गृद्धपिच्छसे अधिक विकसित अनुमानप्रणालीको प्रस्तुत कर उसके तीन अवयवों (प्रतिज्ञा, हेतु और दृष्टान्त) से अनुमेयकी सिद्धि की है। अतः प्रकट है कि उन्हें ये तीन अवयव मान्य रहे हैं। यह भी उल्लेखनीय है कि समन्तभद्रके उक्त प्रतिपादनपरसे यह स्पष्ट नहीं होता कि उन्होंने उक्त तीन अवयवोंका प्रयोग किस प्रकारके प्रतिपाद्य (विनेय) की अपेक्षासे किया है—व्युत्पन्न या अव्युत्पन्न ? प्रकरणके अध्ययनसे ज्ञात होता है कि उनका उक्त कथन प्रतिपाद्यसामान्यकी अपेक्षासे हुआ है। आ० गृद्धपिच्छका भी निरूपण अविशेष रूपसे ही हुआ है।

जैन न्यायके विकासक्रममें समन्तभद्रके पश्चात् न्यायावतारकार सिद्धसेनका महत्त्वपूर्ण योगदान है। सिद्धसेनने[1] न्यायावतारमें पक्षादि वचनको परार्थानुमान कहकर उसके पक्ष, हेतु और दृष्टान्त इन तीन अवयवोंका स्पष्टतः निर्देश किया है तथा प्रत्येकका स्वरूप विवेचन भी किया है। 'पक्षादि वचन' के प्रयोगसे सकेतित होता है कि न्यायावतारके पूर्व उक्त तीन अवयवोंकी मान्यताकी पूर्णतया प्रतिष्ठा हो चुकी थी। यतः 'आदि' शब्द द्वारा सगृह्यमाण तथ्योंका अध्याहार तभी किया जाता है जब वे सर्वमान्यरूपमें प्रसिद्ध एवं प्रचलित हो जाते हैं और वक्ता जिन्हें अभिप्रायमें रखता है। हम लोकमें देखते हैं कि जानेवाले व्यक्तियोंमें राम, श्याम आदिका कथन करने पर 'आदि' शब्द राम, श्यामके महत्त्वको तो प्रकट करता ही है, पर सगृह्यमाणोंका भी सामान्यतया प्रतिपादन करता है। अतएव यह निष्कर्ष निकालना दूरकी कड़ी मिलाना नहीं होगा कि सिद्धसेनने 'पक्षादि' शब्दके प्रयोगद्वारा निरवयवकी प्रसिद्ध मान्यता[2] एवं सर्वोपगम्यताको व्यक्त किया है।

जैन तार्किकोंमें सिद्धसेन ही प्रथम तार्किक हैं जिन्होंने उक्त तीन अवयवोंके निरूपणमें प्रतिज्ञाके स्थानमें 'पक्ष' शब्दका प्रयोग किया है। भारतीय तर्कशास्त्रके प्रासादमें 'पक्ष' शब्दके इतिहासको देखनेसे ज्ञात होता है कि प्रतिज्ञाके स्थानमें 'पक्ष' का प्रयोग सर्वप्रथम दिङ्नाग या उनके शिष्य शंकरस्वामीने[3] किया है। और सम्भवतः उनका अनुसरण सिद्धसेनने किया होगा।

सिद्धसेनके उक्त अवयवसम्बन्धी स्पष्ट प्रतिपादनसे उनका महत्त्व निम्न लिखित कारणोंसे बढ़ जाता है—

---

१ साध्याविनाभुवो हेतोर्वचो यत्प्रतिपादकम् ।
परार्थानुमानं तत् पक्षादिवचनात्मकम् ॥
—न्यायाव० का० १३। तथा १४, १७, १८ और १९ भी देखिए।

२, ३ पक्षादिवचनानि साधनम्। पक्षहेतुदृष्टान्तवचनैर्हि प्राश्निकानामप्रतीतोऽर्थः प्रतिपाद्यते। एतान्येव त्र्यवयवा इत्युच्यन्ते।
—न्या० मु० पृ० १, २।

१ उन्होने इन अवयवोका परिभाषाओं सहित विवेचन किया है, जो उनके पूर्व जैन तर्कशास्त्रमें उपलब्ध नही है।

२ प्रतिज्ञाके स्थानमें उन्होने पक्षको रखा है और जिससे निम्न दो नये तथ्य सामने आते हैं—

(अ) गृद्धपिच्छ, समन्तभद्र और पूज्यपाद द्वारा अर्थत या शब्दत प्रतिपादित प्रतिज्ञा प्राय पक्षके पूरे अर्थका स्पष्टीकरण करनेमें असमर्थ है, अत सिद्धसेनने उसके स्थानमें 'पक्ष' शब्दको देकर उसकी व्याख्याद्वारा प्रतिज्ञाका स्वीकरण निर्दिष्ट किया है।

(आ) सिद्धान्तयुगमें प्रतिज्ञाशब्दका प्रयोग स्वय सिद्धियोकी स्वीकृतिके लिए भी होता था, अत प्रतिज्ञासे सिद्धान्त और तर्क दोनो रूपोका बोध किया जाता है। पर पक्षशब्दने स्वय सिद्धियसे हटाकर तर्कके क्षेत्रमें विचारविनिमयको आबद्ध कर तर्कप्रणालीको पुष्ट किया एव प्रश्रय दिया। सम्भवत सिद्धसेनका प्रतिज्ञाके स्थानमें पक्षशब्दको रखनेका यही आशय रहा होगा।

प्रतिपाद्योकी दृष्टिसे अवयव प्रयोग

सिद्धसेन तक जैन चिन्तकोने प्रतिपाद्यविशेषकी अपेक्षासे अवयवोका विचार नही किया। केवल सामान्य प्राश्निकोको लक्ष्यमें रखकर उनका प्रयोग किया है। किन्तु आगे चल कर प्रतिपाद्योको दो वर्गोमें विभक्त कर उनकी दृष्टिसे अवयवोका प्रयोग स्वीकार किया गया है। प्रतिपाद्य दो प्रकारके हैं—(१) व्युत्पन्न और (२) अव्युत्पन्न। व्युत्पन्न वे हैं जो सक्षेप या सकेतसे वस्तुस्वरूपको समझ सकते हैं और जिनके हृदयमें तर्कका प्रवेश है। अव्युत्पन्न वे प्रतिपाद्य हैं जो अल्पप्रज्ञ हैं, जिन्हें विस्तारसे समझाना आवश्यक होता है और जिनके हृदयमें तर्कका प्रवेश कम रहता है।

अकलङ्कदेवने अवयवोकी समीक्षा करते हुए पक्ष और हेतु इन दो ही अवयवोका समर्थन किया है। उनका अभिमत है कि कुछ अनुमान ऐसे भी है, जिनमें दृष्टान्त नही मिलता। पर वे उक्त दो अवयवोंके सद्भावसे समीचीन माने जाते हैं। वे पक्ष और हेतुकी समीक्षा न कर केवल दृष्टान्तकी मान्यताका आलोचन करते हुए कहते हैं[१] कि दृष्टान्त सर्वत्र आवश्यक नही है। अन्यथा 'सभी पदार्थ क्षणिक हैं, क्योंकि वे सत् हैं' इस अनुमानमें दृष्टान्तका अभाव होनेसे क्षणिकत्व सिद्ध नहीं हो सकेगा। अतएव अकलङ्कके विचारसे किन्ही प्रतिपाद्योंके लिए या कहीं पक्ष

---

१ सर्वत्रैव न दृष्टान्तोऽनन्वयेनापि साधनात्।
अन्यथा सर्वभावानामसिद्धोऽयं क्षणक्षय ॥
—न्या० वि० का० ३८१, अकलङ्कग्र०।

और हेतु ये दो ही अवयव पर्याप्त हैं। दृष्टान्त किसी प्रतिपाद्यविशेष अथवा स्थल विशेषकी अपेक्षा ग्राह्य है, सर्वत्र नहीं।

आ० विद्यानन्दने प्रमाणपरीक्षा[1] और पत्रपरीक्षामें[2] कुमारनन्दि भट्टारकके वादन्यायके, जो आज अनुपलब्ध है कुछ उद्धरण प्रस्तुत किये हैं, जिनमें बताया गया है कि परार्थानुमानके अवयवोंके प्रयोगकी व्यवस्था प्रतिपाद्योंके अनुसार की जानी चाहिए।

कुमारनन्दिने अवयवव्यवस्थामें एक नया मोड़ उपस्थित किया। इस मोड़को हम विकासात्मक कह सकते हैं। उन्होंने अवयवोंके प्रयोगको 'प्रतिपाद्यानुरोधतः' (प्रतिपाद्यानुसार) कह कर स्पष्टतया नयी दिशा प्रदान की है। लिखा है कि जिस प्रकार विद्वानोंने प्रतिपाद्योंके अनुरोधवश प्रतिज्ञाको कहा है उसी प्रकार उनकी दृष्टिसे उन्होंने उदाहरणादिको भी बतलाया है।[3]

विद्यानन्दने प्रायः कुमारनन्दिके शब्दोंको ही दोहराते और उनके आशयको स्पष्ट करते हुए कहा है कि परानुग्रहप्रवृत्त आचार्योंने प्रयोगपरिपाटी प्रतिपाद्योंके अनुसार स्वीकार की है। यथा—

(क) प्रयोगपरिपाट्या प्रतिपाद्यानुरोधतः परानुग्रहप्रवृत्तैरभ्युपगमात्।[4]

(ख) बोध्यानुरोधमात्रात्तु दृष्टान्ताद्यवयवदर्शनात्।[5]

विद्यानन्दके इस प्रतिपादनसे स्पष्ट है कि पक्ष और हेतु ये दो अवयव व्युत्पन्न और शेष (दृष्टान्तादि) अवयव बोध्योंके अनुरोधसे प्रदर्शित हैं। तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकमें उन्होंने[6] सन्दिग्ध, विपर्यस्त और अव्युत्पन्न ये तीन प्रकारके शिष्य (प्रतिपाद्य) बतलाये हैं तथा उनके बोधार्थ सन्दिग्ध, विपर्यस्त और अव्युत्पन्न रूप साध्य (पक्ष) का प्रयोग निर्दिष्ट किया है। पत्रपरीक्षामें पत्रलक्षणके पश्चात्

---

१ तथा चाभ्यधायि कुमारनन्दिभट्टारकैः—
अन्यथानुपपत्त्येकलक्षणं लिङ्गमङ्ग्यते।
प्रयोगपरिपाटी तु प्रतिपाद्यानुरोधतः॥
—प्र० प० पृ० ७२।

२ तथैव हि कुमारनन्दिभट्टारकैरपि स्ववादन्याये निगदितत्वात्—
प्रतिपाद्यानुरोधेन प्रयोगेषु पुनर्यथा। प्रतिज्ञा प्रोच्यते तज्ज्ञैस्तथोदाहरणादिकम्॥
न चैवं साधनस्यैकलक्षणत्वं विरुध्यते। हेतुलक्षणतापायादन्यांशस्य प्रतिपाद्यानुरोधतः॥
—प० प० पृ० ३।

३ पत्रप० पृ० ३ तथा अनुमान विचार पृ० ... ।

४ प्र० प० पृ० ७२।

५ प० प० पृ० १७।

६ त० श्लो० १।१३।५२-१२७, पृ० २१४।

विद्यानन्दने[1] विशेष (व्युत्पन्न) प्रतिपाद्यकी अपेक्षासे पक्ष और हेतु इन दो अवयवोंके प्रयोगका स्पष्ट निर्देश किया है।

माणिक्यनन्दि[2] प्रभाचन्द्र[3] देवसूरि[4] और हेमचन्द्र[5] भी अकलङ्क और विद्यानन्दका अनुगमन करते हैं। इन सभीने लिखा है कि साध्यधर्मके आधारका निर्णय और साधनके आश्रयका उद्घोषण करनेके लिए पक्षका प्रयोग आवश्यक है।[6] उसके अभावमें व्युत्पन्नोंको भी साध्यधर्माधारमें सन्देह हो सकता है। अतः उसे दूर करनेके लिए पक्षका प्रयोग करना चाहिए। दूसरे, त्रिरूप हेतुको कह कर उसका समर्थन करने पर तो पक्षका स्वीकार अनिवार्य है, क्योंकि पक्षके बिना समर्थन—असिद्धादि दोष परिहार नहीं हो सकता। इसी प्रकार साध्यसिद्धिके लिए तथोपपत्ति अथवा अन्यथानुपपत्तिरूप हेतुका प्रयोग भी अत्यन्त आवश्यक है। उसके अभावमें अभिप्रेतकी सिद्धि सम्भव नहीं। इस प्रकार पक्ष और हेतु ये दो ही परार्थानुमानके अवयव हैं। इन दोके द्वारा ही व्युत्पन्न प्रतिपाद्यको अनुमेयका ज्ञान हो सकता है।

उनके लिए दृष्टान्तादिकी अनावश्यकता बतलाते हुए माणिक्यनन्दिने[7] सयुक्तिक प्रतिपादन किया है कि दृष्टान्त, उपनय और निगमन इन तीन अवयवोंका स्वीकार शास्त्र (वीतराग कथा) में ही है, वाद (विजिगीषु कथा) में नहीं, क्योंकि वाद करने वाले व्युत्पन्न होते हैं और व्युत्पन्नोंको दृष्टान्तादिकी आवश्यकता ही नहीं। वे कहते हैं कि दृष्टान्त न साध्यज्ञानके लिए आवश्यक है और न अविनाभावके निश्चयके लिए, क्योंकि साध्यका ज्ञान निश्चित साध्याविनाभावी हेतुके प्रयोगसे होता है और अविनाभावका निश्चय विपक्षमें बाधक रहनेसे होता है। दूसरी बात यह है कि दृष्टान्त व्यक्तिरूप होता है और अविनाभाव (व्याप्ति)

---

१ साध्यधर्मविशिष्टस्य धर्मिणः साधनस्य च। यत्र प्रयुज्यते पक्षे विशेषाश्रयतो यथा।। साध्यनिर्देशसहितस्यैव हेतोः प्रयोग इत्यसमर्थनात्।

—प० प० पृ० ९।

२, ३ एतद्द्वयमेवानुमानाङ्गं नोदाहरणम्।

—प० मु० ३।३७। प्रमेयक० मा० ३।३७

४ पक्षहेतुवचनलक्षणमवयवद्वयमेव परप्रतिपत्तेरङ्गं न दृष्टान्तादिवचनम्।

—प्र० न० त० ३।२८।

५. एतावान् प्रेक्षप्रयोगः।

—प्र० मा० २।१।९, पृ० ५२।

६ साध्यधर्माधारसन्देहापनोदाय गम्यमानस्यापि पक्षस्य वचनम्। को वा त्रिधा हेतुमुक्त्वा समर्थयमानो न पक्षयति।

—प० मु० ३।३४ ३६। प्र० न० त० ३।२४, २५। प्र० मा० २।१।८।

७, ८ प० मु० ३।४६ ३८, ३९, ४०, ४१, ४२, ४३, ४४।

सामान्य। यदि दृष्टान्तगत अविनाभावमें भी सन्देह हो जाये तो उसके निराकरणके लिए दूसरे दृष्टान्तकी और दूसरे दृष्टान्तमें तीसरे आदिकी अपेक्षा होगी, जिससे अनवस्था दोष आयेगा। व्याप्तिस्मरणके लिए भी उदाहरण आवश्यक नहीं है, क्योंकि व्याप्तिका स्मरण साध्याविनाभावी हेतुके प्रयोगसे ही हो जाता है। माणिक्यनन्दिके व्याख्याकार शास्त्रोंमें कहते हैं कि उदाहरणका प्रयोग उल्टा साध्य धर्मी (पक्ष) में साध्य और साधनके सद्भावको सन्दिग्ध बना देता है।[1] यही कारण है कि उपनय और निगमनका प्रयोग उक्त सन्देहकी स्थितिको दूर करनेके लिए होता है। यदि कहा जाय[2] कि उपनय साधनके सन्देह और निगमन साध्यके सन्देहकी निवृत्तिके लिए प्रयुक्त नहीं किये जाते, अपितु हेतुमें पक्षवृत्तिताका प्रतिपादन करनेके लिए उपनयको तथा अबाधितत्व और असत्प्रतिपक्षत्वका कथन करनेके लिए निगमनको कहा जाता है तो यह भी ठीक नहीं है,[3] क्योंकि अविनाभावी हेतु और प्रत्यक्षादिविरुद्ध साध्यके प्रयोगसे ही हेतुमें पक्षवृत्तित्व, अबाधितत्व और असत्प्रतिपक्षत्व तीनोंका निश्चय हो जाता है। अतएव उपनय और निगमन अनुमानके अंग नहीं हैं। फिर भी यदि उन्हें अनुमानांग माना जाय तो उससे मुख्य यह है कि समर्थन अथवा हेतुरूप अनुमानके अवयवको ही कहना पर्याप्त है, क्योंकि साध्यसिद्धिमें उसका प्रयोग परमावश्यक है। स्पष्ट है कि जब तक असिद्धादि दोषोंका परिहार करके साध्यके साथ साधनका अविनाभावप्रदर्शनरूप समर्थन या अत्यन्त आवश्यक हेतुका प्रयोग नहीं किया जाएगा तब तक दृष्टान्तादि साध्यसिद्धिमें केवल अनुपयोगी ही न रहेंगे, बल्कि निरर्थक भी होंगे। अतः व्युत्पन्न प्रतिपाद्यके लिए पक्ष और हेतु ये दो ही अवयव अनुमेयके ज्ञान (अनुमान) में आवश्यक हैं।

प्रभाचन्द्र, अनन्तवीर्य, देवसूरि, हेमचन्द्र और धर्मभूषण आदिने माणिक्यनन्दिका ही समर्थन किया है।

तुलनात्मक अवयव विचार

यहाँ तुलनात्मक अवयव विचार प्रस्तुत किया जाता है, जो आवश्यक है।

---

१ उदाहरणेन तद्वति साध्यसाधननिश्चये जननेऽर्थ यो नर्थो-नवस्थानात्।
—परीक्षामु० ३।४२।

२ ननु यो हेतुसाध्ययोः सन्देहनिरासार्थं उपनयनिगमनयोः प्रयोगः। किन्तु पक्षधर्मत्वोपसंहारार्थं निगमनस्य चाबाधितत्वासत्प्रतिपक्षत्वप्रदर्शनार्थम्। तत एव तदप्यनुमानाङ्गत्वनिराकरणम्।
—वही ३।४४ का उपनिबन्ध।

३ पक्षधर्मत्वस्य हेतुस्वरूपावेदकम् साधनम्। अबाधितत्वं हेतोः साध्यविपरीतार्थनिश्चय तथासत्प्रतिपक्षत्वं च साध्याभावाभावनिश्चायकत्वेन तदर्थं अविनाभावेनैव सिद्धेः।
—वही, ३।४४, पृ० २२६।

न्याय और वैशेषिक तार्किकोंने पचावयवके प्रतिपादक वचनोको परार्थानुमान स्वीकार किया है। पर ज्ञानको प्रमाण मानने वाले जैन[1] और बौद्ध[2] विचारकोने वचनको उपचारसे परार्थानुमान कहा है। उनका अभिमत है कि वक्ताके स्वार्थानुमानके विषय (साध्य और साधन) को कहने वाले वचनोसे श्रोता (प्रतिपाद्य) को जो अनुमेयार्थका ज्ञान होता है वह ज्ञानात्मक मुख्य परार्थानुमान है और उसके जनक वक्ताके वचन उसके कारण होनेसे उपचारत परार्थानुमान है।

विचारणीय है कि वक्ताका कितना वचनसमूह प्रतिपाद्यके लिए अनुमेयकी प्रतिपत्तिमे आवश्यक है? न्यायसूत्रकार[3] और उनके अनुसर्ता वात्स्यायन, उद्योतकर, वाचस्पति, जयन्तभट्ट प्रभृति न्यायपरम्पराके तार्किको तथा प्रशस्तपाद[4] आदि वैशेषिक विद्वानोका मत है कि प्रतिज्ञा, हेतु[5] उदाहरण[6], उपनय[7] और निगमन[8] ये पाच वाक्यावयव अनुमेय-प्रतिपत्तिमें आवश्यक हैं। इनमसे एकका भी अभाव रहने पर अनुमान सम्पन्न नहीं हो सकता और न प्रतिपाद्यको अनुमेयकी प्रतिपत्ति हो सकती है।[9]

साख्यविद्वान् युक्तिदीपिकाकारने[10] उक्त पचावयवोमें जिज्ञासा, सशय, प्रयोजन, शक्यप्राप्ति और सशयव्युदास इन पाच अवयवोको और सम्मिलित करके

---

१ परार्थं तु तदर्थपरामर्शिवचनाज्जातम्। तद्वचनमपि तद्धेतुत्वात्।
—माणिक्यनन्दि, परी० मु० ३।५५, ५६।
पक्षहेतुवचनात्मक परार्थमनुमानमुपचारादिति।
—देवसूरि, प्र० न० त० ३।२३।

२ धर्मकीर्ति, न्यायबि० तृ० परि० पृ० ४६। तथा धर्मोत्तर, न्यायबि० टी० पृ० ४६।

३ प्रतिज्ञाहेतूदाहरणोपनयनिगमनान्यवयवा।
—न्यायसू० १।१।३२।

४ अवयवा पुन प्रतिज्ञापदेशनिदर्शनानुसन्धानप्रत्याम्नाया।
—प्रश० भा० पृ० ११४।

५ ६, ७ ८ प्रशस्तपादने हेतुके स्थानमें अपदेश, उदाहरणके लिए निदर्शन, उपनयकी जगह अनुसन्धान और निगमनके स्थानपर प्रत्याम्नाय नाम दिए हैं। पर अवयवोंकी पाँच संख्या तथा उनके अर्थमें प्राय कोई अन्तर नहीं है।

९ असत्सु प्रतिज्ञादिषु अनाश्रया हेत्वादयो न प्रवर्तेरन्। असति हेतौ कस्य साधनभाव प्रदर्श्येत निगमनाभावे चानभिव्यक्तसम्बन्धानामेकार्थेन प्रवर्तनं 'तथा' इति प्रतिपादनं कस्य।
—वात्स्यायन, न्यायभा० १।१।३९, पृ० ५३।

१० युक्तिदी० का० १ की भूमिका, पृ० ३ तथा का० ६, पृ० ४७-५१।

परार्थानुमानवाक्यके दशावयवोंका कथन किया है। परन्तु माठरने[1] परार्थानुमान वाक्यके तीन (पक्ष हेतु और दृष्टान्त) अवयव प्रतिपादित किये हैं। सांख्योंकी यही त्रिरवयवमान्यता दार्शनिकोंद्वारा अधिक मान्य और आलोच्य रही है।

बौद्ध विद्वान् दिङ्नागके शिष्य शंकरस्वामीका[2] मत है कि पक्ष, हेतु और दृष्टान्त द्वारा प्राश्निकोंको अप्रतीत अर्थका प्रतिपादन किया जाता है, अतः उक्त तीन ही साधनावयव हैं। धर्मकीर्ति[3] इन तीन अवयवोंमेंसे पक्षको निकाल देते हैं और हेतु तथा दृष्टान्त इन दो अथवा मात्र हेतुको ही परार्थानुमान वाक्यका अवयव मानते हैं।

मीमांसक तार्किक शालिकानाथ,[4] नारायणभट्ट[5] और पार्थसारथिने[6] उक्त तीन (प्रतिज्ञा, हेतु और दृष्टान्त) अवयव वर्णित किये हैं। नारायणभट्ट *दृष्टान्त, उपनय और निगमन इस प्रकारसे भी तीन अवयव मानते हुए मिलते हैं।*

जैसा कि हम देख चुके हैं, जैन चिन्तक प्रतिपाद्योंकी दृष्टिसे अवयवोंका विचार करते हैं। आरम्भमें प्रतिज्ञा, हेतु और दृष्टान्त इन तीन अवयवोंकी मान्यता होने पर भी उत्तरकालमें अकलङ्क, कुमारनन्दि, विद्यानन्द, माणिक्यनन्दि, प्रभाचन्द्र, देवसूरि, हेमचन्द्र प्रभृति सभी तार्किकोंने प्रतिपाद्योंकी अपेक्षासे उनका प्रतिपादन किया है। किसी प्रतिपाद्यकी दृष्टिसे दो, किसीकी अपेक्षासे तीन, किसीके अनुसार चार और किसी अन्य प्रतिपाद्यके अनुरोधसे पाँच अवयव भी कहे जा सकते हैं।

---

१ पक्षहेतुदृष्टान्ता इति त्र्यवयवम्।
—माठरवृ० का० ५।

२ पक्षहेतुदृष्टान्तवचनैर्हि प्राश्निकानामप्रतीतोऽर्थः प्रतिपाद्यत इति। एतान्येव त्रयोऽवयवा इत्युच्यन्ते।
—न्यायप्र० पृ० १-२।

३ प्रमाणवा० १।१२८ तथा न्यायबि० तृ० परि० पृ० ९१। हेतुबि० पृ० ५५।

४ 'तत्रानधिन' इति प्रतिज्ञा। "ज्ञातसम्बन्धनियमस्य" इत्यनेन दृष्टान्तवचनम्। "एकदेशदर्शनात्" इति हेत्वभिधानम्। तदेवं त्र्यवयवं साधनम्।
—प्रकरणपं० पृ० २२०।

५ तस्मात् त्र्यवयवं ब्रूम पौनरुक्त्यमहो वयम्।
उदाहरणपर्यन्तं यद्वोदाहरणादिकम्।
—मानमेयो० पृ० ६४।

६ न्यायरत्ना० (मी० श्लो० अनु० परि० श्लो० ५३) पृ० ३६१।

(१) प्रतिज्ञा

प्रतिज्ञाका[1] दूसरा पर्याय पक्ष[2] अथवा धर्मी[3] है। प्रतिज्ञा शब्दका निर्देश सर्वप्रथम गौतमने[4] किया जान पड़ता है। पाँच अवयवोंमें उन्होंने[5] उसे प्रथम स्थान दिया है। उसकी परिभाषा देते हुए लिखा है[6] कि साध्यके निर्देशको प्रतिज्ञा कहते हैं। वात्स्यायनने[7] उसकी व्याख्यामें इतना और स्पष्ट किया है कि प्रज्ञापनीय (साधनीय) धर्मसे विशिष्ट धर्मीका प्रतिपादक वचन प्रतिज्ञा है। जैसे—'शब्द अनित्य है।'

प्रशस्तपादने[8] भी अनुमानवाक्यके पञ्चावयवोंमें प्रथम अवयवका नाम प्रतिज्ञा ही दिया है। पर उसकी परिभाषा गौतमकी प्रतिज्ञा परिभाषासे विशिष्ट है। उसमें उन्होंने 'अविरोधी' पद और देकर उसके द्वारा प्रत्यक्षबाधित, अनुमानबाधित आदि पाँच बाधितोंको निरस्त करके प्रतिज्ञाको अबाधित प्रतिपादित किया है। साथ ही उसका विशदीकरण भी किया है। लिखा है[10] कि प्रतिपि-

---

१, २, ३ (क) पक्ष प्रसिद्धो धर्मी।
—शबरस्वामी न्यायप्र० पृ० १।

(ख) प्रज्ञापनीयेन धर्मेण धर्मिणो विशिष्टस्य परिग्रहवचनं प्रतिज्ञा।

—वात्स्यायन, न्या० भा० पृ० ४८, १।१।३३।

(ग) प्रतिपिपादयिषितधर्मविशिष्टस्य धर्मिणोऽपदेशविषयमापादयितुमुद्देशमात्रं प्रतिज्ञा।

—प्रश० भा० पृ० ११४।

(घ) साध्यं धर्मः क्वचित्तद्विशिष्टो वा धर्मी। पक्ष इति यावत्। प्रसिद्धो धर्मी।
—माणिक्यनन्दि परी० मु० ३।२५ २६, २७।

४, ५ प्रतिज्ञाहेतूदाहरणोपनयनिगमनान्यवयवाः।
—अक्षपाद, न्यायसू० १।१।३२।

६ साध्यनिर्देशः प्रतिज्ञा।
—वही १।१।३३।

७ न्यायभा० १।१।३३, पृ० ४८। तथा इसी पृष्ठका १ २ ३ नं० (ख) का फुटनोट।

८ अनुमेयोद्देशोऽविरोधी प्रतिज्ञा।
—प्रश० भा० पृ० ११४।

९ अविरोधिग्रहणात् प्रत्यक्षानुमानाभ्युपगतस्वशास्त्रस्ववचनविरोधिनो निरस्ता भवन्ति।
—प्रश० भा० पृ० ११५।

१० इसी पृष्ठका १ २ ३ नं० (ग) का फुटनोट।

पादयिषित धर्मसे विशिष्ट धर्मीको हेतुका विषय प्रकट करनेके लिए उसका अभिधान करना प्रतिज्ञा है। वास्तवमें यदि वह हेतुका विषय विवक्षित न हो तो वह कोरी प्रतिज्ञा होगी, अनुमानका अवयवरूप प्रतिज्ञा नहीं।

न्यायप्रवेशकारने[1] प्रतिज्ञाके स्थानमें पक्ष शब्द दिया है। यह परिवर्तन उन्होंने क्यों किया, यह विचारणीय है, क्योंकि दोनोंका प्रयोग एक ही अर्थमें किया गया है। प्रतिज्ञाका अभिधेयार्थ स्वीकृत सिद्धान्त (कोटि) है और यही पक्षशब्दका है। पर विचार करनेपर उनमें सूक्ष्म अन्तर प्रतीत होता है। पक्षशब्द जहाँ अपने सखा सपक्ष और प्रतिद्वन्दी विपक्षको लिए हुए होता है वहाँ प्रतिज्ञाशब्दसे ऐसी कोई बात ध्वनित नहीं होती। प्रतिज्ञा तर्कके निकट कम है और आगमके निकट अधिक। पर पक्ष तर्कके निकट अधिक है और आगमके निकट कम। और यह प्रकट है कि अनुमानका सबल तर्क ही है—उसीपर वह प्रतिष्ठित है। अतः अनुमान विचारमें प्रतिज्ञाशब्दकी अपेक्षा पक्षशब्द अधिक अनुरूप है। सम्भवतः यही कारण है कि न्यायप्रवेशकारके पश्चात् पक्षशब्दका अधिक प्रयोग हुआ है[2]। जैन और बौद्ध तर्कग्रन्थोंमें तो प्रायः यही शब्द अधिक प्रयुक्त मिलता है।

इसकी परिभाषामें न्यायप्रवेशकारने कहा है कि धर्मविशिष्ट धर्मीका नाम पक्ष है, जो प्रसिद्धविशेषणसे विशिष्ट होनेके कारण प्रसिद्ध होता है, साध्यरूपसे इष्ट होता है और प्रत्यक्षादिसे अविरुद्ध। वृत्तिकारके अनुसार विशेषण (साध्यधर्म) की प्रसिद्धता[3] सपक्षमें सद्भावकी अपेक्षा कही गयी है, साध्यधर्मी (पक्ष) में सत्त्वकी अपेक्षा नहीं, वहाँ तो वह असिद्ध ही होता है। वस्तुतः जो सर्वथा अप्रसिद्ध हो वह खपुष्पकी तरह साध्य हो भी नहीं सकता। यही अभिप्राय न्यायप्रवेशकारका साध्यको प्रसिद्ध बतलानेका प्रतीत होता है। तात्पर्य यह कि जो प्रसिद्ध धर्मवाला हो, साध्य हो, अभिप्रेत हो और प्रत्यक्षाद्यविरुद्ध हो वह पक्ष है।

---

१ पक्षः प्रसिद्धो धर्मी प्रसिद्धविशेषेण विशिष्टतया स्वयं साध्यत्वेनेप्सितः । प्रत्यक्षाद्यविरुद्ध इति वाक्यशेषः ।
—न्याय प्र० पृ० १ ।

२ उद्योतकरसे लेकर नव्यनैयायिकों तक न्यायपरम्परामें पक्षशब्दके प्रयोगकी बहुलता दृष्टिगोचर होती है ।

३ इह धर्मिणस्तावत्प्रसिद्धता युक्ता विशेषणस्य त्वनित्यत्वादेर्न युज्यते । साध्यत्वात् । नैतदेवम् । सम्यगर्थानवबोधात् । इह प्रसिद्धता विशेषणस्य न तस्मिन्नेव धर्मिणि समाश्रीयते । किन्तु धर्म्यन्तरे घटादौ ।
—न्यायप्र० वृ० पृ० १५ ।

धर्मकीर्तिने[1] भी पक्षकी यही परिभाषा प्रस्तुत की है। यद्यपि वे पक्षप्रयोगको साधनावयव नहीं मानते और इसलिए उनके द्वारा उसकी परिभाषा नहीं होनी चाहिए। तथापि उनके व्याख्याकार धर्मोत्तरके[2] अनुसार पक्षशब्दसे उन्हें साध्यार्थ विवक्षित है और चूंकि कोई असाध्यको साध्य तथा साध्यको असाध्य मानते हैं, अतः साध्यासाध्यका विवाद निरस्त करनेके लिए उन्होंने पक्षका लक्षण किया है।

जैन तर्कशास्त्रमें अधिकांशतः पक्षशब्द ही अभ्युपगत है। प्रतिज्ञाशब्दका प्रयोग बहुत कम हुआ है। बल्कि कुछ तार्किकोंने[3] उसकी समीक्षा की है। सिद्धसेन[4] पक्षका लक्षण प्रस्तुत करते हुए कहते हैं कि साध्यका स्वीकार पक्ष है, जो प्रत्यक्षादिसे निराकृत नहीं है और हेतुके विषयका प्रकाशक है। सिद्धसेनके इस पक्षलक्षणमें गौतम, प्रशस्तपाद, न्यायप्रवेशकार और धर्मकीर्तिके पक्षलक्षणोंका समावेश प्रतीत होता है। 'साध्याभ्युपगम' पदसे गौतमके 'साध्य निर्देश' पदका 'हेतोर्गोचरदीपक' पदसे प्रशस्तपादके 'अपदेशविषय'का और 'प्रत्यक्षाद्यनिराकृत' विशेषणसे प्रशस्तपादके 'अविरोधी', न्यायप्रवेशकारके 'प्रत्यक्षाद्यविरुद्ध' तथा धर्मकीर्तिके 'अनिराकृत'का संग्रह किया गया है। यह उनकी संग्राहिणी प्रतिभाका द्योतक है, जो एक ही पद्यमें सबका सार समाविष्ट कर लिया है।

अकलंकदेवने[5] साध्यको पक्ष कहा है। उनकी दृष्टिमें पक्ष और साध्य दो नहीं हैं। अतएव वे न्यायविनिश्चय और प्रमाणसंग्रहमें पक्षसे अभिन्न साध्यका लक्षण प्रस्तुत करते हुए कहते हैं—जो शक्य (अबाधित) अभिप्रेत और अप्रसिद्ध हो वह साध्य है। इससे विपरीत—अशक्य (बाधित) अनभिप्रेत और प्रसिद्धको उन्होंने साध्याभास निरूपित किया है, क्योंकि उक्त प्रकारका साध्य साधनका विषय नहीं होता। अकलंकने न्यायप्रवेशकारकी तरह पक्षलक्षणमें प्रसिद्ध विशेषण स्वीकार नहीं किया, क्योंकि जब वह साध्य है तो वह अप्रसिद्ध होगा और यह अप्रसिद्धता साध्यधर्मीकी अपेक्षासे ही विवक्षित है, सपक्षकी अपेक्षासे उसकी प्रसिद्धता बतलाना निरर्थक है। वादीकी अपेक्षासे अभिप्रेत, प्रतिवादीकी दृष्टिसे अप्रसिद्ध और वादी तथा प्रतिवादी दोनोंकी अपेक्षासे उभे शक्य—प्रत्यक्षाद्यविरुद्ध

१,२ स्वरूपेणैव स्वयमिष्टोऽनिराकृतः पक्ष इति।
—न्यायबि० तृ० परि० पृ० ६० तथा इसीकी धर्मोत्तरकृत टीका पृ० ६०।

३ विद्यानन्द, त० श्लो० वा० १।१३।१५१, पृ० २०१।

४ साध्याभ्युपगमः पक्षः प्रत्यक्षाद्यनिराकृतः।
तत्प्रयोगोऽत्र कर्तव्यो हेतोर्गोचरदीपकः॥
—न्यायाव० १४।

५ साध्यं शक्यमभिप्रेतमप्रसिद्धं ततोऽपरम्। साध्याभासं विरुद्धादि साधनाविषयत्वतः॥
—न्यायवि० २।१७२, प्रमाणसं० का० २०, पृ० १०२।

होना पर्याप्त है। यहाँ उल्लेखनीय है कि अकलंकने[1] धर्मकीर्तिके[2] उस मतकी मीमांसा भी की है जिसमें धर्मकीर्तिने धर्मीको उपचारसे पक्ष माना है। अकलंक का कहना है कि धर्मीको उपचारसे पक्ष माननेपर उसका धर्म साध्य भी वास्तविक सिद्ध न होगा—उपचरित सिद्ध होगा। इसके अतिरिक्त धर्मी (पक्ष) का धर्म होनेसे पक्षधर्म—हेतु भी उपचरित होगा।

विद्यानन्दने[3] भी अकलंकका समर्थन करते हुए उपचारसे धर्मीको पक्ष मानने के धर्मकीर्तिके मन्तव्यका समालोचन किया है। उन्होंने धर्म धर्मीके समुदायको पक्ष कहनेके विचारकी भी समीक्षा की है और साध्यधर्मको पक्ष स्वीकार किया है। उनका मत है कि हेतुका अविनाभाव साध्य धर्मके साथ ही है, इसलिए साध्य धर्म ही अनुमेय (पक्ष) है।

माणिक्यनन्दिका[4] विचार है कि व्याप्तिनिश्चयकालमें धर्म साध्य होता है और अनुमानप्रयोगकालमें धर्मविशिष्ट धर्मी। तथा धर्मीका नाम ही पक्ष है। वात्स्यायन[5] और उद्योतकरने[6] भी द्विविध साध्य (धर्मीविशिष्ट धर्म और धर्मविशिष्ट धर्मी) का तथा धर्मोत्तरने[7] त्रिविध साध्य (हेतुलक्षणकालमें धर्मी, व्याप्तिनिश्चयकालमें धर्म और साध्यप्रतिपत्तिकालमें समुदाय) का प्रतिपादन किया है।

प्रभाचन्द्र[8], अनन्तवीर्य[9], वादिराज[10], देवसूरि[11], हेमचन्द्र[12], धर्मभूषण[13],

---

१ पक्षो धर्मीत्युपचारे तद्धर्मतापि न सिद्धा । ।
—सिद्धिवि० ६।२, पृ० ३७३ ।

२ पक्षः धर्मी अवयवे समुदायोपचारात् ।
—हेतुवि० पृ० ५२ तथा प्र० वा० स्ववृ० पृ० १२, ११२ ।

३ तथा च न धर्मधर्मिसमुदायः पक्षो, नापि तद्धर्मी तद्धर्मस्याविनाभावस्वभावत्वाभावात्। किं तर्हि साध्य एव पक्ष इति प्रतिपत्तव्यं तद्धर्मस्यैवाविनाभावनियमादित्युच्यते। साध्यं पक्षस्तु न सिद्धस्तद्धर्मो हेतुरित्यपि ।
—त० श्लो० वा० १।१३।१४९, १६०, पृष्ठ २०१ । तथा पृ० २८१ ।

४ साध्यं धर्मः क्वचित्तद्विशिष्टो वा धर्मी । पक्ष इति यावत् ।
—परीक्षामु० ३।२५, २६ ।

५ न्यायभा० १।१।३६ पृ० ४९ ।

६ न्यायवा० १।१।३६, पृ० १३४ ।

७ न्यायबि० टी० पृ० २४ ।

८ ९ प्रमेयक० मा० ३। ५, २६ । प्रमेयर० मा० ३।२१, २२, पृ० १५२ ।

१० प्रमाणनि० पृ० ६१ ।

११ प्र० न० त० ३।१४, २० ।

१२ सिषाधयिषितमसिद्धमबाध्यं साध्यं पक्षः ।
—प्र० मी० १।२।१३ पृ० ४५ ।

१३ न्या० दी० पृ० ७२ ।

यशोविजय[1], चारुकीर्ति[2] प्रभृति तार्किकोंका प्राय माणिक्यनन्दि जैसा ही मन्तव्य है। हेमचन्द्रने[3] पक्षको साध्यका ही नामान्तर बतलाया है जो सिद्धसेन, अकलङ्क और विद्यानन्दके अनुरूप है। प्रभाचन्द्रके मतानुसार माणिक्यनन्दिकी तरह अनुमान प्रयोगकालमें साध्य न अग्नि आदि धर्म होता है और न पर्वत आदि धर्मी। अपितु अग्नि आदि धर्मविशिष्ट पर्वत आदि धर्मी अनुमेय होता है और वही प्रतिपादकका प्रतिपाद्यके लिए पक्ष है। अत साध्य (धर्मविशिष्ट धर्मी) को पक्ष कहनेमें कोई दोष नही है।[4]

(२) हेतु

अनुमेयको सिद्ध करनेके लिए साधन (लिङ्ग) के रूपमें जिस वाक्यावयवका प्रयोग किया जाता है वह हेतु[5] कहलाता है। साधन और हेतुमें यद्यपि साधारणतया कोई अन्तर नही है और इसलिए दोनोंका प्रयोग बहुधा पर्यायरूपमें मिलता है। पर उनमें वाच्य-वाचकका भेद है। साधन वाच्य है क्योंकि वह कोई वस्तुरूप होता है। और हेतु वाचक है, क्योंकि उसके द्वारा वह कही जाती है। अक्षपादने[6] हेतुका लक्षण प्रस्तुत करते हुए लिखा है कि उदाहरणके साधर्म्य तथा वैधर्म्यसे साध्यको सिद्ध करना हेतु है। उनके इस हेतुलक्षणमें हेतुका प्रयोग दो तरहका सिद्ध होता है—(१) साधर्म्य और (२) वैधर्म्य। वात्स्यायन[7] और उद्योतकरने[8] उनके इन दोनों प्रयोगोंकी सम्पुष्टि की है। इन तार्किकोंके मतानुसार हेतुमें साध्यके उदाहरणका साधर्म्य तथा वैधर्म्य दोनों अपेक्षित हैं। अर्थात् हेतुको साध्य (पक्ष) में तो रहना ही चाहिए, साधर्म्य उदाहरण (सपक्ष) में साध्यके साथ विद्यमान और वैधर्म्य उदाहरण (विपक्ष) में साध्याभावके साथ अविद्यमान भी होना

---

१ जैन तर्कभा० पृ० १३।

२ प्रमे० रत्नाल० ३। ५, २६।

३ 'पक्ष' इति साध्यस्यैव नामान्तरम्।
—प्र० मी० १।२।१३, पृ० ४५।

४ प्रतिनियतसाध्यधर्मविशेषणविशिष्टतया हि धर्मिणः साधयितुमिष्टत्वात् साध्यव्यपदेशाविरोधः। साध्यधर्मविशेषणविशिष्टतया हि धर्मिणः साधयितुमिष्टस्य पक्षाभिधाने दोषाभावात्।
—प्रभाचन्द्र प्रमेयर० मा० ३।२५, २६ पृ० ३७।

५ कणादने हेतु अपदेश, लिंग, प्रमाण और करण इन सबको हेतुका पर्याय बतलाया है।
—वैशे० ९।२।४।

६ उदाहरणसाधर्म्यात्साध्यसाधनं हेतुः। तथा वैधर्म्यात्।
—न्यायसू० १।१।३४, ३५।

७ न्यायभा० १।१।३४, ३५।

८ न्यायवा० १।१।३४ ३५, पृ० ११८ १३४।

चाहिए। इस प्रकारके हेतुस्वरूपके अवधारण (निश्चय) से हेत्वाभास निरस्त हो जाते हैं[१]।

काश्यप (कणाद) और उनके व्याख्याकार प्रशस्तपादका[२] भी मत है कि जो अनुमेयके साथ सम्बद्ध है, अनुमेयसे अन्वित (साधर्म्य उदाहरण—सपक्ष) में प्रसिद्ध है और उसके अभाव (वैधर्म्य उदाहरण—विपक्ष) में नहीं रहता वह लिंग है। ऐसा त्रिरूप लिंग अनुमेयका अनुमापक होता है। इससे विपरीत अलिंग (हेत्वाभास) है और वह अनुमेयकी सिद्धि नहीं कर सकता।

बौद्ध तार्किक न्यायप्रवेशकार[३] भी त्रिरूप हेतुके प्रयोगको ही अनुमेयका साधक बतलाते हैं। धर्मकीर्ति[४], धर्मोत्तर[५] आदिने उसका समर्थन किया है।

उपर्युक्त अध्ययनसे अवगत होता है कि आरम्भमें त्रिरूपात्मक हेतुका प्रयोग अनुमयप्रतिपत्तिके लिए आवश्यक माना जाता था। पर उत्तरकालमें न्यायपरम्परामें त्रिरूप हेतुके स्थानमें पंचरूप हेतुका प्रयोग अनिवार्य हो गया। उसका सर्वप्रथम प्रतिपादन वाचस्पति मिश्र[६] और जयन्तभट्टने[७] किया है। आगे तो प्रायः सभी परवर्ती न्यायपरम्पराके विद्वानोंने[८] पंचरूप हेतुके प्रयोगका ही समर्थन किया है। किन्तु ध्यान रहे, वैशेषिक और बौद्ध त्रिरूप हेतुके प्रयोगकी मान्यतापर आरम्भसे अन्त तक दृढ़ रहे हैं।

प्रश्न है कि जैन तार्किकोंने किस प्रकारके हेतुके प्रयोगको अनुमेयका गमक स्वीकार किया है? जैन परम्परामें सबसे पहले समन्तभद्रने हेतुके स्वरूपका निर्देश

---

१ एवं हेतुस्वरूपावधारणाद्धेत्वाभासा निराकृता भवन्ति।
—न्यायवा०, १।१।३४ पृष्ठ ११६।

२ यदनुमेयेनार्थेन देशविशेषे कालविशेषे वा सहचरितमनुमेयधर्मान्वितं चान्यत्र सर्वस्मिन्नेकदेशे वा प्रसिद्धमनुमेयविपरीते च सर्वस्मिन् प्रमाणतोऽसदेव तदप्रसिद्धार्थस्यानुमापकं लिङ्गं भवति।
—प्रश० भा० पृ० १००।

३ न्यायप्र० पृ० १।

४ न्यायबिन्दु पृ० २२, २३। हेतुबि० पृ० ५२।

५ न्यायबि० टी० पृ० २२, २३।

६ तेन सम्बन्धेन (चशब्देन) अबाधितविषयमसत्प्रतिपक्षमपि रूपद्वयं समुच्चितमित्युक्तं भवति।
—न्यायवा० ता० टी० १।१।५, पृ० १७४ तथा १७१।

७ पक्षधर्मत्वादीनि लिङ्गम्, तच्च पंचलक्षणम् ... एवं पंचभिर्लक्षणैरुपपन्नं लिङ्गमनुमापकं भवति।
—न्यायमं० पृ० १०१।

८ उदयन, न्यायवा० ता० परि० १।१।५। केशव, तर्कभा० पृ० ८१।

किया है। उन्होंने[1] आप्तमीमांसामें न्यायसूत्रकारके[2] मतसे सहमति प्रकट करते हुए हेतुको अविरोधी (साध्यके साथ ही रहनेवाला—साध्याभावके साथ न रहनेवाला अर्थात् अविनाभावी—अन्यथानुपपन्न) होना विशेष आवश्यक बतलाया है। उनके व्याख्याकार अकलङ्कदेवने[3] उनका आशय उद्घाटित करते हुए लिखा है कि 'सधर्मणैव साध्यस्य साधर्म्यात्' इस वाक्यके द्वारा समन्तभद्रने हेतुको त्रिलक्षण सूचित किया है और 'अविरोधत' पदसे अन्यथानुपपत्तिको दिखलाकर केवल त्रिलक्षणको अहेतु प्रतिपादन किया है। उदाहरणस्वरूप 'तत्पुत्रत्व' आदि असद् हेतुओंको लिया जा सकता है, जिनमें त्रैरूप्य तो है, पर अन्यथानुपपत्ति न होनेसे वे गमक नहीं हैं। किन्तु अन्यथानुपपन्न हेतुओंमें उन्होंने गमकता स्वीकार की है। अतएव 'नित्यत्वैकान्तपक्षेऽपि विक्रिया नोपपद्यते' (आप्तमी० का० ३७) इत्यादि स्थलोंमें अन्यथानुपपत्तिका ही समाश्रय लिया गया है। तात्पर्य यह कि समन्तभद्र त्रैरूप्यका निषेध तो नहीं करते। परन्तु हेतुके अविनाभावपर अधिक भार देते हैं।

पात्रस्वामी[4], सिद्धसेन[5], कुमारनन्दि[6], अकलङ्क[7], विद्यानन्द[8], माणिक्यनन्दि[9], प्रभाचन्द्र[10], वादिराज[11], अनन्तवीर्य[12], देवसूरि[13], शान्तिसूरि[14], हेमचन्द्र[15], धर्मभूषण[16], यशोविजय[17] और चारुकीर्ति[18] आदिने मात्र अविनाभावी—अन्यथानुपपन्न हेतुके प्रयोगको ही अनुमेयका साधक माना है।

---

१ सधर्मणैव साध्यस्य साधर्म्यादविरोधतः।
—आप्तमी० का० १०६।

२ उदाहरणसाधर्म्यात्साध्यसाधनं हेतुः। तथा वैधर्म्यात्।—न्यायसू० १।१।३४, ३५।

३ अष्टश० अष्टस० पृ० २८९ (आ० मी० का १०६ की विवृति)।

४ तत्त्वसं० पृ० ४०६ में उद्धृत पात्रस्वामीका 'अन्यथानुपपन्नत्व' पद्य।

५ न्यायाव० का० २१।

६ प्रमाणपरी० में उद्धृत कुमारनन्दिका 'अन्यथानुपपत्त्येकलक्षणं' पद्य।

७ न्या० वि० का० २६९, प्र० सं० का० २१, अक० ग्र० पृष्ठ ६६ तथा १०२।

८ प्र० परी० पृ० ७०, ७१।

९ परी० मु० ३।१५।

१० प्रमेयक० मा० ३।१५, पृ० ३५४।

११ न्या० वि० वि० २।१ पृ० २। प्र० नि० पृ० ४२।

१२ प्रमेयर० मा० ३।११, पृ० १४१-१४३।

१३ प्र० न० त० ३।११, पृ० ५१७।

१४ न्यायाव० वा० ३।४३, पृ० १०२।

१५ प्र० मी० २।१।१२।

१६ न्या० दी० पृ० ७६।

१७ जैनतर्कभा० पृ० १२।

१८ प्रमेयरत्नाल० ३।१५, पृ० १०३।

यह हेतुप्रयोग दो तरहसे किया जाता है[1]—(१) तथोपपत्तिरूपसे और (२) अन्यथानुपपत्तिरूपसे। तथोपपत्तिका अर्थ है साध्यके होनेपर ही साधनका होना[2], जैसे अग्निके होनेपर ही धूम होता है। और अन्यथानुपपत्तिका आशय है साध्यके अभावमें साधनका न होना ही[3], यथा अग्निके अभावमें धूम नही ही होता। यद्यपि हेतुके ये दोनो प्रयोग साधर्म्य और वैधर्म्य अथवा अन्वय और व्यतिरेकके तुल्य हैं। किन्तु उनमें अन्तर है। साधर्म्य और वैधर्म्य अथवा अन्वय और व्यतिरेकके साथ एवकार नही रहता, अत वे अनियत भी हो सकते हैं, पर तथोपपत्ति और अन्यथानुपपत्तिके साथ एवकार होनेसे उनमें अनियमकी सम्भावना नही है—दोनो नियतरूप होते हैं। दूसरे, ये दोनो ज्ञानात्मक हैं, जब कि साधर्म्य और वैधर्म्य अथवा अन्वय और व्यतिरेक ज्ञेयधर्मात्मक हैं। अत जैन तार्किकोंने उन्हें स्वीकार न कर तथोपपत्ति और अन्यथानुपपत्तिको स्वीकार किया तथा इनमेंसे किसी एकका ही प्रयोग पर्याप्त माना है[4]।

(३) दृष्टान्त

हम पीछे कह आये हैं कि जो प्रतिपाद्य व्युत्पन्न नहीं हैं, न वादाधिकारी हैं और न वादेच्छुक हैं, किन्तु तत्त्वलिप्सु हैं उन्हें अव्युत्पन्न, बाल अथवा मन्दमति कहा गया है[5]। इनकी अपेक्षा अनुमेयकी प्रतिपत्तिके लिए पक्ष, हेतु और दृष्टान्त ये तीन,

---

१ हेतुप्रयोगस्तु तथोपपत्त्याऽन्यथानुपपत्त्यैव वा। अग्निमानयं देशस्तथैव धूमवत्त्वोपपत्तेर्धूमवत्त्वान्यथानुपपत्तेर्वा।
—परी० मु० ३।९५।

हेतुप्रयोगस्तथोपपत्त्यन्यथानुपपत्तिभ्यां द्विप्रकार इति।
—प्र० न० त० ३।२९, पृ० ५४९। न्यायाव० का० १७। प्र० मी० २।१।४।

२ सत्येव साध्ये हेतोरुपपत्तिस्तथोपपत्तिरिति।
—देवसूरि, प्र० न० त० ३।३०। त० श्लो० १।१३।१७५।

३ असति साध्ये हेतोरनुपपत्तिरेवान्यथानुपपत्तिरिति।
—वही ३।३१, पृ० ५६०।

४ (क) अनयोरन्यतरप्रयोगेणैव साध्यप्रतिपत्तौ द्वितीयप्रयोगस्यैकत्रानुपयोग इति।
—प्र० न० त० ३।३२ पृ० ५६०।

(ख) हेतोस्तथोपपत्त्या वा स्यात्प्रयोगोऽन्यथापि वा।
द्विविधोऽन्यतरेणापि साध्यसिद्धिर्भवेदिति॥
—सिद्धसेन, न्यायाव० का० १७।

(ग) नानयोस्तात्पर्ये भेद। अतएव नानयो युगपत् प्रयोग।
—हेमचन्द्र, प्र० मी० २।१।५-६, पृष्ठ ५०।

५ बालानामव्युत्पन्नप्रज्ञानाम्"।
प्रमेयक० मा० ३।४६ का उत्थानिकावाक्य, पृ० ३७६।
प्रमेयर० मा० ३।४२ का उत्थानिकावाक्य तथा उसकी व्याख्या।
मन्दमतींस्तु व्युत्पादयितुम्।
—देवसूरि प्र० न० त० ३।४२, पृ० ५६४।

उपनयसहित चार और निगमन सहित पाच अवयवोके प्रयोगोको भी जैन तार्किकों ने[1] स्वीकार किया है। भद्रबाहु[2], देवसूरि[3], हेमचन्द्र[4], यशोविजय[5] आदि तार्किको ने प्रतिज्ञाशुद्धि आदि दश अवयवोके प्रयोगको भी मान्य किया है। यहा इन सब-पर क्रमश विचार किया जाता है।

दृष्टान्तके लिए उदाहरण और निदर्शन शब्दोका भी प्रयोग किया गया है। न्यायसूत्रकारने[6] दृष्टान्त और उदाहरण दोनो शब्द दिये है तथा दृष्टान्तके वचनको उदाहरणका स्वरूप बतलाया है। प्रशस्तपादने[7] निदर्शन शब्द प्रयुक्त किया है। न्यायप्रवेशकारने[8] दृष्टान्त शब्दको चुना है। धर्मकीर्तिने[9] दृष्टान्तको साधनावयव न माननेसे उसका निर्देश केवल निरासार्थ किया है।

जैन तार्किकोने दृष्टान्त, निदर्शन और उदाहरण तीनो शब्दोका प्रयोग किया है। सिद्धसेनने[10] दृष्टान्त, अकलक[11] दृष्टान्त और निदर्शन तथा माणिक्य-नन्दिने[12] दृष्टान्त, निदर्शन और उदाहरण तीनोको दिया है।

ध्यातव्य है कि न्यायदर्शनमें दृष्टान्तको उदाहरणसे पृथक् स्वतन्त्र पदार्थके रूपमें भी प्रतिपादित किया है और उसका कारण एव विशेष प्रयोजन यह बतलाया गया है[13]

---

१ प्रतिपाद्यानुरोधेन प्रयोगोपगमात्। यथैव हि कस्यचित्प्रतिपाद्यस्यानुरोधेन साधनवाक्य सन्धाऽभिधीयते तथा दृष्टान्तादिकमपि। कुमारनन्दिभट्टारकैरप्युक्तम्—
प्रतिपाद्यानुरोधेन प्रयोगेषु पुनर्यथा। प्रतिज्ञा प्रोच्यते तज्ज्ञैस्तथोदाहरणादिकम्॥
—विद्यानन्द, पत्रपरी० पृ० ३, माणिक्यनन्दि। देवसूरि, प्र० न० त० ३।४२। हेमचन्द्र, प्र० मी० २।१।१०। धर्मभूषण, न्या० दी० पृ० १०३। यशोविजय, जैनतर्कभा० पृ० १६।

२ दशवै० नि० गा० ५०, १३७।

३ स्या० रत्ना० ३।४२, पृ० ५६५।

४ प्र० मी० २।१।१० का स्वो० वृ० पृ० ५२।

५ जैनतर्कभा० पृ० १६।

६ न्यायसू० १।१।३६।

७ प्रश० भा० पृ० ११४, १२२।

८ न्यायप्र० पृ० १।

९ तावतैवार्थप्रतीतिरिति न पृथग्दृष्टान्तो नाम ।
—न्या० बि० तृ० परि० पृष्ठ ९१।

१० न्यायाव० का० १८, १९।

११ अकलकग्रन्थ० पृ० ८०, ४२, १०६ १२७।

१२ परीक्षामु० ३।२७, ४०, ४७, ४८, ४९।

१३ दृष्टान्तविरोधेन हि प्रतिपक्षा प्रतिषेद्धव्या भवन्ति, दृष्टान्तसमाधिना च स्वपक्षा स्थापनीया भवन्तीति, अवयवेषु चोदाहरणाय कल्पत इति।
—वात्स्यायन, न्यायभा० १।१।२५, पृ० ४३।

कि दृष्टान्त विरोधसे प्रतिपक्षियोंको वादमें रोका जा सकता है तथा दृष्टान्तसमाधानसे अपना पक्ष परिपुष्ट किया जाता है और अवयवोंमें उदाहरणकी कल्पना दृष्टान्तसे ही होती है।

गौतमने[1] दृष्टान्तका स्वरूप प्रस्तुत करते हुए कहा है कि जिस अर्थमें लौकिक और परीक्षक दोनों सहमत हों वह दृष्टान्त है। इस दृष्टान्तका प्रदर्शन ही उदाहरण है[2]। उदाहरणद्वारा उन दो धर्मोंमें साध्य-साधनभाव पुष्ट किया जाता है[3] जिनमें अविनाभावी एकको साधन और दूसरेको साध्य बनाया जाता है। उदाहरणसे अव्युत्पन्न प्रतिपाद्यको सरलतासे अनुमेयका बोध हो जाता है। अक्षपादने[4] दृष्टान्तके सामान्यलक्षणके अतिरिक्त एक एक सूत्रमें साधर्म्योक्त और वैधर्म्योक्त उदाहरणका स्वरूप बताया है। इससे ज्ञात होता है कि उन्हें उदाहरणके दो भेद विवक्षित हैं—(१) साधर्म्य और (२) वैधर्म्य।

प्रशस्तपादने[5] भी निदर्शनके दो भेदोंका निर्देश किया है और वे अक्षपाद जैसे ही हैं। न्यायप्रवेशकारने[6] भी अक्षपादकी तरह द्विविध दृष्टान्तोंका प्रतिपादन किया है।

जैन तार्किक सिद्धसेनने[7] दृष्टान्तके उक्त दोनों भेद स्वीकार किये हैं। जहाँ साध्य और साधनमें व्याप्तिका निश्चय किया जाता है उसे साधर्म्य दृष्टान्त तथा

---

१ लौकिकपरीक्षकाणां यस्मिन्नर्थे बुद्धिसाम्यं स दृष्टान्तः ।
—न्यायसू० १।१।२५।

२ साध्यसाधर्म्यात्तद्धर्मभावी दृष्टान्त उदाहरणम् ।
—वही १।१।३६।

३ उदाह्रियतेऽनेन धर्मयोः साध्यसाधनभाव इत्युदाहरणम् ।
—वात्स्यायन, न्यायभा० १।१।३६, पृ० ५०।

४ न्यायसू० १।१।२५, १।१।३६, ३७।

५ द्विविधं निदर्शनं साधर्म्येण वैधर्म्येण च । तत्रानुमेयसामान्येन लिङ्गसामान्यस्यानुविधानदर्शनं साधर्म्यनिदर्शनम् । तद्यथा—यत् क्रियावत् तद् द्रव्यं दृष्टं यथा शर इति । अनुमेयविपर्यये च लिङ्गस्याभावदर्शनं वैधर्म्यनिदर्शनम् । तद्यथा—यदद्रव्यं तत् क्रियावन्न भवति यथा सत्तेति ।
—प्रश० भा० पृ० १२२।

६ दृष्टान्तो द्विविधः । साधर्म्येण वैधर्म्येण च । तत्र साधर्म्येण तावत् । यत्र हेतोः सपक्ष एवास्तित्वं ख्याप्यते । तद्यथा । यत्कृतकं तदनित्यं दृष्टं यथा घटादिरिति । वैधर्म्येणापि । यत्र साध्याभावे हेतोरभाव एव कथ्यते । तद्यथा । यन्नित्यं तदकृतकं दृष्टं यथाकाशमिति ।
—न्यायप्र० पृ० १,२।

७ न्यायाव० का० १८, १९।

है। तथा जहा साध्यके न होने पर साधनका न होना ख्यापित किया जाता है उसे वैधर्म्य दृष्टान्त बतलाया है। विशेष यह कि इसमें उन्होंने पूर्वगृहीत व्याप्तिसम्बन्ध के स्मरणकी अपेक्षा भी बतलायी है। साथ ही वे[1] अन्तर्व्याप्तिसे ही साध्य सिद्धि होनेपर बल देते हैं और उसके अभावमें उदाहरणको व्यर्थ बतलाते हैं।

अकलंकका[2] मत है कि दृष्टान्त अनुमेय सिद्धिमें सर्वत्र आवश्यक नहीं है। उदाहरणार्थ समस्त पदार्थोंको क्षणिक सिद्ध करनेमें कोई दृष्टान्त प्राप्त नहीं होता, क्योंकि सभी पदार्थ पक्षान्तर्गत हो जानेसे सपक्षका अभाव है। अत बिना अन्वयके भी मात्र अन्तर्व्याप्तिके सद्भावसे साध्य सिद्धि सम्भव है। हाँ, जहाँ दृष्टान्त मिलता है उसे दिया जा सकता है। अकलंकने[3] दृष्टान्तका लक्षण प्रस्तुत करते हुए लिखा है कि जहा साध्य और साधन धर्मका सम्बन्ध निर्णीत होता है वह दृष्टान्त है।

माणिक्यनन्दिने[4] भी दृष्टान्तके दो भेदोंका निरूपण किया है। अन्तर यह है कि उन्होंने साधर्म्य और वैधर्म्यके स्थानमें क्रमश अन्वय और व्यतिरेक शब्द दिये हैं। जहाँ साध्यके साथ साधनकी व्याप्ति दिखाई जाए उस स्थानको अन्वयदृष्टान्त तथा जहाँ साध्यके अभावको दिखाकर साधनका अभाव दिखाया जाए उसे व्यतिरेक दृष्टान्त कहा है।

देवसूरि[5] व्याप्तिस्मरणके आस्पद (महानसादि)को दृष्टान्त कहते हैं। माणिक्यनन्दिने दृष्टान्तके सामान्यलक्षणका प्रतिपादक कोई सूत्र नहीं रचा। पर देवसूरि

---

१ अन्तर्व्याप्त्यैव साध्यस्य सिद्धेर्बहिरुदाहृति ।
व्यर्था स्यात् तदसद्भावेऽप्येवं न्यायविदो विदु ॥
—न्यायाव० का० २०।

२ सर्वत्रैव न दृष्टान्तोऽनन्वयेनापि साधनात्।
अन्यथा सर्वभावानामसिद्धोऽयं क्षणक्षय ॥
—न्यायवि० का० ३८१।

३ सम्बन्धो यत्र निर्ज्ञात साध्यसाधनधर्मयो ।
स दृष्टान्त तदाभासा साध्यादिविकलादय ॥
—न्यायवि० का० ३८०।

४ दृष्टान्तो द्वेधा अन्वयव्यतिरेकभेदात्।
साध्यव्याप्तं साधनं यत्र प्रदर्श्यते सोऽन्वयदृष्टान्त ।
साध्याभावे साधनाभावो यत्र कथ्यते स व्यतिरेकदृष्टान्त ।
—प० मु० ३।४७, ४८, ४९।

५ प्रतिबन्धप्रतिपत्तेरास्पदं दृष्टान्त इति।
—प्र० न० त० ३।४२, पृ० ५६७।

ने उसका प्रतिपादक सूत्र दिया है[1]। इन्होंने[2] दृष्टान्तके द्वैविध्यमें माणिक्यनन्दि की तरह अन्वय व्यतिरेक शब्द न देकर सिद्धसेनकी तरह साधर्म्य-वैधर्म्य शब्द प्रयुक्त किये हैं। हेमचन्द्रने[3] इस सम्बन्धमें देवसूरिका अनुसरण किया है।

धर्मभूषणने[4] दृष्टान्तके सम्यक् वचनको उदाहरण और व्याप्तिके सम्प्रतिपत्ति प्रदेशको दृष्टान्त कहा है। जहाँ वादी और प्रतिवादीकी बुद्धिसाम्यता (अविवाद) है उस स्थानको सम्प्रतिपत्ति प्रदेश कहते हैं। जैसे रसोईशाला आदि अथवा तालाब आदि। क्योंकि वहाँ धूमादिकके होनेपर नियमसे अग्न्यादिक पाये जाते हैं और अग्न्यादिकके अभावमें नियमसे धूमादिक नहीं पाये जाते, इस प्रकारकी सम्प्रतिपत्ति सम्भव है। रसोईशाला आदि अन्वय दृष्टान्त है, क्योंकि वहाँ साध्य और साधनके सद्भावरूप अन्वयबुद्धि होती है। और तालाब आदि व्यतिरेक दृष्टान्त है, क्योंकि वहाँ साध्य और साधन दोनोंके अभावरूप व्यतिरेकका ज्ञान होता है। ये दोनों ही दृष्टान्त हैं, क्योंकि साध्य और साधन दोनोंरूप अन्त—अर्थात् धर्म जहाँ सद्भाव अथवा असद्भाव रूपमें देखे जाते हैं वह दृष्टान्त है, ऐसा दृष्टान्त शब्दका अर्थ उनमें निहित है। धर्मभूषण[5] एक विशेष बात और कहते हैं। वह यह कि दृष्टान्तका दृष्टान्तरूपसे जो वचन प्रयोग है वह उदाहरण है। केवल वचनका नाम उदाहरण नहीं है। इसके प्रयोगका वे निदर्शन इस प्रकार प्रस्तुत करते हैं—जैसे, जो जो धूमवाला होता है वह वह अग्निवाला होता है, यथा रसोईघर, और जहाँ अग्नि नहीं है वहाँ धूम भी नहीं है, जैसे तालाब, इस प्रकारके वचनके साथ ही दृष्टान्त का दृष्टान्तरूपसे प्रतिपादन करना उदाहरण है।

---

१ प्र० न० त०, ३।४३, पृ० ५६७।

२ स द्वेधा साधर्म्यतो वैधर्म्यतश्चेति। यत्र साधनधर्मसत्तायामवश्यं साध्यधर्मसत्ता प्रकाश्यते स साधर्म्यदृष्टान्त इति। यत्र तु साध्याभावे साधनस्यावश्यमभावः प्रदर्श्यते स वैधर्म्यदृष्टान्तः।
—वही, ३।४४, ४५, ४६, पृ० ५६७, ५६८।

३ स व्याप्तिदर्शनभूमिः। स साधर्म्यवैधर्म्याभ्यां द्वेधा। साधनधर्मप्रयुक्तसाध्यधर्मयोगी साधर्म्यदृष्टान्तः। साध्यधर्मनिवृत्तिप्रयुक्तसाधनधर्मनिवृत्तियोगी वैधर्म्यदृष्टान्तः।
—प्रमाणमी० १।२।२०, २१, २२, २३ पृ० ४८।

४ उदाहरणं च सम्यग्दृष्टान्तवचनम्। कोऽयं दृष्टान्तो नाम? इति चेद्, उच्यते, व्याप्तिसम्प्रतिपत्तिप्रदेशो दृष्टान्तः। तत्र महानसादिरन्वयदृष्टान्तः—ह्रदादिस्तु व्यतिरेकदृष्टान्तः। दृष्टान्तौ चैतौ दृष्टावन्तौ धर्मौ साध्यसाधनरूपौ यत्र स दृष्टान्त इत्यर्थानुवृत्तेः।
—न्यायदी० पृ० १०४ १०५। प्रमेयक० मा० ३।४७, पृ० ३७३।

५ न्यायदी० पृ० १०५।

यशोविजयने[1] मन्दमति प्रतिपाद्योंके लिए दृष्टान्तादिका प्रयोग उपयुक्त माना है। पर उनका विवेचन नहीं किया।

माणिक्यनन्दिके व्याख्याकार अन्तिम जैन तार्किक चारुकीर्तिने गंगेश और उनके अनुवर्ती नव्य नैयायिकों द्वारा विकसित नव्यन्यायके चिन्तनका भी अवसर मिला है। अतः उन्होंने उसमें लाभ उठाकर अन्वयि उदाहरण और व्यतिरेकि उदाहरणके लक्षण नव्यन्यायकी पद्धतिसे प्रस्तुत किये हैं[2]। जैन परम्पराके लिए उनका यह नया आलोक है।

(४) उपनय

उपनयका स्वरूप बतलाते हुए गौतमने[3] लिखा है कि उदाहरणकी अपेक्षा रखते हुए 'वैसा ही यह है' या 'वैसा यह नहीं है' इस प्रकारसे साध्यका उपसंहार उपनय कहलाता है। वात्स्यायनने[4] गौतमके इस कथनका विशदीकरण इस प्रकार किया है—जिस अनुमाताने साध्यके सादृश्यसे युक्त उदाहरणमें स्थाली आदि द्रव्यको उत्पत्तिधर्मक होनेसे अनित्य देखा है वह 'शब्द उत्पत्तिधर्मक है' इस अनुमानमें साध्य—स्थाली आदि द्रव्यका भी उत्पत्तिधर्मकत्वमें उपसंहार करता है। इसी तरह जिसने साध्यके वैसादृश्यसे युक्त उदाहरणमें आत्मा आदि द्रव्यका अनुत्पत्तिधर्मा होनेसे नित्य जाना है वह शब्दमें नियमसे न मिलनेपर अनुत्पत्तिधर्मकत्वका उपसंहार प्रतिषेधसे उसमें उत्पत्तिधर्मकत्वका उपसंहार करता है। उपसंहारका अर्थ है दोहराना। जिस अनुमानावयवमें उदाहरणकी प्रसिद्धिपूर्वक हेतुविशिष्टत्वेन अनुमेयको दोहराया जाए वह उपनय है। वात्स्यायनने[5] गौतमके आशयानुसार उदाहरण तथा हेतुकी तरह उपनयके भी अन्वय और व्यतिरेकरूप दो भेदोंका निर्देश किया है। उद्योतकर आदि उत्तरवर्ती सभी नैयायिकोंने न्यायसूत्रकार और वात्स्यायनका समर्थन किया है।

---

१ मन्दमतींस्तु व्युत्पादयितुं दृष्टान्तादिप्रयोगोऽप्युपयुज्यते वस्तु प्रतिबन्धग्राहिण प्रमाणस्य न स्मरति, तं प्रति दृष्टान्तोऽपि।
—जैन तर्कभा० पृ० १६।

२ अन्वयव्याप्तिविशिष्टहेतुविच्छिन्नपक्षतविनिष्ठसाध्यप्रकारकबोधजनकवाक्यावयवमन्वयुदाहरणस्य लक्षणम्। व्यतिरेकव्याप्तिविशिष्टसाधनाभावविच्छिन्नविनिष्ठसाध्यप्रकारकबोधजनकावयवत्वं व्यतिरेकोदाहरणस्य लक्षणम्।
—प्रमेयरत्नाल० ३।४७, ४९, पृ० १२०, १२१।

३ उदाहरणापेक्षस्तथेत्युपसंहारो न तथेति वा साध्यस्योपनयः।
—न्यायसू० १।१।३८।

४ न्यायभा० १।१।३८, पृ० ५१।

५ वही, १।१।३८, पृ० ५१।

बौद्धोंने उपनयको स्वीकार नहीं किया। अत उनके तर्कग्रन्थोंमें उसका विवेचन नहीं है। पर हाँ, धर्मकीर्तिने[१] हेतुका प्रयोग साधर्म्य और वैधर्म्यरूपसे द्विविध बतलाकर उसीके स्वरूपमें उदाहरण और उपनयका अन्तर्भाव कर लिया है। उनके हेतुका प्रयोग इस प्रकार होता है—'जो सत् है वह सब क्षणिक है। जैसे घटादिक। और सत् शब्द है। तथा क्षणिकता न होनेपर सत्त्व भी नहीं होता।' हेतुके इस प्रयोगमें स्पष्टतया उदाहरण और उपनयका प्रवेश है। पर धर्मकीर्ति उन्हें हेतुका ही स्वरूप मानते हैं[२]—उन्हें पृथक् स्वीकार नहीं करते।

अनन्तवीर्य[३] और उनके अनुगर्ता हेमचन्द्रने[४] मीमांसकोंके नामसे चार अवयवमान्यताका उल्लेख किया है, जिसमें उपनय सम्मिलित है। इससे ज्ञात होता है कि मीमांसकोंने भी उपनयको माना है। परन्तु यह मान्यता मीमांसकतर्कग्रन्थोंमें उपलब्ध नहीं होती। सांख्यविद्वान् युक्तिदीपिकाकार[५] भी अपने दशावयवोंमें उपनयका कथन करते हुए पाये जाते हैं। किन्तु माठरने[६] उपनयको स्वीकार नहीं किया। केवल पक्ष, हेतु और दृष्टान्तको उन्होंने अंगीकार किया है।

जैन परम्परामें गृद्धपिच्छ, समन्तभद्र और सिद्धसेनने उपनयका कोई निर्देश नहीं किया। अकलंक[७] मात्र 'उपनयादिसमम्' शब्दों द्वारा उपनयका उल्लेख भर करते हैं, पर उसके स्वरूपादिका उन्होंने कोई कथन नहीं किया। इतना अवश्य है कि वे[८] प्रतिपाद्यविशेषके लिए उसके प्रयोगका समर्थन करते जान पड़ते हैं। उपनयके स्वरूपका स्पष्ट प्रतिपादन माणिक्यनन्दिने[९] किया है। वे कहते हैं कि पक्षमें हेतुके

---

१ तस्य (हेतोः) द्विधा प्रयोगः। साधर्म्येण एकः, वैधर्म्येणापरः। यथा—यत् सत् तत् सर्वं क्षणिकम्। यथा घटादयः। सश्च शब्दः। तथा क्षणिकत्वाभावे सत्त्वाभावः। सर्वोपसंहारेण व्याप्तिप्रदर्शनलक्षणौ साधर्म्यवैधर्म्यप्रयोगौ उक्तौ।
—हेतुबि० पृ० ५५।

२ डा० महेन्द्रकुमार जैन, न्यायवि० प्रस्तावना पृष्ठ १५।

३ प्रमेयर० मा० ३।३२, पृ० १६४।

४ प्र० मी० २।१।८, पृ० ५२।

५ साध्यदृष्टान्तयोरेकक्रियोपसंहार उपनयः।
—युक्तिदी० का ६ पृ० ४८।

६ माठरवृ० का० ५।

७ सम्मोहव्यवच्छेदेन तत्त्वावधारणे स्वयं सामान्येऽपि साधनवचने मन्दविभ्रिदिरप्य वाक्यं उपनयादिसमम्।
—प्र० स० का० ५१ अक० ग्रन्थ० पृ० १११।

८ तावत् प्रयोक्तव्यं यावता साध्यसाधनमभिनिरूप्यं सम्प्रेति।
—वही स्वो० वृ० पृ० १११।

९ हेतोरुपसंहार उपनयः।
—परीक्षामु० ३।५०।

दुहरानेका नाम उपनय है। प्रभाचन्द्रने[1] उनके प्रतिपादनका बहुत सुन्दर व्याख्यान किया है। उन्होंने लिखा है कि जिसके द्वारा साध्यधर्मीमें साध्याविनाभाविरूपसे अर्थात् पक्षधर्मरूपसे विशिष्ट हेतु उपदर्शित हो वह उपनय कहा जाता है। यथार्थमें उपनयवाक्यके द्वारा दृष्टान्त सादृश्यसे हेतुमें साध्याविनाभावित्वरूप पक्षधर्मताकी पुष्टि की जाती है। अतएव उपनयको उपमान भी कहा गया है[2]। इसका उदाहरण है—'उसी प्रकार यह धूमवाला है'। अनन्तवीर्यका[3] भी यही मत है। देवसूरि[4] माणिक्यनन्दि और प्रभाचन्द्रका ही अनुगमन करते हैं। हेमचन्द्रने[5] उपनयके स्वरूपका प्रतिपादक सूत्र तो देवसूरि जैसा ही दिया है। पर उसकी वृत्तिमें उन्होंने[6] कुछ विशेषता व्यक्त की है। कहा है कि जिस पक्षधर्म-साधनकी दृष्टान्तधर्मीमें व्याप्ति (साध्याविनाभाव) को जान लिया है उसका साध्यधर्मीमें उपसंहार करना उपनय है और वह वचनरूप है। जैसे 'और धूमवाला यह है'। चारुकीर्तिका[7] उपनयलक्षण नव्यन्यायके परिवेशमें ग्रथित होनेसे उल्लेखनीय है। ध्यान रहे न्यायपरम्परामें जहाँ साध्य (पक्ष) के उपसंहारको उपनय कहा है वहाँ जैन न्यायमें पक्षमें हेतुके उपसंहारको उपनय बतलाया गया है। वास्तवमें उपनयका प्रयोजन प्रयुक्त हेतुमें साध्याविनाभावित्वकी सम्पुष्टि करना है। अतः पक्षनिष्ठत्वेन हेतुके पुनः अभिधानको उपनय कहा जाना युक्त है।

(५) निगमन

परार्थानुमानका अन्तिम अवयव निगमन है। निगमनका स्वरूप देते हुए गौत-

---

१ उपनयो हि साध्याविनाभावित्वेन विशिष्टो साध्यधर्मिण्युपनायते येनोपदर्श्यते हेतुः सोऽभिधीयते।
—प्रमेयक० मा० ३।५०, पृ० ३७७।

२ उपनय उपमानम्, दृष्टान्तधर्मिसाध्यधर्मिणो सादृश्यात्।
—प्रमेयक० म० ३।३७ पृष्ठ ३७४।

३ हेतो पक्षधर्मतयोपसंहार उपनय इति।
—प्रमेयर० मा० ३।४६, पृ० १७२।

४ हेतो साध्यधर्मिण्युपसंहरणमुपनय इति। उपनीयते साध्याविनाभावित्वेन विशिष्टो हेतुः साध्यधर्मिण्युपदर्श्यते येन स उपनय इति व्युत्पत्ते।
—प्र० न० त० स्या० र० ३।४७, पृ० ५६९।

५ धर्मिणि साधनस्योपसंहार उपनय।
—प्र० मी० २।१।१४, पृ० ५३।

६ दृष्टान्तधर्मिणि विसृतस्य साधनधर्मस्य साध्यधर्मिणि य उपसंहारः स उपनय उपसंह्रियतेऽनेनोपनीयतेऽनेनेति वचनरूप, यथा धूमवांश्चायमिति।
—वही, २।१।१४, पृ० ५३।

७ प्र० रत्नाल० ३।५०, पृ० १२९।

उन्होंने[1] लिखा है कि हेतुके कथनपूर्वक प्रतिज्ञाका पुनः अभिधान करना अर्थात् दुहराना निगमन है। इसे वात्स्यायन[2] उदाहरणपूर्वक स्पष्ट करते हैं कि जिस प्रकार हेतुकथनके उपरान्त साधर्म्यप्रयुक्त अथवा वैधर्म्यप्रयुक्त उदाहरणका उपसंहार किया जाता है उसी प्रकार 'उत्पत्तिधर्मक होनेसे शब्द अनित्य है' इस तरह हेतुकथन पूर्वक प्रस्तावित पक्षका दुहराना निगमन कहलाता है। वे[3] निगमन-साध्य अर्थको बतलानेके लिए साधर्म्य और वैधर्म्य प्रयुक्त अनुमानप्रयोजक वाक्योंमें विश्लेषणके साथ कहते हैं—'शब्द अनित्य है' यह प्रतिज्ञा है, 'उत्पत्तिधर्मा होनेसे' यह हेतु है, 'उत्पत्तिधर्मा स्थाली आदि द्रव्य अनित्य होते हैं' यह उदाहरण है, 'वैसा ही यह शब्द है' यह उपनय है, 'इसलिए उत्पत्तिधर्मा होनेसे शब्द अनित्य है' यह निगमन है। यह तो साधर्म्यप्रयुक्त अनुमानप्रयोजक वाक्यका उदाहरण है। वैधर्म्यप्रयुक्त वाक्यका उदाहरण इस प्रकार है—'शब्द अनित्य है', 'क्योंकि वह उत्पत्तिधर्मा है', 'अनुत्पत्तिधर्मा आत्मादि द्रव्य नित्य देखा गया है', 'यह शब्द वैसा अनुत्पत्तिधर्मा नहीं है', 'इसलिए उत्पत्तिधर्मा होनेसे शब्द अनित्य है'। तात्पर्य यह कि पञ्चावयववाक्यमें पाँचों (प्रतिज्ञासे निगमनतक) अवयव मिलकर परस्पर सम्बद्ध रहते हुए ही अनुमेयकी प्रतिपत्ति कराते हैं। निगमनका काम है कि वह यह दिखाये कि पहले कहे गये चारों अवयववाक्य एकमात्र अनुमेयकी प्रतिपत्ति करानेकी सामर्थ्यसे सम्पन्न हैं[4]। उद्योतकर[5] और वाचस्पति मिश्रने[6] उपनय और निगमनको अवयवान्तर स्वीकार न करनेवालोंकी मीमांसा करते हुए उन्हें पृथक् अवयव माननेकी आवश्यकताका प्रदर्शन किया है। उनका मत है कि दृष्टान्तगत धर्मकी अव्यभिचारिताको सिद्ध करके उसके द्वारा साध्यगत धर्मकी तुल्यताका बोध करानेके लिए उपनयको और प्रतिज्ञात अर्थके प्रमाणों (चार अवयववाक्यों) से उपपन्न हो जानेपर साध्यविपरीतता प्रसंग निषेध करनेके लिए निगमनको आव-

१ हेत्वपदेशात्प्रतिज्ञायाः पुनर्वचनं निगमनम्।
—न्यायसू० १।१।३९।

२ न्यायभा० १।१।३९, पृ० ५२।

३ वही, १।१।३९, पृ० ५२।

४ सर्वेषामेकार्थप्रतिपत्तौ सामर्थ्यप्रदर्शनं निगमनमिति।
—न्यायभा० १।१।३९, पृ० ५३।

५. दृष्टान्तगतस्य धर्मस्याव्यभिचारित्वे सिद्धे तेन साध्यगतस्य तुल्यधर्मता एवं गम्यत इति।
प्रतिज्ञाविषयस्यार्थस्याऽवयवान्तरैः साध्यविपरीतप्रसंगप्रतिषेधार्थं पुनरभिधानं निगमनमिति।
—न्यायवा० १।१।३८, ३९ पृ० १३०।

६ न्यायवा० ता० टी० १।१।३८, ३९, पृ० २९९-३०१।

श्यकता एवं उपयोगिता है। वाचस्पति[1] कहते हैं कि प्रतिज्ञादि चार अवयवोंके द्वारा हेतुके केवल तीन अथवा दो रूपोंका प्रतिपादन होता है, अबाधितविषयत्व और असत्प्रतिपक्षत्वका नहीं और अविनाभाव पाँच अथवा चार रूपोंमें समाप्त होता है। अत अबाधितविषयत्व तथा असत्प्रतिपक्षत्व इन दो रूपोंका संसूचन करनेके लिए निगमन आवश्यक है।

प्रशस्तपादने निगमन शब्दके स्थानमें 'प्रत्याम्नाय' शब्द रखा है और उसका स्वरूप प्राय वही प्रस्तुत किया है जो न्यायपरम्परामें निगमनका है। पर ध्यान देनेपर उसमें कुछ वैशिष्ट्य परिलक्षित होता है।[2] उनका मन्तव्य है कि अनुमेय-रूपसे जिसका उद्देश्य किया गया है और जिसका निश्चय नहीं हुआ है, उसका दूसरों (प्रतिपाद्यों) को निश्चय करानेके लिए प्रतिज्ञाका पुन अभिधान करना प्रत्याम्नाय है। जिन प्रतिपाद्योंने हेत्वादि चार अवयववाक्योंसे अनुमेय प्रतिपत्तिकी शक्ति तो प्राप्त कर ली है, पर उसका निश्चय नहीं, उन्हें प्रत्याम्नायवाक्यसे ही अनुमेयका निश्चय कराया जाता है। इसके बिना अन्य सभी अथवा प्रत्येक अवयव अनुमेयका निश्चय नहीं करा सकते। अत प्रत्याम्नायवाक्यके कहे जानेपर ही पचावयवरूप परार्थानुमानवाक्य पूर्ण होता है और वही परार्थानुमितिमें सक्षम है।

बौद्ध और मीमांसक उपनयकी तरह निगमनको भी नहीं मानते। अत उनके न्याय-ग्रन्थोंमें उसका समर्थन न होकर निरास ही उपलब्ध होता है। धर्मकीर्तिने तो उपनय और निगमन दोनोंको असाधनांग कहकर उनके कहने पर असाधनांग निग्रहस्थान बतलाया है। साख्यविद्वान् युक्तिदीपिकाकार निगमनको मानते हैं। पर माठर उसे स्वीकार नहीं करते।

जैन तर्कशास्त्रमें निगमनका स्पष्ट कथन माणिक्यनन्दिने आरम्भ किया है। उनके बाद देवसूरि, हेमचन्द्र आदिने भी उसका निरूपण किया है। माणिक्यनन्दिने[3]

---

१ चतुर्भि खल्ववयवैर्हेतोस्त्रीणि रूपाणि द्वे वा प्रतिपादिते न त्वबाधितविषयत्वासत्प्रतिपक्षत्वे। पञ्चसु वा चतुर्षु वा रूपेषु हेतोरविनाभाव परिसमाप्यते, तस्मादबाधितत्वासत्प्रतिपक्षितत्वरूपद्वयसंसूचनाय निगमनम्।
—न्या० ता०, १।१।३९, पृ० ३०१-३०२।

२ अनुमेयत्वेनोद्दिष्टे चानिश्चिते च परेषा निश्चयापादनार्थं प्रतिज्ञाया पुनर्वचन प्रत्याम्नाय। न ह्येतस्मिन्नसति परेषामवयवानां समस्तानां व्यस्तानां वा तदर्थवाचकत्वमस्ति। तस्मात् पञ्चावयवेनैव ।
—प्रश० भा० पृ० १२४ १२७।

३ प्रतिज्ञायास्तु निगमनम्।
—परीक्षामु० ३।५१।

प्रतिज्ञाके दुहरानेको निगमन कहा है। प्रभाचन्द्र[1] उस वाक्यको निगमन बतलाते हैं जिसके द्वारा प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण और उपनय चारोंका साध्यरूप एक अर्थमें साधनरूपसे सम्बन्धित किया जाता है। अनन्तवीर्यको इन दोनों परिभाषाओंमें कुछ कमी प्रतीत हुई है और जो युक्त भी है। वे[2] उसमें 'धर्मधर्मविशिष्टरूपसे' इतना विशेषण और जोड़ देना आवश्यक समझते हैं। अर्थात् उनकी दृष्टिसे साध्य-धर्मविशिष्टरूपसे प्रतिज्ञाका प्रदर्शन (दुहराना) निगमन है। जैसे 'धूमवाला होनेसे यह अग्निवाला है।' देवसूरि[3] और हेमचन्द्रका[4] निगमन-स्वरूप माणिक्य-नन्दि और प्रभाचन्द्र जैसा ही है। धर्मभूषणने[5] साधनको दुहराते हुए साध्यके निश्चयरूप वचनको निगमन कहा है। चारुकीर्तिने[6] उपनयकी तरह निगमनका भी लक्षण नव्यपद्धतिमें ग्रथित किया है।

ऐसा प्रतीत होता है कि अन्तिम दो अवयवों पर जैन तार्किकोंने उतना बल नहीं दिया जितना आरम्भके अवयवों पर दिया है। यही कारण है कि माणिक्य-नन्दिसे पूर्व इनपर विवेचन प्राप्त नहीं होता। इससे हम यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि पंचावयवकी मान्यता मुख्यतया नैयायिकों तथा वैशेषिकोंकी है और वह वाद तथा शास्त्र दोनोंमें समान रूपसे स्वीकृत है। पर जैन विचारकोंने[7] वादमें तीन या दो तथा शास्त्रमें तीन, चार और पाँच अवयवोंका समर्थन करके उन्हें दो (वाद तथा शास्त्र) क्षेत्रोंमें विभक्त किया है। अतएव अन्तिम दो या तीन अवयवोंको वादापेक्षया स्वीकार न करने पर भी शास्त्रकी अपेक्षासे उनका जैन तर्कग्रन्थोंमें स्वरूप निरूपित है।[8]

(६-१०) पंच शुद्धियाँ

भद्रबाहुने[9] उक्त प्रतिज्ञादि पाँच अवयवोंके अतिरिक्त उनकी पाँच शुद्धियाँ

---

१ प्रमेयक० मा० ३।५१ पृ० ३७३।

२ प्रतिज्ञायास्तूपसंहारः साध्यधर्मविशिष्टत्वेन प्रदर्शनं निगमनम्।
—प्रमेयर० मा० ३।४७, पृ० १८१।

३ प्र० न० त० ३।४८, पृ० ५६९।

४ प्र० मी० २।१।१५, पृ० ५१।

५. साधनानुवादपुरस्सरं साध्यनियमवचनं निगमनम्। तस्मादग्निमानेवेति।
—न्या० दी० पृ० १११।

६ प्रत्ययार्थच्छेदकावच्छिन्नप्रतियोगिताकनिरूपितहेतुतावच्छेदकविशिष्टसाध्यतावच्छेदकाव-
च्छिन्नप्रकारताशालिज्ञानजनकतावच्चं निगमनत्वमिति।
—प्रमेयरत्नालं० ३।५१, पृ० १९१।

७ प्रमेयर० मा० ३।४७ पृ० १८२।

८ परीक्षामु० ३।४६। प्र० न० त० ३।४२।

९ दशवै० नि० गा० ४९, ५०।

भी प्रतिपादित की है और इस प्रकार उन्होंने अधिक-से-अधिक दस अवयवोंका कथन किया है। वे इस प्रकार हैं —१ प्रतिज्ञा, २ प्रतिज्ञाशुद्धि, ३ हेतु ४ हेतुशुद्धि, ५ दृष्टान्त, ६ दृष्टान्तशुद्धि, ७ उपसंहार, ८ उपसंहारशुद्धि, ९ निगमन और १० निगमनशुद्धि। देवसूरि[1], हेमचन्द्र[2], और यशोविजयने[3] भी उक्त दशावयवोंका समर्थन किया है। इन तार्किकोंका मन्तव्य है कि जिस प्रतिपाद्यको प्रतिज्ञादि पंचावयवोंके स्वरूपमें शंका हो या उनमें पक्षाभासादि दोषोंकी सम्भावना हो तो उस प्रतिपाद्यको उनके परिहारके लिए उक्त प्रतिज्ञाशुद्धि आदि पाँच शुद्धियों का भी प्रयोग किया जाना चाहिए। उल्लेखनीय है कि भद्रबाहुने[4] एक दूसरे प्रकारसे भी दशावयवोंका निरूपण किया है। उनके नाम हैं—१ प्रतिज्ञा, २ प्रतिज्ञाविभक्ति, ३ हेतु, ४ हेतुविभक्ति, ५ विपक्ष, ६ विपक्ष प्रतिषेध, ७ दृष्टान्त, ८ आशंका, ९ आशंकाप्रतिषेध और १० निगमन। पर इन दश अवयवोंका देवसूरि आदि किसी भी उत्तरवर्ती जैन तार्किकने अनुगमन नहीं किया और न उनका उल्लेख किया है।

ध्यान रहे कि ये दोनों दशावयवोंकी मान्यताएँ श्वेताम्बर परम्परामें स्वीकृत हैं। दिगम्बर परम्पराके तार्किकोंने उन्हें प्रश्रय नहीं दिया। इसके कारण पर विचार करते हुए पं० सुखलालजी संघवीने[5] लिखा है कि 'इस तफावतका कारण दिगम्बर परम्पराके द्वारा श्वेताम्बर आगम-साहित्यका परित्याग जान पड़ता है।' हमारा अध्ययन है कि दिगम्बर परम्पराके तार्किकोंने अपने तर्कग्रन्थोंमें न्याय और वैशेषिक परम्पराके पंचावयवों पर ही चिन्तन किया है क्योंकि वे ही सबसे अधिक लोकप्रसिद्ध, चर्चित और सामान्य थे। यही कारण है कि वात्स्यायन द्वारा समीक्षित और युक्तिदीपिकाकार द्वारा प्रतिपादित जिज्ञासादि दशावयवोंकी भी उन्होंने कोई अनुकूल या प्रतिकूल चर्चा नहीं की। दूसरी बात यह है कि जिस प्रकार वात्स्यायनने[6] पाँचों अवयवोंका प्रयोजन बतलाते हुए हेतु और उदाहरणकी परिशुद्धिका जिक्र किया है, जिसका आशय यह है कि दृष्टान्तगत साध्य-साधनधर्मोंमें साध्यसाधनभाव व्यवस्थित हो जाने पर साधनभूत धर्मको हेतु बनानेसे वह अनुमेयका अव्यभिचारी होता है। तात्पर्य यह कि वात्स्यायनने निर्दोष हेतु और उदाहरणके प्रयोग द्वारा ही पक्षादि दोषपरिहार हो जानेका प्रतिपादन किया है।

---

१ प्र० न० त० स्या० रत्ना० ३।४२ पृ० ५६५।
२ प्र० मी० स्वो० वृ० २।१।१५, पृ० ५३।
३ जैनतर्कभा० पृ० १६।
४ दशवै० नि० गा० १३७।
५ प्र० मी० भा० टि० पृष्ठ ९५।
६ न्या० भा० १।१।३९, पृ० ५४।

प्रतिज्ञाके दुहरानेको निगमन कहा है। प्रभाचन्द्र[1] उस वाक्यको निगमन बतलाते हैं जिसके द्वारा प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण और उपनय चारोंको साध्यरूप एक अर्थमें साधनरूपसे सम्बन्धित किया जाता है। अनन्तवीर्यको इन दोनों परिभाषाओंमें कुछ कमी प्रतीत हुई है और जो युक्त भी है। वे[2] उसमें 'पक्षधर्मविशिष्टरूपसे' इतना विशेषण और जोड़ देना आवश्यक समझते हैं। अर्थात् उनकी दृष्टिमें साध्य धर्मविशिष्टरूपसे प्रतिज्ञाका प्रदर्शन (दुहराना) निगमन है। जैसे 'धूमवाला होनेसे यह अग्निवाला है।' देवसूरि[3] और हेमचन्द्रका[4] निगमन-स्वरूप माणिक्य नन्दि और प्रभाचन्द्र जैसा ही है। धर्मभूषणने[5] साधनको दुहराते हुए साध्यके निश्चयरूप वचनको निगमन कहा है। चारुकीर्तिने[6] उपनयकी तरह निगमनका भी लक्षण नव्यपद्धतिसे ग्रथित किया है।

ऐसा प्रतीत होता है कि अन्तिम दो अवयवों पर जैन तार्किकोंने उतना बल नहीं दिया जितना आरम्भके अवयवों पर दिया है। यही कारण है कि माणिक्य नन्दिका पद इनपर विचार प्राप्त नहीं होता। इससे हम यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि पञ्चावयवकी मान्यता मुख्यतया नैयायिकों तथा वैशेषिकोंकी है और वह वाद तथा शास्त्र क्षेत्रमें समान रूपसे स्वीकृत है। पर जैन विचारकोंने[7] वादमें दो या दो तथा शास्त्रमें तीन, चार और पाँच अवयवोंका समर्थन करके उन्हें दो (वाद तथा शास्त्र) क्षेत्रोंमें विभक्त किया है। अतएव अन्तिम दो या तीन अवयवोंको वादापेक्षया स्वीकार न करने पर भी शास्त्रकी अपेक्षासे उनका जैन तर्कग्रन्थोंमें स्वरूप निरूपित है।[8]

(§ १०) पञ्च शुद्धियाँ

भद्रबाहु[9] उक्त प्रतिज्ञादि पाँच अवयवोंके अतिरिक्त उनकी पाँच शुद्धियाँ

---

१ प्रमेयक० मा० ३।५१ पृ० ३७७।

२ प्रतिज्ञाया उपसंहारः साध्यधर्मविशिष्टत्वेन प्रदर्शनं निगमनम्।
—प्रमेयर० मा० ३।४७, पृ० १७१।

३ प्र० न० त० ३।४८ पृ० ५६९।

४ प्र० मी० २।१।१५ पृ० ५१।

५. साधनानुवादपुरस्सरं साध्यनियमवचनं निगमनम्। तस्मादग्निमानेवेति।
— न्या० दी० पृ० १११।

६ [illegible]
[illegible] निगमनमिदम्।
—प्रमेयरत्नालं० ३।५१, पृ० १२१।

७ प्रमेयर० मा० ३।४७ पृ० १७१।

८ परीक्षामु० ३।४६। प्र० न० त० ३।४२।

९. दशवै० नि० गा० ४९, ५०।

भी प्रतिपादित की है और इस प्रकार उन्होंने अधिक-से-अधिक दश अवयवोंका कथन किया है। वे इस प्रकार हैं —१ प्रतिज्ञा २ प्रतिज्ञाशुद्धि, ३ हेतु, ४ हेतुशुद्धि, ५ दृष्टान्त, ६ दृष्टान्तशुद्धि, ७ उपसंहार, ८ उपसंहारशुद्धि, ९ निगमन और १० निगमनशुद्धि। देवसूरि[1], हेमचन्द्र[2], और यशोविजयने[3] भी उक्त दशावयवोंका समर्थन किया है। इन तार्किकोंका मन्तव्य है कि जिस प्रतिपाद्यको प्रतिज्ञादि पंचावयवोंके स्वरूपमें शंका हो या उनमें पक्षाभासादि दोषोंकी सम्भावना हो तो उस प्रतिपाद्यको उनके परिहारके लिए उक्त प्रतिज्ञाशुद्धि आदि पाँच शुद्धियों-का भी प्रयोग किया जाना चाहिए। उल्लेखनीय है कि भद्रबाहुने[4] एक दूसरे प्रकारसे भी दशावयवोंका निरूपण किया है। उनके नाम हैं—१ प्रतिज्ञा, २ प्रतिज्ञाविभक्ति, ३ हेतु, ४ हेतुविभक्ति, ५ विपक्ष, ६ विपक्ष प्रतिषेध, ७ दृष्टान्त, ८ आशंका, ९ आशंकाप्रतिषेध और १० निगमन। पर इन दश अवयवोंका देव-सूरि आदि किसी भी उत्तरवर्ती जैन तार्किकने अनुगमन नहीं किया और न उनका उल्लेख किया है।

ध्यान रहे कि ये दोनों दशावयवोंकी मान्यताएँ श्वेताम्बर परम्परामें स्वीकृत हैं। दिगम्बर परम्पराके तार्किकोंने उन्हें प्रश्रय नहीं दिया। इसके कारण पर विचार करते हुए पं० सुखलालजी संघवीने[5] लिखा है कि 'इस तफावतका कारण दिगम्बर परम्पराके द्वारा श्वेताम्बर आगम साहित्यका परित्याग जान पड़ता है।' हमारा अध्ययन है कि दिगम्बर परम्पराके तार्किकोंने अपने तर्कग्रन्थोंमें न्याय और वैशेषिक परम्पराके पंचावयवों पर ही चिन्तन किया है क्योंकि वे ही सबसे अधिक लोकप्रसिद्ध, चर्चित और सामान्य थे। यही कारण है कि वात्स्यायन द्वारा समी-क्षित और युक्तिदीपिकाकार द्वारा प्रतिपादित जिज्ञासादि दशावयवोंकी भी उन्होंने कोई अनुकूल या प्रतिकूल चर्चा नहीं की। दूसरी बात यह है कि जिस प्रकार वात्स्यायनने[6] पाँचों अवयवोंका प्रयोजन बतलाते हुए हेतु और उदाहरणकी परि-शुद्धिका जिक्र किया है, जिसका आशय यह है कि दृष्टान्तगत साध्य-साधनधर्मोंमें *साध्यसाधनभाव व्यवस्थित हो जाने पर साधनभूत धर्मका हेतु बनानेसे वह अनु-*मेयका अव्यभिचारी होता है। तात्पर्य यह कि वात्स्यायनने निर्दोष हेतु और उदाहरणके प्रयोग द्वारा ही पक्षादि दोषपरिहार हो जानेका प्रतिपादन किया है।

---

१ प्र० न० त० स्या० रत्ना० १।४२, पृ० ५६५ ।
२ प्र० मी० स्वो० वृ० २।१।१५, पृ० ५३ ।
३ जैनतर्कभा० पृ० १६ ।
४ दशवै० नि० गा० १३७ ।
५ प्र० मी० भा० टि० पृष्ठ ९५ ।
६ न्या० भा० १।१।३९, पृ० ५४ ।

द्विलक्षण त्रिलक्षण

अक्षपाद और उनके व्याख्याता वात्स्यायन तथा उद्योतकरके उपयुक्त हेतुलक्षण विवेचनपर ध्यान देनेसे प्रतीत होता है कि उन्होंने हेतुको द्विलक्षण और त्रिलक्षण स्वीकार किया है। उद्योतकर[1] न्यायसूत्रकार और न्यायभाष्यकारके अभिप्रायका उद्घाटन करते हुए कहते हैं कि प्रतिसन्धानका अर्थ है साध्यमें व्यापकत्व और उदाहरणमें सम्भव (सत्त्व)। और इस प्रकार हेतु द्विलक्षण तथा त्रिलक्षण प्राप्त होता है। जब कहा जाता है कि उदाहरणके साथ ही साधर्म्य हो तो विपक्षको स्वीकार न करनेसे द्विलक्षण हेतु कथित होता है। और जब विपक्षको अंगीकार किया जाता है तो यह फलित होता है कि उदाहरणके साथ ही साधर्म्य हो, अनुदाहरणके साथ नहीं। तात्पर्य यह कि हेतुको साध्य (पक्ष) में व्यापक, उदाहरण (सपक्ष) में विद्यमान और अनुदाहरण (विपक्ष) में अविद्यमान होना चाहिए। और इस प्रकार त्रिलक्षण हेतु अभिहित होता है। उद्योतकरने[2] एक अन्य स्थलपर भी सूत्रकारके अनुमानसूत्रगत 'त्रिविधम्' का व्याख्यान्तर देते हुए लिङ्ग (हेतु) को प्रसिद्ध, सत् और असन्दिग्ध कहकर प्रसिद्धसे पक्षमें व्यापक, सत्से सजातीयमें रहनेवाला और असन्दिग्धसे सजातीयाविनाभावि (विपक्षव्यावृत्त) बतलाया है और इस तरह हेतुको त्रिलक्षण अथवा त्रिरूप प्रकट किया है। इससे जान पड़ता है कि न्याय परम्परामें आरम्भमें हेतुको द्विलक्षण और त्रिलक्षण माना गया है।

प्रशस्तपादने[3] काश्यपकी दो कारिकाओंको उद्धृत किया है, जिनमें लिंग और अलिंगका स्वरूप देते हुए कहा गया है कि लिंग वह है जो अनुमेयसे सम्बद्ध है, अनुमेयसे अन्वितमें प्रसिद्ध है और अनुमेयाभावमें नहीं रहता है। ऐसा लिंग अनु

---

१ साध्ये हेतु साध्योदाहरणाभ्यां प्रतिसंहितः । किं पुनरत्र [illegible] साध्ये व्यापकत्वं उदाहरणे च सम्भवः । एवं द्विलक्षणं त्रिलक्षणं च हेतुं मन्यन्ते । उदाहरणेनैव साधर्म्यमित्येवं [illegible] अनुदाहरणेनैव [illegible] उदाहरणेनैव साधर्म्यं नानुदाहरणेनेति [illegible] त्रिलक्षणो हेतुरित्युक्तं भवति ।

—न्यायवा० १।१।३४, पृ० ११६ ।

२ अथवा त्रिविधमिति लिङ्गस्य प्रसिद्धसदसन्दिग्धतामाह । प्रसिद्धमिति पक्षे व्यापकम्, सदिति सजातीयेऽस्ति, असन्दिग्धमिति सजातीयाविनाभावि ।

—न्यायवा० १।१।५ पृ० ४६ ।

३ यदनुमेयेन सम्बद्धं प्रसिद्धं [illegible]
तदभावे च नास्त्येव [illegible]
विपरीतमतो यत्स्या [illegible]
विरुद्धासिद्धसन्दिग्ध [illegible]

मेयका अनुमापक होता है। इससे विपरीत अलिंग (लिङ्गाभास) है। यहाँ 'अनुमेयसे सम्बद्धका पक्षधर्म, अनुमेयसे अन्वितमें प्रसिद्ध' का सपक्षमें विद्यमान और 'अनुमेयाभावमें नहीं रहता है' का विपक्षमें अविद्यमान अर्थ है। काश्यपके इस प्रतिपादनसे अवगत होता है कि उन्हें हेतु त्रिरूप अभिमत है। उद्योतकरने[1] न्यायवार्तिकमें एक स्थलपर 'काश्यपीयम्' शब्दके साथ कणादका संशयलक्षणवाला 'सामान्यप्रत्यक्षात्'[2] आदि सूत्र उद्धृत किया है। उद्योतकरका यह उल्लेख यदि अभ्रान्त है तो यह कहनेमें कोई संकोच नहीं कि काश्यप कणादका ही नामान्तर था, जिन्होंने वैशेषिकदर्शनका प्रणयन एवं प्रवर्तन किया है। और तब हेतुको त्रिरूप माननेका सिद्धान्त कणादका है और वह अक्षपादसे भी पूर्ववर्ती है यह दृढतापूर्वक कहा जा सकता है। प्रशस्तपादने[3] कणादका समर्थन करते हुए उसका विशदीकरण किया है।

सांख्य विद्वान् माठरने[4] भी हेतुको त्रिरूप बतलाया है।

बौद्ध तार्किक न्यायप्रवेशकारने[5] भी हेतुको त्रिरूप प्रतिपादन किया जिसका अनुसरण धर्मकीर्ति[6] प्रभृति सभी बौद्ध विचारकोंने किया है।

इस प्रकार नैयायिकों, वैशेषिकों, सांख्यों और बौद्धों द्वारा हेतुका लक्षण त्रैरूप्य माना गया है। यद्यपि हेतुका त्रैरूप्य लक्षण बौद्धोंकी ही मान्यताके रूपमें प्रसिद्ध है, नैयायिकों, वैशेषिकों और सांख्योंकी मान्यताके रूपमें नहीं। इसका कारण यह प्रतीत होता है कि त्रैरूप्य और हेतुके सम्बन्धमें जितना सूक्ष्म एवं विस्तृत विचार बौद्धतार्किकोंने किया तथा हेतुवार्तिक[7], हेतुबिन्दु जैसे तद्विषयक स्वतन्त्र ग्रन्थोंका प्रणयन किया, उतना अन्य विद्वानोंने न विचार ही किया और न कोई उस विषयकी स्वतन्त्र कृतियोंका निर्माण किया, पर उपर्युक्त अनुशीलनसे प्रकट है कि हेतुके त्रैरूप्यस्वरूपकी मान्यता वैशेषिकों, आद्य नैयायिकों और सांख्योंकी भी रही है और

---

१ न्यायवा० पृ० ९६ ।

२ वैशेषिकसू० २।१।१७ ।

३ यदनुमेयेनार्थेन सहचरितमनुमेयधर्मान्विते चान्यत्र प्रसिद्धमनुमेयविपरीते च प्रमाणतोऽसदेव तदप्रसिद्धार्थस्यानुमापकं लिङ्गं भवतीति ।
—प्रश० भा० पृ० १००, १०१

४ सांख्यका० माठरवृ० का० ५ ।

५ हेतुस्त्रिरूपः । किं पुनस्त्रैरूप्यम् ? पक्षधर्मत्वम्, सपक्षे सत्त्वम्, विपक्षे चासत्त्वमिति ।
—न्यायप्र० पृ० १ ।

६ न्यायबि० पृ० २२, २३ । हेतुबि० पृ० ५२ । तत्त्वसं० का० १३६२ आदि ।

७ न्यायवा० पृ० १२८ पर उल्लिखित ।

वह बौद्धोंकी अपेक्षा प्राय प्राचीन है। बौद्धोंमें त्रिरूप हेतुकी मान्यता सम्भवत वसुबन्धु और दिङ्नागसे आरम्भ हुई है[1]।

चतुर्लक्षण पंचलक्षण

नैयायिकोंके द्विलक्षण और त्रिलक्षण हेतुकी दो मान्यताओंका ऊपर निर्देश किया गया है। उद्योतकर[2] और वाचस्पति मिश्रके[3] उल्लेखोंसे ज्ञात होता है कि न्यायपरम्परामें चतुर्लक्षण और पंचलक्षण हेतुकी भी मान्यताएँ स्वीकृत हुई हैं। वाचस्पतिने स्पष्ट लिखा है कि दो हेतु (केवलान्वयी और केवलव्यतिरेकी) चतुर्लक्षण हैं तथा एक हेतु (अन्वयव्यतिरेकी) पंचलक्षण। जयन्तभट्टका[4] मत है कि हेतु पंचलक्षण ही होता है, अपंचलक्षण नहीं। अतएव वे केवलान्वयीको हेतु ही नहीं मानते। शंकर मिश्रने[5] हेतुकी गमकतामें जितने रूप प्रयोजक एवं उपयोगी हों उतने रूपोंका हेतुलक्षण स्वीकार किया है और इस तरह उन्होंने अन्वयव्यतिरेकी हेतुमें पाँच और केवलान्वयी तथा केवलव्यतिरेकी हेतुओंमें चार ही रूप गमकतोपयोगी बतलाये हैं। उक्त पक्षधर्मत्व, सपक्षसत्त्व और विपक्षासत्त्वमें अबाधितविषयत्वको मिलाकर चार तथा इन चारमें असत्प्रतिपक्षत्वको सम्मिलित करके पाँच रूप स्वीकार किये गये हैं। जयन्तभट्टका मत है कि गौतमने पाँच हेत्वाभासोंका प्रतिपादन किया है, अतः उनके निरासार्थ हेतुके पाँच रूप मान्य हैं[6]। वैशेषिक[7] और बौद्धोंने[8] भी हेतुके तीन रूपोंके स्वीकारका प्रयोजन अभिमत तीन हेत्वाभासों (असिद्ध, विरुद्ध और सन्दिग्ध) का निराकरण बतलाया है। यहाँ वाचस्पति[9] और जयन्तभट्टकी[10] एक नयी बात उल्लेखनीय है। उन्होंने जैन तार्किकों द्वारा अभिमत हेतुके एकलक्षण अविनाभावके महत्त्व एवं अनिवार्यताको

---

१ वाचस्पतिमिश्र, न्यायवा० ता० टी० १।१।३५, पृ० २८९। तथा पृ० १८०।

२ पक्षधर्मत्व सपक्षासत्त्वाविरुद्ध केवलं चतुर्लक्षणं पंचलक्षणानुमानमिति।
—न्यायवा० १।१।५, पृ० ४६।

३ तत्र चतुर्लक्षणं द्वयम्। एकं पंचलक्षणमिति।
—न्याय० वा० ता० टी० १।१।५ पृ० १७४।

४ केवलान्वयी हेतुर्नास्त्येव अपंचलक्षणस्य हेतुत्वाभावात्।
—न्यायकलि० पृ० २७।

५ वैशे० उप० पृ० ६७।

६ जयन्तभट्ट, न्यायकलि० पृ० १४।

७ वैशे० सू० ३।१।१५। प्रश० भा० पृ० १००।

८ न्यायप्र० पृ० ३। प्रमाणवा० १।१७।

९ अव्यभिचारित्वं पंचसु चतुर्षु वा रूपेषु समाप्यते इत्यविनाभावेनैव सर्वाणि लिंगरूपाणि संगृह्यन्ते, तथापि ... अविनाभावसम्पादकानि रूपाणि संगृह्यन्ते।
— न्यायवा० ता० टी० १।१।५ पृ० १७८।

१० एतेषु पंचसु रूपेषु अविनाभावः समाप्यते। —न्यायकलि० २।

स्वीकार कर उसे पंचलक्षणमें समाप्त माना है। अर्थात् उसे पंचलक्षणरूप प्रकट किया है। वाचस्पति तो यह भी कहते हैं कि एक अविनाभावके द्वारा ही हेतुके पाँचों रूपोंका संग्रह हो जाता है। उनके इस कथनसे अविनाभावका महत्त्व स्पष्ट प्रतीत होता है। पर वे उसे तो त्याग देते हैं, किन्तु पंचलक्षण या चार लक्षण-वाली अपनी न्यायपरम्पराके मोहको नहीं छोड सके। इस अध्ययनमें स्पष्ट है कि न्यायपरम्परामें हेतुस्वरूपकी द्विलक्षण, त्रिलक्षण, चतुर्लक्षण और पंचलक्षण ये चार मान्यताएँ रही हैं। उनका कोई एक निश्चित पक्ष रहा हो, ऐसा ज्ञात नहीं होता। पर हाँ, पाँचरूप्य हेतुलक्षण उत्तरकालमें अधिक मान्य हुआ और उसीकी मीमांसा अन्य तार्किकोंने की है।

मीमांसक विद्वान् शालिकानाथने[1] त्रिलक्षण हेतुका निर्देश किया है। पर उनके त्रिलक्षण अन्य दार्शनिकोंके त्रिलक्षणोंसे भिन्न हैं और वे इस प्रकार हैं—(१) नियतसम्बन्धैकदर्शन, (२) सम्बन्धनियमस्मरण और (३) अबाधितविषयत्व।

षड्लक्षण

धर्मकीर्तिने[2] हेतुबिन्दुमें नैयायिकों और मीमांसकोंकी किसी मान्यताके आधार-पर हेतुके षड्लक्षणका निर्देश किया है। इन षड्लक्षणोंमें—(१) पक्षधर्मत्व, (२) सपक्षसत्त्व, (३) विपक्षासत्त्व, (४) अबाधितविषयत्व, (५) विवक्षितैकसंख्यत्व और (६) ज्ञातत्व ये छह रूप हैं। यद्यपि यह षड्लक्षण हेतुकी मान्यता न नैयायिकोंके यहाँ उपलब्ध होती है और न मीमांसकोंके यहाँ। फिर भी सम्भव है किसी नैयायिक और मीमांसकका हेतुको षड्लक्षण माननेका पक्ष रहा हो और उसीका उल्लेख धर्मकीर्ति तथा उनके टीकाकार अर्चटने किया हो। हमारा विचार है कि प्राचीन नैयायिकोंने जो ज्ञायमान लिङ्गको और भाट्टमीमांसकोंने ज्ञातताको अनुमितिमें करण कहा है और जिसका उल्लेख करके समालोचन विश्वनाथ पंचाननने[3] किया है, सम्भव है धर्मकीर्ति और अर्चटने उसीका निर्देश किया है।

---

१ तस्मात्पूर्णमिदमनुमानकारणपरिगणनम्—नियतसम्बन्धैकदर्शनं सम्बन्धनियमस्मरणं चाबाधकत्वं चाबाधितविषयत्वं चेति।

—प्रकर० पंचि० पृ० २१२।

२ (क) षड्लक्षणो हेतुरित्यपरे। त्रीणि चैतानि अबाधितविषयत्वं विवक्षितैकसंख्यत्वं ज्ञातत्वं च।

—हेतुबि० पृ० ६८।

(ख) षड्लक्षणो हेतुरित्यपरे नैयायिकमीमांसकादयो मन्यन्ते।

—अर्चट, हेतुबि० टी० पृ० २०५।

३ (क) प्राचीनास्तु व्याप्यत्वेन ज्ञायमानं लिंगमनुमितिकरणमिति वदन्ति।

—सिद्धान्तमु० का० ६७, पृ० ५०।

(ख) भाट्टानां मते ज्ञानमतीन्द्रियम्। ज्ञानजन्या ज्ञातता तया ज्ञानमनुमीयते।

—वही, पृ० ११९।

सप्तलक्षण

जैन तार्किक वादिराजने[1] न्यायविनिश्चयविवरणमें हेतुकी एक सप्तलक्षण मान्यताका भी सूचन करके उसकी समीक्षा की है। उनके अनुसार सप्तलक्षण इस प्रकार है—(१) अन्यथानुपपन्नत्व, (२) ज्ञातत्व, (३) अबाधितविषयत्व, (४) असत्प्रतिपक्षत्व और (५-७) पक्षधर्मत्वादि तीन। पर यह मान्यता किसकी है यह उन्होंने नहीं बतलाया और न अन्य साधनोंसे ज्ञात हो सका।

जैन तार्किकों द्वारा स्वीकृत हेतुका एकलक्षण : अन्य लक्षण-समीक्षा

जैन विचारकोंने हेतुका स्वरूप एकलक्षण स्वीकार किया है, जो अविनाभाव या अन्यथानुपपत्तिरूप है और जिसकी मीमांसा उद्योतकर[2] (ई० ६००) तथा शान्तरक्षित[3] (ई० ७०५-७६३) ने की है। उसका मूल स्वामी समन्तभद्रकी आप्तमीमांसागत 'अविरोधत'[4] पदमें सन्निहित है। उनके व्याख्याकार अकलङ्कदेवने[5] उस 'एकलक्षण' हेतुका प्रतिपादन किया है। विद्यानन्दने[6] भी उस हेतुलक्षण प्रकाशक बतलाया है।

समन्तभद्रके पश्चात् पात्रस्वामीने स्पष्टतया हेतुका लक्षण एकमात्र 'अन्यथानुपपन्नत्व' (अविनाभाव) प्रतिपादित किया और त्रैरूप्यकी समीक्षा की है, जिसका विस्तृत उद्धरण पात्रस्वामीके मतके रूपमें शान्तरक्षितने[7] तत्त्वसंग्रहमें उन

---

१ अन्यथानुपपन्नत्वाभिमतत्वतुमि [illegible] सप्तलक्षणो हेतुरिति केचित् [illegible]
—न्यायवि० वि० २।१५५, पृ० १७८-१८०।

२ (क) एतेन नाङ्गान्तराविनाभाविधर्मोपदर्शनं हेतुरिति प्रत्युक्तम्।
—न्यायवा० १।१।५, पृ० ५८।
(ख) साध्यं विना न विपर्ययोपदर्शनं हेतुरित्यपर साध्यं विना न भवति।
—वही १।१।३५, पृ० १३१।

३ तत्त्वसं० का० १३६४-१३७१।

४ सधर्मेणैव साध्यस्य साधर्म्यादविरोधतः।
—आप्तमी० का० १०६।

५ सपक्षेणैव साध्यस्य साधर्म्यादित्यनेन हेतोस्त्रैलक्षण्यं, अविरोधादित्यन्यथानुपपत्तिं च दर्शयता केवलस्य त्रिलक्षणस्यासाधनत्वमुक्तं तत्पुत्रत्वादिवत्। एकलक्षणस्य तु गमकत्वं [illegible] इति अन्यथानुपपत्त्यैव गमकत्वम्।
—अष्टश० अष्टस० पृ० २८९, आ० मी० का० १०६।

६ स्याद्वादो हि हेतुलक्षणं प्रकाशयति।
—अष्टस० पृ० २८९, आ० मी० का० १०६।

७ तत्त्वसं० का० १३६४-१३७९।

लब्ध है। आचार्य अनन्तवीर्यके[1] उल्लेखानुसार पात्रस्वामीने 'अन्यथानुपपन्नत्व' को हेतुलक्षण सिद्ध करने और त्रैरूप्यका निरसन करनेके लिए 'त्रिलक्षणकदर्थन' नामक महत्त्वपूर्ण तर्कग्रन्थ रचा था, जो आज अनुपलब्ध है और जिसके अस्तित्व का मात्र उल्लेख मिलता है। पात्रस्वामीके उक्त हेतुलक्षणका परवर्ती सिद्धसेन[2], अकलङ्क[3], कुमारनन्दि[4], वीरसेन[5], विद्यानन्द[6] आदि जैन तार्किकोंने अनुसृत एवं विस्तृत किया है।

पात्रस्वामीका मन्तव्य है कि जिसमें अन्यथानुपपन्नत्व (अन्यथा—साध्यके अभावमें अनुपपन्नत्व—नहीं होना, अविनाभाव) है वह हेतु है, उसमें त्रैरूप्य रहे, चाहे न रहे, तथा जिसमें अन्यथानुपपन्नत्व नहीं है वह हेतु नहीं है उसमें त्रैरूप्य रहनेपर भी वह बेकार है। इन दोनों (अन्यथानुपपन्नत्वके सद्भाव और असद्भाव) स्थलोंके यहाँ दो उदाहरण प्रस्तुत है—

(१) एक मुहूर्तके बाद शकट नक्षत्रका उदय होगा, क्योंकि कृत्तिकाका उदय है। इस सद्-अनुमानमें कृत्तिकोदय हेतु रोहिणी नामक पक्षमें नहीं रहता, अतः पक्षधर्मत्व नहीं है। पर कृत्तिकोदयका शकटोदय साध्यके साथ अन्यथानुपपन्नत्व होनेके कारण वह गमक है और सद्धेतु है।

(२) गर्भस्थ मैत्रीपुत्र श्याम होगा, क्योंकि वह मैत्रीका पुत्र है, अन्य पुत्रोंकी तरह। इस असद् अनुमानमें पक्षधर्मत्व, सपक्षसत्त्व और विपक्षासत्त्व तीनों हैं। परन्तु तत्पुत्रत्वका श्यामत्वके साथ अविनाभाव नहीं है और इसलिए तत्पुत्रत्व हेतु श्यामत्वका गमक नहीं है और न सद्धेतु है।

फलतः सर्वत्र हेतुओंमें अन्यथानुपपन्नत्वके सद्भावसे गमकता और असद्भावसे अगमकता है। पात्रस्वामीके इस मतको यहाँ तत्त्वसंग्रहसे उद्धृत किया जाता है—

अन्यथेत्यादिना पात्रस्वामिमतमाशङ्कते—

अन्यथानुपपन्नत्वे ननु दृष्टा सुहेतुता।

नासति त्र्यंशकस्यापि तस्मात्क्लीबास्त्रिलक्षणाः॥

अन्यथानुपपन्नत्वं यस्यासौ हेतुरिष्यते।

एकलक्षणकः सोऽर्थश्चतुर्लक्षणको न वा॥

---

१ अनन्तवीर्य, सिद्धिवि० ६।२, पृष्ठ ३७१-३७२।

२ न्यायाव० का० २२।

३ न्यायवि० का० २।१५४, १५५ पृ० १७७।

४ प्रमाणप० पृ० ७२ में विद्यानन्दद्वारा उद्धृत कुमारनन्दिका 'अन्यथानुपपत्त्येकलक्षणं'—वाक्य।

५ षट्खं० टी० धवला ५।५।५, पृ० २८० तथा ५।५।४३ पृ० २४५।

६ प्रमाणप० पृ० ७२। त० श्लो० वा० १।१३।१९३, पृ० २०५।

नान्यथानुपपन्नत्वं यत्र तत्र त्रयेण किम् ।
अन्यथानुपपन्नत्वं यत्र तत्र त्रयेण किम् ॥
तैकलक्षणो हेतु प्राधान्याद् गमकोऽस्तु न ।
पक्षधर्मत्वादिभिरन्यैः किं व्यर्थैः परिकल्पितैः ॥[1]

उत्थानिकावाक्य सहित इन कारिकाओंसे विदित है कि पात्रस्वामीने हेतुका लक्षण अन्यथानुपपन्नत्व माना है।

कुमारनन्दि भट्टारकने[2] भी अन्यथानुपपत्तिरूप एकलक्षणको ही लिंगका स्वरूप स्वीकार किया है। सिद्धसेनने[3] अन्यथानुपपन्नत्वको हेतुलक्षण माननेकी जैन तार्किकोंकी प्रसिद्धिको बतलाते हुए उसे ही हेतुलक्षण अंगीकार किया है। विशेष यह कि उन्होंने[4] हेतुका साध्याविनाभावी कहकर अविनाभावको अन्यथानुपपन्नत्वका पर्याय प्रकट किया है जिसका उल्लेख समन्तभद्र[5] पहले ही कर चुके थे। अकलङ्कने[6] सूक्ष्म और विस्तृत विचारणाद्वारा पात्रस्वामीके उक्त हेतुलक्षणको पुष्ट किया है। न्यायविनिश्चय[7] और प्रमाणसंग्रहमें[8] 'प्रकृताभावेऽनुपपन्नं साधनं' अर्थात् जो साध्यके अभावमें न हो वह साधन है। और लघीयस्त्रयमें[9] '*लिङ्गात्साध्याविनाभावाभिनिबोधैकलक्षणात्*' अर्थात् साध्यके साथ जिसका अविनाभाव निश्चित है वह लिंग है यह कह कर उन्होंने अन्यथानुपपन्नत्व अथवा अविनाभावको ही हेतुलक्षण समर्थित किया है। न्यायविनिश्चयमें[10] एक स्थलपर पात्रस्वामीकी 'अन्यथा

---

1 तत्त्वसं० का० १३६४, १३६५, १३६६, १३७१, पृ० ४०५-४०७।

2 अन्यथानुपपत्त्येकलक्षणं लिङ्गमभ्यधात् ।
—उद्धृत प्रमाणप० पृ० ७२ ।

3 अन्यथानुपपन्नत्वं हेतोर्लक्षणमीरितम् ।
—न्यायाव० का० २२ ।

4 साध्याविनाभुवो हेतो ।
—वही, का० १३ ।
साध्याविनाभुवो लिङ्गात् ।
—वही, का० ५ ।

5. आप्तमी० का० १७, १८, ७५ ।

6 न्यायवि० का० ३२३ ।

7 न्यायवि० का० २६९, अकलङ्कग्र० पृ० ६६ ।

8 प्र० सं० का० २१, अकलङ्कग्र० पृ० १०२ ।

9 (क) लघीय० का० १२, अकलङ्कग्र० पृ० ५ ।
(ख) साध्याविनाभावाभिनिबोधैकलक्षणो हेतुः ।
—प्रमाणसं० स्वो० वृ० का० २१, अकलङ्कग्र० पृ० १०२ ।
(ग) [illegible]
[illegible]
—[illegible] पृ० २८८, आ० मी० का० १०६ ।

10 न्या० वि० का० ३२३ ।

नुपपन्नत्व' कारिकाको उसकी ३२३ वी कारिकाके रूपमे प्रस्तुत करके उसे ग्रन्थका ही अग बना लिया है। जहा अन्यथानुपपन्नत्व नही है उन्हें वे[1] हेत्वाभास बतलाते है और इस तरह परकल्पित स्वभावादि, वीतादि, सयोग्यादि और पूर्ववदादि हेतुओंको उन्होंने अन्यथानुपपन्नत्वके सद्भावमें हेतु और असद्भावमें हेत्वाभास घोषित किया है। तात्पर्य यह कि अकलक भी अन्यथानुपपन्नत्व अथवा अविनाभावको हेतुका प्रधान और एकलक्षण मानते हैं। तथा त्रिलक्षणोंको उसके बिना अनुपयोगी, व्यर्थ और अकिंचित्कर प्रतिपादन करते हैं।[2]

धर्मकीर्तिने[3] भी यद्यपि अविनाभावको स्वीकार किया है पर वे उसे उक्त पक्षधर्मत्वादि तीन रूपो तथा स्वभाव, *कार्य और अनुपलब्धि* इन तीन हेतुभेदोंमें ही सीमित प्रतिपादित करते हैं। अकलकने[4] उनके इस मतकी आलोचना करते हुए कहा है कि कितने ही हेतु ऐसे हैं जिनमें न पक्षधर्मत्वादि है और न वे उक्त तीन हेतुओंके अतर्गत है। पर उनमें अविनाभाव पाया जाता है। यथा[5]—

(१) मुहूर्त्तान्तमें शकटका उदय होगा, क्योंकि कृत्तिकाका उदय है।

यहा कृत्तिकाका उदय हेतु पक्ष—शकटमें नही रहता, अत उसमें पक्षधर्मत्व नहीं है। कोई सपक्ष न होनेसे सपक्षसत्त्व भी नही है। इसी प्रकार कृत्तिकाका उदय शकटोदयका न स्वभाव है और न कार्य। तथा उपलम्भरूप होनेसे उसके अनुपलम्भ होनेका प्रश्न ही नही उठता। अत केवल अविनाभावके बलसे वह अपने उत्तरवर्ती शकटोदयका गमक है।[6]

(२) कल प्रात सूर्यका उदय होगा, क्योंकि आज उसका उदय है।

यहाँ आजका सूर्योदय कलके प्रात कालीन सूर्यमें नही रहता, अत पक्षधर्मत्व

---

१ न्या० वि० का० ३४३ अकलंकग्र० पृ० ७६।

२ न्या० वि० का० ३७०, ३७१, पृ० ७९।

३ हेतुबि० पृ० ५४।

४ लघीय० का० १३ १४, न्यायवि० का० ३३८ ३३९।

५ भविष्यत् प्रतिपद्येत शकटं कृत्तिकोदयात्। श्व आदित्य उदेतेति ग्रहणं वा भविष्यति॥
—लघीय० का० १४।

६ शकटं रोहिणी धर्मी मुहूर्तान्ते भविष्यदुदेष्यतीति साध्यधर्म, कुत ? कृत्तिकोदयादिति साधनम्। न खलु कृत्तिकोदय शकटोदयस्य कार्यं स्वभावो वा, केवलम् अविनाभावबलाद् गमयत्येव स्वोत्तरम्।—तथा श्व प्रात आदित्य सूर्य उदेता उदेष्यति अद्यादित्योदयादिति प्रतिपद्येत। तथा श्वो ग्रहण राहुग्रासो भविष्यति एवंविधपञ्चाङ्गात् इति वा प्रतिपद्येत तत्राप्यव्यभिचारात्।
—अभयचन्द्रसूरि, लघीय० ता० वृ० पृ० ११।

नहीं है। इसीतरह यह प्रातःकालीन सूर्योदयका न स्वभाव है और न कार्य। मात्र अविनाभावके कारण वह गमक है।

(३) ग्रहण पड़ेगा, क्योंकि अमुक फल है।

यहाँ भी न पक्षधर्मत्वादि है और न स्वाभावादि हेतु। केवल हेतु स्वसाध्यका अविनाभावी होनेसे उसका अनुमापक है।

अतः हेतुका त्रैरूप्य और त्रैविध्यका नियम निर्दोष नहीं है। पर अविनाभाव ऐसा व्यापक और अव्यभिचारी लक्षण है जो समस्त सद्धेतुओंमें पाया जाता है तथा असद्धेतुओंमें नहीं। इसके अतिरिक्त उसके द्वारा समस्त सद्धेतुओंका संग्रह भी हो जाता है। सम्भवतः इसीसे अकलङ्कदेवने पात्रस्वामीकी उक्त 'अन्यथानुपपन्नत्व' कारिकाको अपनाकर अन्यथानुपपन्नत्व' को ही हेतुका अव्यभिचारी और प्रधान लक्षण कहा है। अपि च[1] 'समस्त पदार्थ क्षणिक हैं, क्योंकि वे सत् हैं' इस अनुमानमें प्रयुक्त सत्त्व हेतुका सपक्षसत्त्वके अभावमें भी गमक माना गया है। स्पष्ट है कि सबका पक्ष बना लेने पर सपक्षका अभाव होनेसे सपक्षसत्त्व नहीं है। अतएव अविनाभाव तादात्म्य और तदुत्पत्ति सम्बन्धोंसे नियन्त्रित नहीं है, प्रत्युत वे अविनाभावसे नियन्त्रित हैं। अविनाभावका नियामक केवल सहभावनियम और क्रमभावनियम है[2]। सहभावनियम कहीं तादात्म्यमूलक होता है और कहीं उसके बिना केवल सहभावमूलक। इसी तरह क्रमभावनियम कहीं कार्यकारणभाव (तदुत्पत्ति) मूलक और कहीं मात्र क्रमभावमूलक होता है। उदाहरणार्थ पूर्वचर[3], उत्तरचर[4], सहचर[5] आदि हेतु हैं जिनमें न तादात्म्य है और न तदुत्पत्ति। पर मात्र क्रमभावनियम रहनेसे पूर्वचर तथा उत्तरचर और सहभावनियम होनेसे सह-चर हेतु गमक हैं।

वीरसेन[6] भी हेतुको साध्याविनाभावी और अन्यथानुपपत्त्येकलक्षण मान-

---

१ वादवि० भा० १८१, अष्टस० पृ० ८०।

२ परीक्षामु० ३।१६, १७, १८।

३,४ सिद्धिवि० ६।१६, प्रमाणप० पृ० ७४।

५ सिद्धिवि० ६।२८, न्यायवि० का० ३३८, ३३९। प्र० प०, पृ० ७४।

६ हेतुः साध्याविनाभावि लिङ्गं अन्यथानुपपत्त्येकलक्षणम् ।

—धवला० टी० ५।५।५०, पृ० २८७।

[illegible] अन्यथानुपपत्त्येक[illegible] [illegible] [illegible] अविनाभाव [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible]

बतलाया है। तथा पक्षधर्मत्वादिको हेतुलक्षण माननेमें अतिव्याप्ति और अव्याप्ति दोनों दोष दिखाये हैं। जैसे—(१) ये आम्रफल पक्व हैं, क्योंकि एकशाखाप्रभव हैं, उपयुक्त आम्रफलकी तरह। (२) वह श्याम है, क्योंकि उसका पुत्र है, अन्य पुत्रोंकी तरह। (३) वह भूमि समस्थल है, क्योंकि भूमि है समस्थलरूपसे प्रसिद्ध भूभागकी तरह। (४) वज्र लोहलेख्य है, क्योंकि पार्थिव है, काष्ठकी तरह, इत्यादि हेतु त्रिलक्षण होनेपर भी अविनाभावके न होनेसे साध्यकी सिद्धि करनेमें समर्थ नहीं हैं। इसके विपरीत अनेक हेतु ऐसे हैं जो त्रिलक्षण नहीं हैं पर अन्यथानुपपत्तिमात्रके सद्भावसे गमक हैं। यथा—(१) विश्व अनेकान्तात्मक है, क्योंकि वह सत्स्वरूप है। (२) समुद्र बढ़ता है, क्योंकि चन्द्रकी वृद्धि अन्यथा नहीं हो सकती। (३) चन्द्रकान्तमणिसे जल झरता है, क्योंकि चन्द्रोदयकी उपपत्ति अन्यथा नहीं बन सकती। (४) रोहिणी उदित होगी, क्योंकि कृत्तिकाका उदय अन्यथा नहीं हो सकता। (५) राजा मरनेवाला है, क्योंकि रात्रिमें इन्द्रधनुषकी उत्पत्ति अन्यथा नहीं हो सकती। (६) राष्ट्रका भंग या राष्ट्रपतिका मरण होगा, क्योंकि प्रतिमाका रुदन अन्यथा नहीं हो सकता। इत्यादि हेतुओंमें पक्षधर्मत्वादि त्रैरूप्य नहीं हैं फिर भी वे अन्यथानुपपन्नत्वमात्रके बलसे साध्यके साधक हैं। अतः 'इदमन्तरेण इदमनुपपन्नम्'—'इसके बिना यह नहीं हो सकता' यही एक लक्षण लिंगका है। अपने इस निरूपणकी पुष्टिमें वीरसेनने पात्रस्वामीका पूर्वोक्त 'अन्यथानुपपन्नत्वम्' आदि श्लोक भी प्रमाणरूपमें प्रस्तुत किया है।

विद्यानन्दको[1] विशेषता यह है कि उन्होंने अन्यथानुपपन्नत्व अथवा अविनाभावको हेतुलक्षण माननेके अतिरिक्त धर्मकीर्तिके इस त्रैरूप्यसमर्थनकी भी समीक्षा की है जिसमें धर्मकीर्तिने[2] असिद्धके निरासके लिए पक्षधर्मत्व, विरुद्धके व्यवच्छेदके लिए सपक्षसत्त्व और अनैकान्तिकके निराकरणके लिए विपक्षासत्त्वकी सार्थकता प्रदर्शित की है। विद्यानन्दका कहना है कि अकेले अन्यथानुपपत्तिके सद्भावसे ही उक्त तीनों दोषोंका परिहार हो जाता है[3]। जो हेतु असिद्ध, विरुद्ध या अनैकान्तिक

अत्रिलक्षणान्यपि साध्यसिद्धये प्रभवन्ति। तत इदमन्तरेण इदमनुपपन्नमितीदमेव लक्षणं लिंगस्येति।

—षट्० धव०, ५।५।४३, पृ० २४५, २४६।

१ तत्र साधनं साध्याविनाभावनियमनिश्चयैकलक्षणं लक्षणान्तरस्य साधनाभासेऽपि भावात्। त्रिलक्षणस्य साधनस्य साधनत्वानुपपत्तेः, पंचादिलक्षणवत्।

—प्रमाणप० पृ० ७०।

२ हेतोस्त्रिष्वपि रूपेषु निर्णयस्तेन वर्णितः।
असिद्धविपरीतार्थव्यभिचारिविपक्षतः॥

—प्रमाणवा० १।१७।

३ प्रमाणप० पृ० ७२।

होगा उसमें अन्यथानुपपत्ति रहती ही नहीं—साध्यके होनेपर ही होनेवाले और साध्यके अभावमें न होनेवाले साधनमें ही वह पायी जाती है। सच तो यह है कि जो हेतु अन्यथा उपपन्न है या साध्याभावके साथ ही रहता है या साध्याभावमें भी विद्यमान रहता है वह अन्यथानुपपन्न—साध्यके होनेपर ही होनेवाला और साध्यक अभावमें न होनेवाला कैसे कहा जा सकता है। अत एक अन्यथानुपपन्नत्वलक्षणसे ही जब उक्त तीनों दोषोंका परिहार सम्भव है तब उनके व्यवच्छेदके लिए हेतुके तीन लक्षणोंका मानना व्यर्थका विस्तार है।

इसी सन्दर्भमें विद्यानन्दने[1] उद्योतकर, वाचस्पति और जयन्तभट्टद्वारा स्वीकृत हेतुके पाच रूपोंकी भी मीमासा करते हुए प्रतिपादन किया है कि अविनाभावि हेतुके प्रयोग और प्रत्यक्षाद्यविरुद्ध साध्यके निर्देशसे ही उक्त असिद्धादि तीन दोषोंके साथ बाधितविषय और सत्प्रतिपक्ष हेतुदोषोंका भी निरास हो जाता है। अत उनके निराकरणके लिए पक्षव्यापकत्व, अन्वय, व्यतिरेक, अबाधितविषयत्व और असत्प्रतिपक्षत्व इन पाँच हेतुरूपोंको मानना व्यर्थ और अनावश्यक है। हाँ, उन्हें अविनाभावनियमका प्रपच कहा जा सकता है। पर आवश्यक और उपयोगी एक मात्र अविनाभाव ही है, जिसे उन्हें भी मानना पडता है। यथार्थमें जो हेतु बाधित विषय या सत्प्रतिपक्ष होगा, उनमें अविनाभाव नहीं रह सकता। अत यदि असाधारण लक्षण कहना है तो अन्यथानुपपन्नत्वको ही हेतुका असाधारण लक्षण स्वीकार करना उचित एव न्याय्य है। विद्यानन्दने पात्रस्वामीके त्रैरूप्यखण्डनके अनुकरण पर पाँचरूप्यके खण्डनके लिए भी अधोलिखित कारिकाका निर्माण किया है—

> अन्यथानुपपन्नत्व रूपै किं पचभि कृतम्।
> नान्यथानुपपन्नत्व रूपै किं पचभि कृतम्॥[2]

जहाँ अन्यथानुपपन्नत्व है वहाँ पाँच रूपोंकी क्या आवश्यकता है? और जहाँ अन्यथानुपपन्नत्व नहीं है वहा पाँच रूप रहकर भी क्या कर सकते हैं? तात्पर्य यह कि अन्यथानुपपन्नत्वके अभावमें पाँच रूप अप्रयोजक हैं।

विद्यानन्दके उत्तरवर्ती वादिराज भी उनकी तरह पाँचरूप्य हेतुकी समीक्षा करते हुए अन्यथानुपपत्तिको ही हेतुका प्रधान लक्षण प्रतिपादन करते हैं—

> अन्यथानुपपत्तिश्चेत् पाँचरूप्येण किं फलम्।
> विनाऽपि तेन तन्मात्रात् हेतुभावावकल्पनात्॥
> नान्यथानुपपत्तिश्चेत [illegible] फलम्।
> [illegible]॥

१ प्रमाणप[illegible] पृ०

२ वही, पृ० ७२।

अन्यथानुपपत्तिश्चेत् पाँचरूप्येऽपि कल्प्यत।
पाड्रूप्यात् पचरूपत्वनियमो नावतिष्ठते॥
पाँचरूप्यात्मिकेवेय नान्यथानुपपन्नता।
पक्षधर्मत्वाद्यभावेऽपि चास्या सत्त्वोपपादनात्॥[1]

'सहस्रमें सौ' के न्यायानुसार उनकी त्रैरूप्य समीक्षा इसी पाचरूप्य-समीक्षामें आ जानेसे उसका पृथक् उल्लेख करना अनावश्यक है।

इसी परिप्रेक्ष्यमें वादीभसिंह[2] का भी मन्तव्य उल्लेखनीय है। वे कहते हैं कि तथोपपत्ति ही अन्यथानुपपत्ति है। और उसे ही हम अन्तर्व्याप्ति मानते तथा हेतुका स्वरूप स्वीकार करते हैं। इस अन्तर्व्याप्तिके बलपर ही हेतु साध्यका गमक होता है, बहिर्व्याप्ति या सकलव्याप्तिरूप त्रैरूप्य या पाचादिरूप्यके बलपर नही। यही कारण है[3] कि तत्पुत्रत्वादि हेतुओमें पक्षधर्मत्वादि रहनेपर भी अन्तर्व्याप्तिके अभावमे उनमें गमकता नही है। और कृत्तिकोदय हेतु पक्षधर्मत्वरहित होनेपर भी अन्तर्व्याप्तिके रहनेसे अपने साध्य शकटोदयका प्रसाधक होता है। इसी तरह 'अद्वैतवादीके भी प्रमाण है, क्योकि वह इष्टका साधन और अनिष्टका दूषण अन्यथा नही कर सकता' इस अनुमानमें हेतु पक्षमें नही रहता फिर भी वह साध्यका अविनाभावी होनसे गमक है। इस प्रकार वादीभसिंहने अन्यथानुपपत्तिको ही हेतुका स्वरूप प्रतिपादित किया तथा त्रैरूप्य एव पाचरूप्य आदिको अव्याप्त और अतिव्याप्त बतलाया है।

माणिक्यनन्दिका[4] भी यही विचार है। जिसका साध्याविनाभाव निश्चित है उसे वे हेतु कहते हैं। और इस प्रकारका हेतु ही उनके मतसे साध्यका गमक होता है। उन्होंने अविनाभावका नियामक बौद्धाकी तरह तदुत्पत्ति और तादात्म्यको न बतला कर सहभावनियम और क्रमभावनियमको बतलाया है, क्योकि जिनमें तदुत्पत्ति या तादात्म्य नही है उनमें भी क्रमभावनियम अथवा सहभावनियमके रहनेसे अविनाभाव प्रतिष्ठित होता है और उसके बलपर हेतु साध्यका अनुमापक होता

---

१ न्यायवि० वि० २।१७४, पृ० २१०।

२ तथोपपत्तिरेवेयमन्यथानुपपन्नता। सा च हेतो स्वरूप तद् अन्तर्व्याप्तिश्च विद्धि न॥
—स्या० सि० ४-७८, ७९।

३ कि च पक्षादिधर्मत्वेऽप्यन्तर्व्याप्तेरभावत। तत्पुत्रत्वादिहेतूना गमकत्वं न दृश्यते॥
पक्षधर्मत्वहीनोऽपि (गमक कृत्तिको) दय। अन्तर्व्याप्तेरत सैव गमकत्वप्रसाधिनी॥
पक्षधर्मत्व वैकल्येऽप्यन्यथानुपपत्तिमान्। हेतुरव, यथा सन्ति प्रमाणानीष्टसाधनात्॥
—वही, ४।८२ ८३ ८४, ८७, ८८।

४ साध्याविनाभावित्वेन निश्चितो हेतु।
—प० मु० ३।१५।

है। उदाहरणस्वरूप भरणि और कृत्तिकोदयमें न तदुत्पत्ति सम्बन्ध है और न तादात्म्य। पर उनमें क्रमभावनियमके होनेसे अविनाभाव है और उसके बलसे कृत्तिकोदय हेतु भरणिके उदयरूप साध्यका गमक होता है। इसी प्रकार रूप और रसमें तादात्म्य और तदुत्पत्ति दोनों नहीं हैं। परन्तु उनमें सहभावनियमके सद्भावसे अविनाभाव है तथा उसके बलसे रस रूपका या एकाम नामका और अर्वाग्भाग परभागका अनुमापक है। माणिक्यनन्दिकी[1] यह सहभाव और क्रमभाव नियमकी परिकल्पना इतनी सगत, निर्दोष और व्यापक है कि समस्त सद्धेतु इन दोनोंके द्वारा सग्रहीत एवं केन्द्रित हो जाते हैं और असद्धेतु निरस्त, जब कि तादात्म्य और तदुत्पत्तिद्वारा पूर्वचर, उत्तरचर, सहचर आदि हेतुओंका सग्रह नहीं होता।

प्रभाचन्द्र[2], अनन्तवीर्य[3], अभयदेव[4], देवसूरि[5], हेमचन्द्र[6], धर्मभूषण[7], यशोविजय[8], चारुकीर्ति[9] आदि तार्किकोंने भी त्रैरूप्य और पाञ्चरूप्यकी मीमांसा करते हुए अन्यथानुपपत्तिको ही हेतुका असाधारण एवं प्रधान लक्षण बतलाया है और उसीके द्वारा त्रिविध और पञ्चविध आदि हेत्वाभासोंका निरास किया है। जब हेतुको अन्यथानुपपन्न कहा जाता है तो वह साध्यके साथ अवश्य सम्बद्ध रहेगा, उसके बिना वह उपपन्न नहीं होगा और न साध्याभावके साथ रहेगा। इस तरह असिद्ध, विरुद्ध और अनैकान्तिक इन तीन दोषोंका परिहार हो जाता है। तथा जब शक्य (अबाधित), इष्ट और अप्रसिद्ध साध्य[10] का निर्देश किया जायगा, जो हेतुका विषय होता है, उससे विपरीत बाधित, अनिष्ट और प्रसिद्धरूप साध्या

---

१ सहक्रमभावनियमोऽविनाभाव।
सहचारिणोर्व्याप्यव्यापकयोश्च सहभाव।
पूर्वोत्तरचारिणो कार्यकारणयोश्च क्रमभाव।
—परीक्षामु० ३।१६ १७, १८।

२ प्रमेयक० मा० ३।१५।

३ प्रमेयर० मा० ३।११। पृ० १४७ १४४।

४ सन्मति० टी०।

५ प्र० न० त० ३।११, १२, १३।

६ प्र० मी० १।२।९,१०।

७ न्या० दी० पृ० ८३।

८ जैन तर्कभा० पृ० १२।

९ प्रमेयरत्नालं० ३।१५।

१० साध्यं शक्यमभिप्रेतमप्रसिद्धं ततोऽपरम्।
साध्याभास विरुद्धादि साधनाविषयत्वत।
—अकलंक न्या० वि० का० १७२।

भास नहीं, तो हेतु बाधितविषय कैसे हो सकता है, जिसके निरासके लिए हेतुका अबाधितविषयत्व नामक चतुर्थ रूप कल्पित किया जाए। सच तो यह है कि अविनाभावी हेतुमें बाधाकी सम्भावना ही नहीं है, क्योंकि बाधा और अविनाभावमें विरोध है।[1] प्रमाण प्रसिद्ध अविनाभाववाले हेतुका समानबलशाली कोई प्रतिपक्षी हेतु भी सम्भव नहीं है, अतः हेतुका असत्प्रतिपक्षत्व नामका पाँचवाँ रूप भी निरर्थक है।

हम ऊपर षड्लक्षण हेतुका निर्देश कर आये हैं। उनमें एक नया रूप ज्ञातत्व है, जिसका अर्थ है हेतुका ज्ञात होना। पर उसे पृथक् रूप मानना अनावश्यक है, क्योंकि हेतु ज्ञात ही नहीं, अविनाभावी रूपमें निश्चित होकर ही साध्यका अनुमापक होता है, अनिर्णीत नहीं, यह तो हेतुके लिए आवश्यक और प्राथमिक ज्ञान है[2]। इसी तरह विवक्षितैकसंख्यत्वका कथन भी, जो असत्प्रतिपक्षत्वरूप है, अनावश्यक है क्योंकि अविनाभावी हेतुके प्रतिपक्षी किसी द्वितीय हेतुकी सम्भावना ही नहीं है जो प्रकृत हेतुकी विवक्षित एकसंख्याका विघटन कर सके।[3] तात्पर्य यह कि विवक्षितैकसंख्यत्व असत्प्रतिपक्षत्वरूप है और वह उपर्युक्त प्रकारसे अनावश्यक है।

कणकगोमिने[4] रोहिणीके उदयका अनुमान कराने वाले कृत्तिकोदय हेतुमें काल या आकाशको पक्ष बना कर पक्षधर्मत्व घटानेका प्रयास किया है। विद्यानन्दने[5] इसकी मीमांसा करते हुए कहा है कि इस तरह परम्पराश्रित पक्षधर्मत्व सिद्ध करनेमें तो पृथिवीको पक्ष बना कर महानसगत धूमसे समुद्रमें भी अग्नि सिद्ध करनेमें वह पक्षधर्मत्वरहित नहीं होगा। व्यभिचारी हेतुओंमें भी काल, आकाश और पृथिवी आदिकी अपेक्षा पक्षधर्मत्व घटाया जा सकेगा। और इस तरह कोई व्यभिचारी हेतु अपक्षधर्म न रहेगा।

उपर्युक्त अध्ययनसे प्रकट है कि जैन चिन्तकोंने द्विलक्षण, त्रिलक्षण, चतुर्लक्षण, पंचलक्षण, षड्लक्षण और सप्तलक्षणको अव्याप्त तथा अतिव्याप्त होनेसे उन्हें हेतुका स्वरूप स्वीकार नहीं किया। प्रत्युत उनकी विस्तृत समीक्षा की है। उन्होंने एक-

---

१ हेतुबि० पृ० ६८, हेतुबि० टी० पृ० २०६।
२ साध्याविनाभावित्वेन निश्चितो हेतुः।
—परीक्षामु० ३।१५।
३ डा० महेन्द्रकुमार जैन, सिद्धिवि० प्र० भा० प्रस्ता० पृ० ११६।
४ प्र० वा० स्ववृ० टी० पृ० ११।
५. विद्यानन्द, प्र० परी० पृ० ७१। त० श्लो० भा० १।१३, पृ० २०१।

लक्षण अविनाभाव या अन्यथानुपपन्नत्वको ही हेतुका स्वरूप माना है। इसके रहने पर अन्य रूप हों या न हों वह हेतु है, न रहनेपर नहीं।[1]

२ हेतु भेद

जैन तर्कशास्त्रमें हेतुके आरम्भमें कितने भेद स्वीकृत हैं और उत्तरकालमें उनमें कितना विकास हुआ है, इसपर विचार करनेसे पूर्व उचित होगा कि भारतीय दर्शनोंके हेतुभेदोंका सर्वेक्षण कर लिया जाय।

हेतुभेदोंका सर्वेक्षण

कणादने[2] अपने वैशेषिकसूत्रमें हेतुके पाँच भेद गिनाये हैं—(१) कार्य, (२) कारण, (३) संयोगी, (४) समवायी और (५) विरोधी। उनके व्याख्याकार प्रशस्तपाद[3] इतना और संकेत करते हैं कि उक्त भेद निदर्शनमात्र हैं। अर्थात् 'पाँच ही हैं' ऐसा अवधारण नहीं हैं, क्योंकि कई हेतु ऐसे हैं जो न कार्य हैं न कारण, न संयोगी न समवायी और न विरोधी। उदाहरणार्थ चन्द्रोदयसे व्यवहित समुद्रवृद्धि एवं कुमुदविकासका व शरत्कालीन जलप्रसादसे अगस्त्योदयका अनुमान होता है। पर ये हेतु न अहेतु (हेत्वाभास) हैं और न उक्त कार्यादि हेतुओंमेंसे किसीमें अन्तर्भूत हैं। अतः प्रशस्तपाद कणादके 'अस्येद' इस सूत्रवचनको सम्बन्धमात्रका बोधक बतलाकर उसके द्वारा उक्त प्रकारके और भी हेतुओंके संग्रहकी सूचना करते हैं। तात्पर्य यह कि प्रशस्तपादके अभिप्रायानुसार वैशेषिक दर्शनमें पाँचसे अधिक भी हेतु मान्य हैं। परन्तु प्रशस्तपादने यह नहीं बतलाया कि वे अमुक संख्यक हेतु हैं। कणादने[4] विरोधि लिङ्गके (१) अभूतभूत, (२) भूतअभूत और (३) भूतभूत इन तीन भेदोंका भी कथन किया है। शंकरमिश्रने[5] उपस्कारमें इनका सोदाहरण विवेचन किया है।

---

१ वादिराज न्यायवि० वि० २।१५४, पृ० १७७-१८० तथा २।१७४ पृ० २१० ।

२ अस्येदं कार्यं कारणं संयोगि विरोधि समवायि चेति लैङ्गिकम्।
—वैशे० सू० ९।२।१ ।

३ शास्त्रे कार्यादिग्रहणं निदर्शनार्थं कृतं नावधारणार्थम्। कस्मात् ? व्यतिरेकदर्शनात्। तथया—अध्वर्युरोंश्रावयन् व्यवहितस्य हेतुर्लिङ्गम् चन्द्रोदयः समुद्रवृद्धेः कुमुदविकासस्य च शरदि जलप्रसादोऽगस्त्योदयस्येति। एवमादि, तत्सर्वमस्येदमिति सम्बन्धमात्रवचनात् सिद्धम्।
—प्रश० भा० पृ० १०४ ।

४ विरोध्यभूतं भूतस्य। भूतमभूतस्य। भूतो भूतस्य।
—वै० सू० ३।१।११, १२, १३ ।

५ शंकरमिश्र, वैशे० सू० उपस्का० ३।१।११, १२, १३, पृ० ८८-८९ ।

न्यायपरम्पराके प्रतिष्ठाता अक्षपादने[1] कणादकथित उक्त पाच हेतुभेदोको अङ्गीकार नही किया। उन्होने हेतुके अन्य तीन भेद निर्दिष्ट किये है। वे ये है—(१) पूववत, (२) शेषवत और (३) सामान्यतोदृष्ट। इनमें प्रथम दो (पूववत और शेषवत) वस्तुत कणादके काय और कारणरूप ही है, केवल नामभेद है, अर्थभेद नही। सामान्यतोदृष्ट भी, जो अकार्यकारणरूप है, कही सयोगी, कही समवायी और कही विरोधीके रूपमे ग्रहण किया जा सकता है। वात्स्यायनने[2] न्यायसूत्रकारके साधर्म्य और वैधर्म्य प्रयुक्त द्विविध हेतुप्रयोगकी अपेक्षासे हेतुके दो भेदोका भी उल्लेख किया है—(१) साधर्म्यहेतु और (२) वैधर्म्यहेतु। यथार्थमें ये हेतुके भेद नही ह, मात्र हेतुका प्रयोगद्वैविध्य ह। उद्योतकरने[3] अवश्य हेतुके ऐसे तीन भेदोंका कथन किया ह जो नये हैं। वे इस प्रकार है—(१) केवलान्वयी, (२) केवलव्यतिरेकी और (३) अन्वयव्यतिरेकी। उद्योतकरने[4] वीत और अवीतके भेदसे भी हेतुके दो भेदोका निर्देश किया है।

ईश्वरकृष्ण[5] और उनके व्याख्याकारोने[6] न्यायसूत्रकारकी तरह ही हेतुके तीन भेदोका प्रतिपादन किया और उन्हीके स्वीकृत उनके नाम दिये है। विशेप यह कि युक्तिदीपिकाकारने[7] उद्योतकरकी तरह हेतुके वीत और अवीत द्वैविध्यका भी कथन किया है। पर वह द्वैविध्य उन्होंने प्रयोगभेदस सामान्यतोदृष्टका बतलाया ह, सामान्य हेतुका नही। वाचस्पति मिश्रने[8] साख्यतत्त्वकौमुदीमें हेतु (अनुमान) के प्रथमत वीत और अवीत दो भेद प्रदर्शित किये और उसक बाद अवीतको शेषवत् तथा वीतको पूवयत और सामान्यतोदृष्ट द्विविध निरूपित किया है। साख्यदर्शनके इन हेतुभेदोपर न्यायसूत्रकार और उद्योतकरका प्रभाव लक्षित होता ह।

---

१ न्यायसू० १।१।५।

२ द्विविधस्य पुनर्हेतोर्द्विविधस्य चोदाहरणस्योपसहारद्वैते च समानम्।
—न्यायभा० १।१।३९ का उत्थानिकावाक्य, पृ० ५१।

३ अन्वयी व्यतिरेकी अन्वयव्यतिरेकी चेति।
न्यायवा० १।१।५, पृ० ४६।

४ तावेतौ वीतावीतहेतू लक्षणाभ्यां पृथगभिहिताविति।
—वही, १।१।३५, पृ० १२३।

५ सांख्यका० ५।

६ युक्तिदी० साख्यका० ५, पृ० ३।

७ तस्य प्रयोगमात्रभेदाद् द्वैविध्यम्—वीत अवीत इति।
—वही पृ० ४७।

८ तत्र प्रथमं (प्रथमत) तावत् द्विविधम्—वीतमवीतं। तत्रावीतं शेषवत्। वीतं द्वेधा पूर्ववत् सामान्यतोदृष्टं च।
—सां० त० कौ० का० ५, पृ० ३० ३१।

धर्मकीर्तिने[1] भी हेतुके तीन भेद बतलाये हैं। पर उनके तीन भेद उपर्युक्त भेदोंसे भिन्न हैं। वे हैं—(१) स्वभाव, (२) कार्य और (३) अनुपलब्धि। अनुपलब्धिके भी तीन भेदोंका उन्होंने[2] निर्देश किया है—(१) कारणानुपलब्धि, (२) व्यापकानुपलब्धि और (३) स्वभावानुपलब्धि। प्रमाणवार्तिकमें अनुपलब्धिके चार और न्यायबिन्दुमें प्रयोगभेदसे उसके ग्यारह भी भेद कहे हैं[3]। धर्मकीर्तिने कणाद स्वीकृत हेतुभेदोंमेंसे कार्य और विरोधी (अनुपलब्धि) ये दो अंगीकार किये हैं तथा कारण, संयोगी और समवायी ये तीन भेद छोड़ दिये हैं, क्योंकि संयोग और समवाय बौद्धदर्शनमें स्वीकृत नहीं हैं, अतः उनके माध्यमसे होनेवाले संयोगी और समवायी हेतु सम्भव नहीं हैं। कारणके सम्बन्धमें धर्मकीर्तिका[4] मत है कि कारण कार्यका अवश्य अनुमापक नहीं होता, क्योंकि यह आवश्यक नहीं कि कारण होने पर कार्य अवश्य हो, पर कार्य बिना कारणके नहीं होता। अतः कार्य तो हेतु है, किन्तु कारण नहीं। उनके अनुपलब्धिके तीन भेदोंकी संख्या कणादके अभ्युपगत विरोधिके तीन प्रकारोंकी संख्याका स्मरण दिलाती है। ध्यान रहे, धर्मकीर्तिने[5] उपर्युक्त तीन हेतुओंमें स्वभाव और कार्यको विधिसाधक तथा अनुपलब्धिको प्रतिषेधसाधक ही वर्णित किया है। धर्मोत्तर[6], अर्चट[7] आदि व्याख्याकारोंने उनका समर्थन किया है।

जैन परम्परामें हेतुभेद

जैन परम्परामें षट्खण्डागममें[8] श्रुतके पर्यायनामोंमें 'हेदुवाद' (हेतुवाद) नाम आया है। पर उसमें हेतुके भेदोंकी कोई चर्चा उपलब्ध नहीं होती।

---

१ एतल्लक्षणो हेतुस्त्रिप्रकार एव। स्वभावः, कार्यम्, अनुपलब्धिश्चेति।
—हेतुबि० पृ० ५४। न्यायबि० पृ० २५। प्रमाणवा० १।३,४,५।

२ सेयमनुपलब्धिस्त्रिधा। सिद्धे कार्यकारणभावे सिद्धाभावस्य कारणस्यानुपलब्धिः, व्याप्यव्यापकभावसिद्धौ सिद्धाभावस्य व्यापकस्यानुपलब्धिः, स्वभावानुपलब्धिश्च।
—हेतुबि० पृ० ६८।

३ (क)—अनुपलब्धिश्चतुर्विधा।
—प्र० वा० १।६।
(ख) सा च प्रयोगभेदादेकादशप्रकारा।
—न्यायबि० पृ० ३५।

४ न्यायबि० पृ० ३५।

५ अत्र द्वौ वस्तुसाधनौ। एकः प्रतिषेधहेतुः।
—वही, पृ० २६।

६ वही, पृ० २५। धर्मोत्तरटी०।

७ हेतुबि० टी० ५४।

८ भूतबली पुष्पदन्त, षट्ख० ५।५।५१।

व्याख्याकार वीरसेनने[1] अवश्य 'हेतुवाद' पदकी व्याख्या करते हुए हेतुको दो प्रकारका कहा है—(१) साधनहेतु और (२) दूषणहेतु।

स्थानाङ्गसूत्रनिर्दिष्ट हेतुभेद

स्थानाङ्गसूत्रमें[2] हेतुके चार प्रकारोंका निर्देश है। ये चार प्रकार दार्शनिकोंके पूर्वोक्त हेतुभेदोंसे भिन्न हैं। इनके अध्ययनसे अवगत होता है कि यत हेतु और साध्य दोनों अनुमानके प्रयोजक हैं और दोनों कहीं विधिरूप होते हैं, कहीं निषेधरूप, कहीं विधिनिषेधरूप और कहीं निषेधविधिरूप। इन चारके अतिरिक्त अन्य राशि सम्भव नहीं है। अतः हेतुके उक्त प्रकारसे चार भेद मान्य हैं। साध्य और साधन दोनोंके विधि (सद्भाव) रूप होनेपर (१) विधि विधि, दोनोंके निषेध (अभाव) रूप होनेपर (२) निषेध निषेध, साध्यके विधिरूप और साधनके निषेधरूप होनेपर (३) विधि निषेध तथा साध्यके निषेधरूप और साधनके विधिरूप होनेपर (४) निषेधविधि ये चार भेद फलित होते हैं। इन्हें और विशदतासे निम्न प्रकार समझा जा सकता है—

१ विधिविधि—हेतुके जिस प्रकारमें हेतु और साध्य दोनों सद्भावरूप हों। जैसे—इस प्रदेशमें अग्नि है, क्योंकि धूम है। यहाँ साध्य (अग्नि) और साधन (धूम) दोनों सद्भावरूप हैं। इसे 'विधिसाधकविधिरूप' हेतु कहा जा सकता है।

२ निषेधनिषेध—जिसमें साध्य और साधन दोनों असद्भावरूप हों। यथा—यहाँ धूम नहीं है क्योंकि अनलका अभाव है। यहाँ साध्य (धूम नहीं) और साधन (अनलका अभाव) दोनों असद्भावरूप हैं। इस हेतुको 'निषेधसाधक-निषेधरूप' नाम दिया जा सकता है।

३ विधिनिषेध—जिसमें साध्य सद्भावरूप हो और साधन असद्भावरूप। जैसे—इस प्राणीमें रोगविशेष है, क्योंकि उसकी स्वस्थ चेष्टा नहीं है। यहाँ साध्य (रोगविशेष) सद्भावरूप है और साधन (स्वस्थ चेष्टा नहीं) असद्भाव-रूप। इसे 'विधिसाधकनिषेधरूप' हेतु कह सकते हैं।

४ निषेधविधि—जिसमें साध्य असद्भावरूप हो और साधन सद्भावरूप। यथा—यहाँ शीतस्पर्श नहीं है, क्योंकि उष्णता है। यहाँ साध्य (शीतस्पर्श नहीं) असद्भावरूप है और हेतु (उष्णता) सद्भावरूप। इस हेतुको 'निषेधसाधकविधि-रूप' हेतुके नामसे व्यवहृत कर सकते हैं।

इन हेतुभेदोंपर न कणादके हेतुभेदोंका प्रभाव लक्षित होता है, न अक्षपाद और न धर्मकीर्तिके। साथ ही इस वर्गीकरणमें जहाँ कार्य, कारण आदि सभी

१ षट्०, धवला टीका ५।५।५१, पृ० २८०।

२ स्थाना० सू० पृ० ३०९-३१० तथा यही 'जैन तर्कशास्त्रमें अनुमानविचार' पृ० २३ भी।

प्रकारके हेतुओका समावेश सम्भव है वहा यह अविदित रहता है कि विधिविधि आदि सामान्यरूपके सिवाय हेतुका विशेष (कार्य, कारण, व्याप्य आदि) रूप क्या है ? जब कि कणाद[1], अक्षपाद और धर्मकीर्तिके हेतुभेदनिरूपणमें विशेष रूप ही दिखायी देता है । अत हेतुभेदाका यह वर्गीकरण अधिक प्राचीन हो तो आश्चर्य नही, क्योकि सामान्य कल्पनाके बाद ही विशेष कल्पना होती है । यद्यपि कणादने[1] विरोधी हेतुके जिन अभूतभूत, भत अभूत और भूतभूत तीन भेदाका कथन किया तथा विद्यानन्दने[2] वैशेषिकोंकी ओरसे अभूतअभूत नामक चौथे भेद की भी कल्पना की है उनका इन हेतुभेदोंके साथ कुछ साम्य हो सकता है । तब भी स्थानाङ्गसूत्रगत हेतुभेदोकी परम्परा सामान्यरूप होनेसे प्राचीन तो है ही ।

अकलङ्कप्रतिपादित हेतुभेद

स्थानाङ्गसूत्रके उक्त हेतुभेदोंको विकसित करने और उन्हें जैन तर्कशास्त्रमें विशदतया निरूपित करनेका श्रेय भट्ट अकलङ्कदेवको प्राप्त है। अकलङ्कदेवने[3] हेतुके मूलमे दो भेद स्वीकार किये है—(१) उपलब्धि (विधिरूप) और (२) अनुपलब्धि (निषेधरूप) । ये दोनो हेतु भी विधि और प्रतिषेध दोनों तरहके साध्याको सिद्ध करनेसे दो दो प्रकारके कहे गये है । उपलब्धिके सद्भावसाधक और सद्भावप्रतिषेधक तथा अनुपलब्धिके असद्भावसाधक और असद्भावप्रतिषेधक । इनमें सद्भावसाधक उपलब्धिके भी (१) स्वभाव (२) स्वभावकार्य, (३) स्वभावकारण, (४) सहचर, (५) सहचरकार्य और (६) सहचरकारण ये छह अवान्तर भेद हैं । सिद्धिविनिश्चयके[4] अनुसार उसके छह भेद या दिये गये हैं—(१) स्वभाव, (२) कार्य, (३) कारण, (४) पूर्वचर, (५) उत्तरचर और (६) सहचर । इनमेंसे धर्मकीर्तिने केवल स्वभाव और कार्य ये दो ही हेतु माने हैं । कणादने कार्य और कारणको स्वीकार किया है । पूर्वचर, उत्तरचर और सहचर इन तीन हेतुओंको किसी अन्य तार्किकने स्वीकार किया हो, यह ज्ञात नही । किन्तु अकलकने उनका स्पष्ट निर्देशके साथ प्रतिपादन किया है । अत यह उनकी मौलिक देन कही जा सकती है । उन्होंने स्वभाव और कार्यके अतिरिक्त कारणहेतु तथा इन तीनाको सयुक्तिक स्वतन्त्र हेतु सिद्ध करके उनका निरूपण निम्न प्रकार किया है—

---

१ वैशे० सू० ३।१।११, १२, १३ ।

२ प्रमाणप० पृ० ७४ ।

३ सत्प्रवृत्तिनिमित्तानि स्वसम्बन्धोपलब्धय ॥
तथा सद्व्यवहाराय स्वभावानुपलब्धय । सद्वृत्तिप्रतिषेधाय तद्विरुद्धोपलब्धय ॥
—प्रमाणस० का २९,३० । तथा इनकी स्वोपज्ञवृत्ति, अकलंकग्र० पृ० १०४ १०५ ।

४ सि० वि० स्वो० वृ० ६।९, १५, १६ ।

(१) कारणहेतु[1]—वृक्षसे छायाका ज्ञान या चन्द्रसे जलमें पड़नेवाले उसके प्रतिबिम्बका ज्ञान करना कारणहेतु है। यद्यपि यह तथ्य है कि कारण कार्यका अवश्य उत्पादक नहीं होता, किन्तु ऐसे कारणसे, जिसकी शक्तिमें कोई प्रतिबन्ध न हो और अन्य कारणोंकी विकलता न हो, कार्यका अनुमान हो तो उसे कौन रोक सकता है? अनुमाताकी अशक्ति या अनाप्त अनुमानको सदोष नहीं कहा जा सकता।

(२) पूर्वचर[2]—जिन साध्य और साधनोंमें नियमसे क्रमभाव तो है पर न तो परस्पर कार्यकारणभाव है और न स्वभावस्वभाववान् सम्बन्ध है उनमें पूर्वभावीको हेतु और पश्चाद्भावीको साध्य बना कर अनुमान करना पूर्वचर हेतु है। जैसे—एक मुहूर्तके बाद शकटका उदय होगा, क्योंकि कृत्तिकाका उदय है।

(३) उत्तरचर[3]—उक्त क्रमभावी साध्य-साधनोंमें उत्तरभावीको हेतु और पूर्वभावीको साध्य बना कर अनुमान करना उत्तरचर है। यथा—एक मुहूर्त पहले भरणिका उदय हो चुका है, क्योंकि कृत्तिकाका उदय है। यहाँ 'कृत्तिकाका उदय' हेतु भरणिके अनन्तर होनेसे उत्तरचर है।

(४) सहचर हेतु[4]—तराजूके एक पलड़ेको उठा हुआ देख कर दूसरे पलड़ेके नीचे झुकनेका अनुमान या चन्द्रमाके इस भागको देख कर उस भागके अस्तित्वका अनुमान सहचरहेतु जन्य है। इनमें परस्पर न तादात्म्य सम्बन्ध है, न तदुत्पत्ति, न संयोग, न समवाय और न एकार्थसमवाय, क्योंकि एक अपनी स्थितिमें दूसरेकी अपेक्षा नहीं करता, किन्तु दोनों एकसाथ होते हैं, अतः अविनाभाव अवश्य है।

इस अविनाभावके बलपर ही जैन न्यायशास्त्रमें[5] उक्त पूर्वचर आदि हेतुओंको गमक माना है। और अविनाभावका नियामक केवल सहभावनियम तथा क्रमभावनियमको स्वीकार किया है, तादात्म्य, तदुत्पत्ति, संयोग, समवाय और एकार्थसमवायको नहीं, क्योंकि उनके रहने पर भी हेतु गमक नहीं होते और उनके न रहने पर भी मात्र सहभावनियम और क्रमभावनियमके बलसे वे गमक देखे जाते हैं।

---

१ न हि वृक्षादि छायादेः स्वभावः कार्यं वा। न चात्र विसंवादोऽस्ति। चन्द्रादेर्जलचन्द्रादिप्रतिपत्तिस्तथानुमा। न हि जलचन्द्रादेः चन्द्रादिः स्वभावः कार्यं वा।
—लघीय० स्वो० वृ० का० १२, १३ तथा सि० वि० स्वो० वृ० ६।९, १५।

२ वही का० १४ तथा सि० वि० स्वो० वृ० ६।१६।

३ लघीय० स्वो० वृ० का० १४ तथा सि० वि० स्वो० वृ० ६।१६।

४ सिद्धिवि० स्वो०वृ० ६।१५, ३, न्यायवि० २।६३८, प्र० स० का० ३८, पृ० १०७।

५ सिद्धिवि० स्ववृ० ६।३।
लघीय० स्वो०वृ० का० १२, १३ १४।

जैसाकि उपर्युक्त उदाहरणोंसे विदित है। इसीसे जैन दर्शनमें हेतुका एकमात्र अविनाभाव ही सम्यक् लक्षण इष्ट है।

सद्भावप्रतिषेधक तीन उपलब्धियाँ अकलङ्कने[1] इस इस प्रकार बतलायी है—

(१) स्वभावविरुद्धोपलब्धि—यथा–पदार्थ कूटस्थ नहीं है, क्योंकि परिणमनशील है। यहाँ हेतु सद्भावरूप है और साध्य निषेधरूप। तथा पदार्थका स्वभाव परिणमन करनेका है।

(२) कार्यविरुद्धोपलब्धि—यथा–लक्षणविज्ञान प्रमाण नहीं है, क्योंकि विसंवाद है। यहाँ भी हेतु सद्भावरूप है और साध्य निषेधरूप। विसंवाद अप्रमाणका कार्य है।

(३) कारणविरुद्धोपलब्धि—यथा–यह परीक्षक नहीं है, क्योंकि सर्वथा अभावको स्वीकार करता है। अपरीक्षकताका कारण सर्वथा अभावका स्वीकार है।

अकलङ्कने[2] धर्मकीर्तिके इस कथनकी कि 'स्वभाव और कार्य हेतु भाव साधक हैं तथा अनुपलब्धि अभावसाधक' समीक्षा करके उपलब्धिरूप स्वभाव और कार्य दोनों हेतुओंको भाव तथा अभाव उभयका साधक तथा अनुपलब्धिको भी दोनोंका साधक सिद्ध किया है। ऊपर हम उपलब्धिरूप हेतुको सद्भाव और असद्भाव दोनोंका साधक देख चुके हैं। आगे अनुपलब्धिको[3] भी दोनोंका साधक देखेंगे। इसके प्रथम भेद असद्भावसाधक प्रतिषेधरूपके ६ भेद बतलाये हैं। यथा—

(१) स्वभावानुपलब्धि—क्षणिकैकान्त नहीं है, क्योंकि उपलब्ध नहीं होता।

---

१ यथा स्वभावविरुद्धोपलब्धि—नाविचलितात्मा भावः परिणामात्। कार्यविरुद्धोपलब्धि—लक्षणविज्ञानं न प्रमाणं विसंवादात् प्रमाणान्तरापेक्षणे। कारणविरुद्धोपलब्धि—नास्य परीक्षाफलम् अभावैकान्तग्रहणात्।

—प्र० स० स्ववृ० का० ३० पृ० १०५, अकलङ्कग्र०।

२ नानुपलब्धिरेव अभावसाधनी।

—प्र० स० का० ३०।

३ स्वभावानुपलब्धि यथा न क्षणिकैकान्तोऽनुपलम्भे। कार्यानुपलब्धि अत्र कार्याभावात्। कारणानुपलब्धि—अत्रैव कारणाभावात्। स्वभावसहचरानुपलब्धि—अत्र व्यापाराद्याहारविशेषाभावात्। सहचरकारणानुपलब्धि अत्रैव आहाराभावात्।

—वही, स्ववृ० का० ३०, पृ० १०५।

(२) कार्यानुपलब्धि—क्षणिकैकान्त नही है, क्योंकि उसका कोई कार्य उपलब्ध नहीं होता।

(३) कारणानुपलब्धि—क्षणिकैकान्त नही है, क्योंकि कोई कारण नही है।

(४) स्वभावसहचरानुपलब्धि—इसमें आत्मा नही है, क्योंकि रूपादि विशेषका अभाव है।

(५) सहचरकार्यानुपलब्धि—इस प्राणीमें आत्मा नही है, क्योंकि व्यापार-व्याहारविशेषका अभाव है।

(६) सहचरकारणानुपलब्धि—इस शरीरमें आत्मा नही है, क्योंकि भोजन-का अभाव है।

अनुपलब्धिके दूसरे भेद असदभावप्रतिषेधक (सद्भावसाधक) प्रतिषेधक-रूप अनुपलब्धिके कितने भेद उन्हें अभीष्ट हैं, इसका अकलकने स्पष्ट निर्देश नही किया। पर उनके प्रतिपादनसे सकेत अवश्य मिलता है कि उसके भी उन्हें अनेक भेद अभिप्रेत हैं।

इस प्रकार अकलकने सदभावसाधक ६ और सद्भावप्रतिषेधक ३ इस तरह ९ उपलब्धियों तथा असद्भावसाधक ६ अनुपलब्धियोका वर्णन करके इनके और भी अवान्तर भेदोंका सकेत किया है। तथा उन्हें इन्हीमें अन्तर्भाव हो जानेका उल्लेख किया है।

विद्यानन्दोक्त हेतु भेद

विद्यानन्दका हेतुभेदनिरूपण अकलकके हेतुभेदनिरूपणका आभारी और उपजीव्य है। किन्तु विद्यानन्दकी निरूपणसरणि एव समीक्षात्मक अनुशीलन अतिस्पष्ट और आकर्षक है। उन्होंने[1] अन्यथानुपपत्तिरूप एकलक्षणसामान्यकी अपेक्षा हेतुको एक प्रकारका कह करके भी विशेषकी अपेक्षा अतिसक्षेपमें विधि-साधन और निषेधसाधनके भेदसे द्विविध तथा सक्षेपमें कार्य, कारण और अकार्य-कारणके रूपमें त्रिविध प्रतिपादन किया और अन्य प्रकारोंका इन्हीमें अन्तर्भाव होनेका निर्देश किया है। उनका[2] यह निरूपण अब प्रस्तुत है—

---

१ तच्च साधनं एकलक्षणसामान्यादेकविधमपि विशेषतोऽतिसंक्षेपाद्द्विविधं विधिसाधनं निषेधसाधनं च। संक्षेपात्त्रिविधमभिधीयते—कार्य कारणस्य कारणं कार्यस्य, अकार्यकारणमकार्यकारणस्येति।
—प्रमाणप० पृ० ७२।

२. वही, पृ० ७२ से ७५ तथा त० श्लो० १।१३, पृ० २०८ २१४।

(१) कार्यहेतु—यहाँ अग्नि है, क्योंकि धूम है। कार्यकार्य आदि परम्परा हेतुओंका इसीमें अन्तर्भाव किया गया है।

(२) कारणहेतु—यहाँ छाया है, क्योंकि छत्र है। कारणकारण आदि परम्पराकारणहेतुओंका इसीमें अनुप्रवेश है। स्मरण रहे कि न तो केवल अविशिष्ट कारणको और न अन्तिम क्षण प्राप्त कारणको कारणहेतु कहा जाता है, जिससे प्रतिबन्धके सद्भाव और कारणान्तरकी विकलतासे वह व्यभिचारी हो तथा दूसरे क्षणमें कार्यके प्रत्यक्ष हो जानेसे अनुमान निरर्थक हो, किन्तु जो कार्यका अविनाभावी निर्णीत है तथा जिसकी सामर्थ्य किसी प्रतिबन्धकसे अवरुद्ध नहीं है और न वांछनीय सामग्रीकी विकलता है, ऐसे विशिष्ट कारणको हेतु माना गया है।

(३) अकार्यकारण—इसके चार भेद हैं—१ व्याप्य, २ सहचर, ३ पूर्वचर और ४ उत्तरचर।

१ व्याप्य हेतु—जहाँ व्याप्यसे व्यापकका अनुमान होता है वह व्याप्यहेतु है। जैसे—समस्त पदार्थ अनेकान्तस्वरूप हैं, क्योंकि सत् हैं, अर्थात् वस्तु हैं।

२ सहचर हेतु—जहाँ एक सहभावीसे दूसरे सहभावीका अनुमान किया जाता है वह सहचर है। जैसे—अग्निमें स्पर्श है, क्योंकि रूप है। स्पर्श रूपका न कार्य है न कारण, क्योंकि दोनों सर्वत्र सर्वदा समकालवृत्ति होनेसे सहचर प्रसिद्ध हैं। ध्यान रहे, वैशेषिकोंके संयोगी और एकार्थसमवायी हेतु विद्यानन्दके मतानुसार साध्यसमकालीन होनेसे सहचर हैं। जैसे समवायी कारणहेतु है, वह उससे पृथक् नहीं है।

३ पूर्वचरहेतु—शकटका उदय होगा, क्योंकि कृत्तिकाका उदय है। पूर्वपूर्वचरादि परम्परापूर्वचरहेतुओंका इसीमें समावेश है।

४ उत्तरचरहेतु—भरणिका उदय हो चुका है, क्योंकि कृत्तिकाका उदय है। उत्तरोत्तरचरादि परम्पराउत्तरचरहेतुओंका इसीके द्वारा संग्रह हो जाता है।

ये छह (२ + ४ = ६) हेतु[1] विधिरूप साध्यको सिद्ध करनेमें विधिसाधन (भूतभूत) हेतु कहे जाते हैं।

प्रतिषेधरूप साध्यको सिद्ध करनेवाले हेतु[2] तीन हैं।—(१) विरुद्धकार्य, (२) विरुद्धकारण और (३) विरुद्धाकार्यकारण।

---

१ तदेतत्साध्यस्य विधौ साधनं षड्विधमुक्तम्।
—प्रमाणप० पृ० ७३।

२ प्रतिषेधे तु प्रतिषेध्यस्य विरुद्धं कार्यं विरुद्धं कारणं विरुद्धाकार्यकारणं चेति।
—प्र० प० पृष्ठ ७३।

(२) विरुद्धकार्यहेतु—यहा शीतस्पर्श नही हैं, क्योकि धूम हैं। स्पष्ट है कि शीतस्पर्शसे विरुद्ध अनल है, उसका कार्य धूम है। उसके सद्भावसे शीतस्पर्शका अभाव सिद्ध होता है।

(२) विरुद्धकारण—इस पुरुषके असत्य नही है क्योकि सम्यग्ज्ञान हैं। प्रकट है कि असत्यसे विरुद्ध सत्य है, उसका कारण सम्यग्ज्ञान है। रागद्वेषरहित यथार्थज्ञान सम्यग्ज्ञान हैं। वह उसके किसी यथार्थकथन आदिसे सिद्ध होता हुआ सत्यको सिद्ध करता है और वह भी सिद्ध होता हुआ असत्यका प्रतिषेध करता है।

(३) विरुद्धाकार्यकारण—इसके चार भेद हैं—१ विरुद्धव्याप्य, २ विरुद्ध-सहचर, ३ विरुद्धपूर्वचर और ४ विरुद्धउत्तरचर।

१ विरुद्धव्याप्य—यहाँ शीतस्पर्श नही है, क्योकि उष्णता हैं। यहाँ निश्चय ही शीतस्पर्शसे विरुद्ध अग्नि है और उसका व्याप्य उष्णता है।

२ विरुद्धसहचर—इसके मिथ्याज्ञान नही है, क्योकि सम्यग्दर्शन है। यहाँ मिथ्याज्ञानसे विरुद्ध सम्यग्ज्ञान है और उसका सहचर (सहभावी) सम्यग्दर्शन हैं।

३ विरुद्धपूर्वचर—मुहूर्तान्तमें शकटका उदय नही होगा, क्योकि रेवतीका उदय है। यहा शकटोदयसे विरुद्ध अश्विनीका उदय है और उसका पूर्वचर रेवतीका उदय हैं।

४—विरुद्धोत्तरचर—एक मुहूर्त पूर्व भरणिका उदय नही हुआ, क्योकि पुष्यका उदय है। भरणिके उदयमे विरुद्ध पुनर्वसुका उदय है और उसका उत्तरचर पुष्यका उदय है।

ये छह[1] साक्षात्प्रतिषेध्यसे विरुद्ध कार्यादिहेतु विधिद्वारा प्रतिषेधको सिद्ध करनेके कारण प्रतिषेधसाधन (अभूतभूत) हेतु उक्त है।

परम्परामे[2] होनेवाले कारणविरुद्धकार्य, व्यापकविरुद्धकार्य, कारणव्यापकविरुद्धकार्य, व्यापककारणविरुद्धकार्य, कारणविरुद्धकारण, व्यापकविरुद्धकारण, कारणव्यापकविरुद्धकारण और व्यापककारणविरुद्धकारण तथा कारणविरुद्धव्याप्यादि और कारणविरुद्धसहचरादि हेतुओंका भी विद्यानन्दने संकेत किया है। वे इस प्रकार हैं—

---

१ तान्येतानि साक्षात्प्रतिषेध्यविरुद्धकार्यादीनि लिङ्गानि विधिद्वारेण प्रतिषेधसाधनानि षडभिहितानि।

—प्र० प० पृ० ७२।

२ परम्परया तु कारणविरुद्धकार्यं व्यापकविरुद्धकार्यं कारणव्यापकविरुद्धकार्यं व्यापककारणविरुद्धकार्यं वक्ष्यामि।

—वही, पृ० ७२।

१ कारणविरुद्धकार्य—इसके शीतजनित रोमहर्षादिविशेष नही है, क्योकि धूम है। प्रतिषेध्य रोमहर्षादिविशेषका कारण शीत है, उसका विरोधी अनल है, उसका कार्य धूम है।

२ व्यापकविरुद्धकार्य—यहा शीतस्पर्शसामान्यसे व्याप्त शीतस्पर्शविशेष नहीं है, क्योकि धूम है। निषेध्य शीतस्पर्शविशेषका व्यापक शीतस्पर्शसामान्य है, उसका विरोधी अनल है, उसका कार्य धूम है।

३ कारणव्यापकविरुद्धकार्य—यहा हिमत्वव्याप्त हिमविशेषजनितरोमहर्षादिविशेष नहीं है, क्योकि धूम है। रोमहर्षादिविशेषका कारण हिमविशेष है, उसका व्यापक हिमत्व है, उसका विरोधी अग्नि है, उसका कार्य धूम है।

४ व्यापककारणविरुद्धकार्य—यहा शीतस्पर्शविशेषव्यापक शीतस्पर्शसामान्यके कारण हिमसे होनेवाला शीतस्पर्शविशेष नहीं है क्योकि धूम है। प्रतिषेध्य शीतस्पर्शविशेषका व्यापक शीतस्पर्शसामान्य है, उसका कारण हिम है, उसका विरोधी अग्नि है, उसका कार्य धूम है।

५ कारणविरुद्धकारण—इसके मिथ्याचरण नही है, क्योंकि तत्त्वार्थोपदेशका ग्रहण है। मिथ्याचरणका कारण मिथ्याज्ञान है, उसका विरोधी तत्त्वज्ञान है, उसका कारण तत्त्वार्थोपदेशग्रहण है।

६ व्यापकविरुद्धकारण—इसके आत्मामें मिथ्याज्ञान नही है, क्योंकि तत्त्वार्थोपदेशका ग्रहण है। मिथ्याज्ञानविशेषका व्यापक मिथ्याज्ञानसामान्य है, उसका विरोधी सत्यज्ञान है, उसका कारण तत्त्वार्थोपदेशग्रहण है।

७ कारणव्यापकविरुद्धकारण—इसके मिथ्याचरण नही है, क्योंकि तत्त्वार्थोपदेशका ग्रहण है। यहा मिथ्याचरणका कारण मिथ्याज्ञानविशेष है उसका व्यापक मिथ्याज्ञानसामान्य है, उसका विरोधी तत्त्वज्ञान है, उसका कारण तत्त्वार्थोपदेशग्रहण है।

८ व्यापककारणविरुद्धकारण—इसके मिथ्याचरणविशेष नही है, क्योकि तत्त्वार्थोपदेशका ग्रहण है। मिथ्याचरणविशेषका व्यापक मिथ्याचरणसामान्य है, उसका कारण मिथ्याज्ञान है, उसका विरोधी तत्त्वज्ञान है, उसका कारण तत्त्वार्थोपदेशग्रहण है।

९ कारणविरुद्धव्याप्य[1]—सर्वथैकान्तवादीके प्रशम, संवेग, अनुकम्पा और आस्तिक्य नही है, क्योंकि विपरीतमिथ्यादर्शनविशेष है। प्रशमादिका कारण सम्यग्दर्शन है, उसका विरोधी मिथ्यादर्शनसामान्य है, उससे व्याप्य विपरीत मिथ्यादर्शनविशेष है।

---

१ प्र० प० पृष्ठ ७४।

१० व्यापकविरुद्धव्याप्य—स्याद्वादीके विपरीतादिमिथ्यादर्शनविशेष नहीं है, क्योंकि सत्यज्ञानविशेष है। विपरीतादिमिथ्यादर्शनविशेषोंका व्यापक मिथ्यादर्शनसामान्य है, उसका विरोधी तत्त्वज्ञानसामान्य है, उसका व्याप्य सत्यज्ञानविशेष है।

११ कारणव्यापकविरुद्धव्याप्य—इसके प्रशम आदि नहीं हैं, क्योंकि मिथ्याज्ञानविशेष है। प्रशम आदिका कारण सम्यग्दर्शनविशेष है, उसका व्यापक सम्यग्दर्शनसामान्य है, उसका विरोधी मिथ्याज्ञानसामान्य है, उसका व्याप्य मिथ्याज्ञानविशेष है।

१२ व्यापककारणविरुद्धव्याप्य—इसके तत्त्वज्ञानविशेष नहीं है क्योंकि मिथ्यार्थोपदेशका ग्रहण है। तत्त्वज्ञानविशेषोंका व्यापक तत्त्वज्ञानसामान्य है, उसका कारण तत्त्वार्थोपदेशग्रहण है, उसका विरोधी मिथ्यार्थोपदेशग्रहणसामान्य है, उससे व्याप्त मिथ्यार्थोपदेशग्रहणविशेष है।

१३ कारणविरुद्धसहचर[1]—इसके प्रशम आदि नहीं है, क्योंकि मिथ्याज्ञान है। प्रशम आदिका कारण सम्यग्दर्शन है, उसका विरोधी मिथ्यादर्शन है, उसका सहचर मिथ्याज्ञान है।

१४ व्यापकविरुद्धसहचर—इसके मिथ्यादर्शनविशेष नहीं है, क्योंकि सम्यग्ज्ञान है। मिथ्यादर्शनविशेषोंका व्यापक मिथ्यादर्शनसामान्य है, उसका विरोधी तत्त्वार्थश्रद्धानरूप सम्यग्दर्शन है, उसका सहचर सम्यग्ज्ञान है।

१५ कारणव्यापकविरुद्धसहचर—इसके प्रशम आदि नहीं है, क्योंकि मिथ्याज्ञान है। प्रशम आदिका कारण सम्यग्दर्शनविशेष है, उसका व्यापक सम्यग्दर्शनसामान्य है, उसका विरोधी मिथ्यादर्शन है, उसका सहचर मिथ्याज्ञान है।

१६ व्यापककारणविरुद्धसहचर—इसके मिथ्यादर्शनविशेष नहीं है, क्योंकि सत्यज्ञान है। मिथ्यादर्शनविशेषोंका व्यापक मिथ्यादर्शनसामान्य है, उसका कारण दर्शनमोहोदय है, उसका विरोधी सम्यग्दर्शन है, उसका सहचर सम्यग्ज्ञान है।

इस प्रकार विद्यानन्दने[2] विरोधी ६ परम्पराविरोधी १६ कुल २२ साक्षात विरोधी हेतुओंका विस्तृत कथन किया है।

उल्लेखनीय है कि कणादने विरोधी हेतुके अभूतभूत, भूतअभूत और भूतभूत तीन प्रकारोंका निर्देश किया है। पर विद्यानन्दने[3] अभूत-अभूतनामक चौथे भेद

१ प्र० प० पृ० ७४।

२, ३ एतत्सामान्यतो विरोधिलिङ्गं प्रपंचतो द्वाविंशतिप्रकारमपि भूतमभूतस्य गमकम-न्यथानुपपत्तिनियमनिश्चयलक्षणसद्भावात्प्रतिपत्तव्यम्।

—प्र० प० पृ० ७४।

कल्पित स्वभावादि त्रिविध, नैयायिकसम्मत पूर्ववदादि त्रिविध, वैशेषिक स्वीकृत संयोग्यादि पंचविध और सांख्याभ्युपगत वीतादि त्रिविध हेतुनियमकी समीक्षा करते हुए कहा है कि जब हेतुभेदोंकी यह स्पष्ट स्थिति है तो उसे केवल त्रिविध आदि बतलाना संगत प्रतीत नहीं होता। अतः हेतुका एकमात्र प्रयोजक अन्यथानुपपन्नत्वनियमनिश्चयको ही मानना चाहिए, जिसके द्वारा सभी प्रकारके हेतुओंका संग्रह सम्भव है, त्रिविधत्वादिनियमको नहीं।

माणिक्यनन्दिकी उल्लेखनीय विशेषता है कि उन्होंने अकलंक और विद्यानन्दके वाङ्मयका आलोडन करके उसमें विश्रृंखलित हेतुभेदोंका सुसम्बद्ध ढंगसे सुगम एवं सरल सूत्रोंमें निबद्ध किया है। उनका यह व्यवस्थित हेतुभेदनिरूपण उत्तरवर्ती प्रभाचन्द्र, लघु अनन्तवीर्य, देवसूरि, हेमचन्द्र प्रभृति तार्किकोंके लिए पथप्रदर्शक तथा आधार सिद्ध हुआ है। यहाँ उसे न देनेपर एक न्यूनता रहेगी। अतः उसे दिया जाता है।

अकलंककी तरह माणिक्यनन्दिने[1] भी आरम्भमें हेतुके मूल दो भेद स्वीकार किये हैं—(१) उपलब्धि और (२) अनुपलब्धि। तथा इन दोनोंको विधि और प्रतिषेध उभयका साधक बतलाया है। और इसलिए दोनोंके उन्होंने दो-दो भेद कहे हैं—उपलब्धिके (१) अविरुद्धोपलब्धि और (२) विरुद्धोपलब्धि तथा अनुपलब्धिके (१) अविरुद्धानुपलब्धि और (२) विरुद्धानुपलब्धि। अविरुद्धोपलब्धिके[2] छह भेद हैं—(१) व्याप्य, (२) कार्य, (३) कारण, (४) पूर्वचर, (५) उत्तरचर और (६) सहचर। विरुद्धोपलब्धिके[3] भी अविरुद्धोपलब्धिकी तरह छह भेद हैं। वे ये हैं—(१) विरुद्धव्याप्य, (२) विरुद्धकार्य, (३) विरुद्धकारण, (४) विरुद्धपूर्वचर, (५) विरुद्धउत्तरचर और (६) विरुद्धसहचर। इसी प्रकार अनुपलब्धिके प्रथम भेद अविरुद्धानुपलब्धि[4] प्रतिषेधरूप साध्यको सिद्ध करनेकी अपेक्षा सात प्रकारकी कही है—(१) अविरुद्धस्वभावानुपलब्धि, (२) व्यापकानुपलब्धि (३) कार्यानुपलब्धि, (४) कारणानुपलब्धि, (५) पूर्वचरानुपलब्धि, (६) उत्तरचरानुपलब्धि और (७) सहचरानुपलब्धि। विरुद्धा-

१ परीक्षामु० ३।५७ ५८।

२ स हेतुर्द्वेधा उपलब्ध्यनुपलब्धिभेदात्। उपलब्धिर्विधिप्रतिषेधयोरनुपलब्धिश्च। अविरुद्धोपलब्धिर्विधौ षोढा व्याप्यकार्यकारणपूर्वोत्तरसहचरभेदात्।

—प० मु० ३।५७-५९।

३ विरुद्धतदुपलब्धिः प्रतिषेधे तथेति।

—वही ३।७१।

४ अविरुद्धानुपलब्धिः प्रतिषेधे सप्तधा स्वभावव्यापककार्यकारणपूर्वोत्तरसहचरानुपलम्भभेदादिति।

—वही, ३।७८।

नुपलब्धि[1] विधिरूप साध्यको सिद्ध करनेमें तीन प्रकारकी कही गयी है—(१) विरुद्धकार्यानुपलब्धि, (२) विरुद्धकारणानुपलब्धि और (३) विरुद्धस्वभावानुपलब्धि। इस तरह माणिक्यनन्दिने ६ + ६ + ७ + ३ = २२ हेतुभेदोंका सोदाहरण निरूपण किया है। विद्यानन्दकी तरह परम्पराहेतुओंकी भी उन्होंने सम्भावना करके उन्हें यथायोग्य उक्त हेतुओंमें ही अन्तर्भाव करनेका इंगित किया है। माणिक्यनन्दिने[2] अकलंककी भाँति कारण, पूर्वचर, उत्तरचर और सहचर इन हेतुओंको पृथक् माननेकी आवश्यकताको भी सयुक्तिक बतलाया है।

प्रभाचन्द्रने प्रमेयकमलमार्त्तण्डमें और लघु अनन्तवीर्यने प्रमेयरत्नमालामें माणिक्यनन्दिके व्याख्याकार होनेसे उनका ही समर्थन एवं विशद व्याख्यान किया है।

देवसूरिने[3] विधिसाधक तीन अनुपलब्धियोंके स्थानमें पाँच अनुपलब्धियाँ बतायी हैं तथा निषेधसाधक विरुद्धोपलब्धिके छह भेदोंकी जगह सात भेद प्रतिपादित किये हैं। शेष निरूपण माणिक्यनन्दि जैसा ही है। विद्यानन्दकी तरह विरुद्धोपलब्धिके सोलह परम्पराहेतुओंका भी उन्होंने[4] निरूपण किया और इस निरूपण को अभियुक्तों द्वारा अभिहित बतलाया है। इसके साथ ही अविरुद्धानुपलब्धिके प्रतिपादक सूत्रमें साक्षात् हेतु सात और उसकी व्याख्यामें परम्पराहेतु ग्यारह कुल अठारह प्रकारोंका भी कथन किया है।[5] उनका यह प्रतिपादन विद्यानन्दकी प्रमाणपरीक्षा और तत्त्वार्थश्लोकवार्त्तिकका आभारी है।

वादिराजका[6] हेतुभेदविवेचन यद्यपि अकलंक और विद्यानन्दसे प्रभावित है किन्तु उनका वैशिष्ट्य भी उसमें परिलक्षित होता है। उन्होंने संक्षेपमें हेतुके

---

१ विरुद्धानुपलब्धिः विधौ त्रेधा विरुद्धकार्यकारणस्वभावानुपलब्धिभेदात्।
—प० मु० ३।८६।

२ वही, ३।९०-९४।

३ विरुद्धानुपलब्धिस्तु विधिप्रतीतौ पंचधेति। विरुद्धोपलब्धिस्तु प्रतिषेधप्रतिपत्तौ सप्तप्रकारेति।
—प्र० न० त० ३।९९, ७९।

४ परम्परया विरोधाश्रयणेन त्वनेकप्रकारा विरुद्धोपलब्धिः सम्भवन्ती स्वयमभियुक्तैरवगन्तव्या इति पारम्पर्येण षोडशप्रकारा।
—वही स्या० रत्ना० ३।८८ पृ० ६०५।

५ इत्थमयमविरुद्धानुपलब्धिः सप्तप्रकारा प्रतिषेधप्रतिपत्तौ सोदाहरणा सूत्रेण प्रतिषेध्यवस्तुसंसाधना स्वभावकार्यादीनां साक्षादनुपलम्भद्वारेण प्रदर्शिता। परम्परया पुनरेषापि निपुणैर्निरूप्यमाणैकादशधा सम्पद्यते। तन्निर्णयं सूत्रोक्तैः सप्तभिर्भेदैः सहामी मिलित्वा प्रकारा अष्टादश अविरुद्धानुपलम्भे संवृत्ता इति।
—वही स्या० रत्ना० ३।९८, पृ० ६१३-६१५।

६ प्रमाणनि० पृ० ४२-५०।

विधिसाधन और प्रतिषेधसाधन दो भेद करके विधिसाधनके धर्मिसाधन और धर्मिविशेषसाधन ये दो भेद बतलाये हैं तथा इन दोनोंके भी दो-दो भेद कहे हैं। प्रतिषेधसाधनको भी विधिरूप और प्रतिषेधरूप दो प्रकारका वर्णित करके दोनोंके अनेक भेदोंकी सूचना की है और उनके कतिपय उदाहरण दे कर उन्हें स्पष्ट किया है।

हेमचन्द्रने[1] कणाद, धर्मकीर्ति और विद्यानन्दकी तरह हेतुभेदोंका वर्गीकरण किया है फिर भी उनसे भिन्नता यह है कि उनके वर्गीकरणमें कोई भी अनुपलब्धि विधिसाधकरूपसे वर्णित नहीं है[2] किन्तु धर्मकीर्तिकी तरह मात्र निषेधसाधकरूपसे वर्णित है।

धर्मभूषणने[3] विद्यानन्दके वर्गीकरणको स्वीकार किया है। अन्तर इतना ही है कि धर्मभूषणने आरम्भमें हेतुके दो भेद और दोनोंको विधिसाधक तथा प्रतिषेधसाधक प्रतिपादित किया है। पर विधिसाधक विधिरूप हेतुके छह भेदोंका ही उन्होंने उदाहरणद्वारा प्रदर्शन किया है, अन्य भेदोंका नहीं और इस तरह ६ + १ + २ = ९ हेतुभेदोंका उन्होंने वर्णन किया है।

यशोविजयका[4] *वर्गीकरण* विद्यानन्द, माणिक्यनन्दि देवसूरि और धर्मभूषणके वर्गीकरणोंके आधारपर हुआ है। विशेषतया देवसूरि[5] और धर्मभूषणका[6] प्रभाव उसपर लक्षित होता है।

इस प्रकार जैन तार्किकोंका हेतुभेदनिरूपण अनेकविध एवं सूक्ष्म होता हुआ उनकी चिन्तनविशेषताको प्रकट करता है।

---

१ प्रमाणमी० १।२। २, पृ० ४२।

२ वही, १।२।४२, पृ० ४२-४५।

३ प्र० दी० पृ० ९५-९९।

४ जैन तर्कभा० पृ० १६-१८।

५ तुलना कीजिए—प्र० न० त० ३।५४-५५, ३।६८, ६९, ७७, ३।७८, ३।७९, ३।८०, ३।८१, ३।८२, ३।८३-८७, ३।८४, ८५, ८७-९२, ३।१०३, ३।९४-१०२।

६ तुलना कीजिए न्या० दी० पृ० ९५, ९६, ९७, ९८।

जैन हेतु-भेद

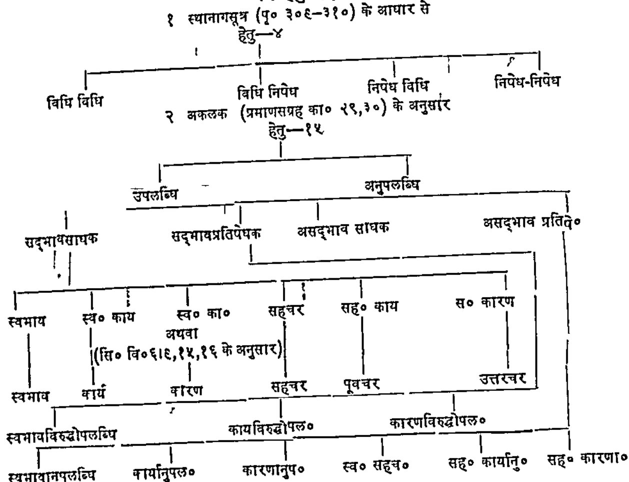

१ स्थानागसूत्र (पृ० ३०६–३१०) के आधार से
हेतु—४
विधि विधि
विधि निषेध
निषेध विधि
निषेध-निषेध
२ अकलंक (प्रमाणसंग्रह का० २९,३०) के अनुसार
हेतु—१५
उपलब्धि
अनुपलब्धि
सद्भावसाधक
सद्भावप्रतिषेधक
असद्भाव साधक
असद्भाव प्रतिषे०
स्वभाव
स्व० कार्य
स्व० का०
सहचर
सह० कार्य
स० कारण
अथवा
(सि० वि० ६।६,१५,१६ के अनुसार)
स्वभाव
कार्य
कारण
सहचर
पूर्वचर
उत्तरचर
स्वभावविरुद्धोपलब्धि
कार्यविरुद्धोपल०
कारणविरुद्धोपल०
स्वभावानुपलब्धि
कार्यानुपल०
कारणानुप०
स्व० सहच०
सह० कार्यानु०
सह० कारणा०

१ सद्भावसाधक उपलब्धि–६
२ सद्भावप्रतिषेधक उपलब्धि–३
३ असद्भावप्रतिषेधक अनुपलब्धि–६
४ असद्भावसाधक अनुपलब्धि–अनेक

१५

३ विद्यानन्द (प्रमाणपरीक्षा पृ० ७२-७५) के अनुसार
हेतु–२८

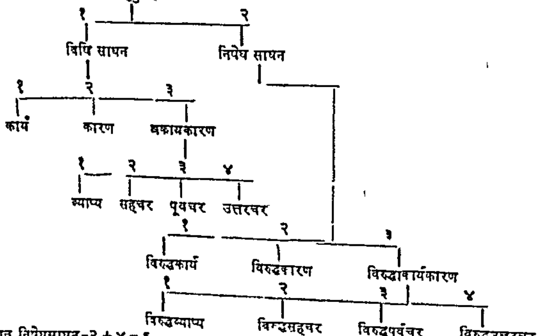

(१) साक्षात् निषेधसाधन–२ + ४ = ६
(२) परम्परा निषेधसाधन– १६
कुल २२

१ विधि साधन – ६
२ निषेध साधन २२
२८ कुल हेतु भेद

४ माणिक्यनन्दि (परीक्षामुख ३।५७-९०) के अनुसार

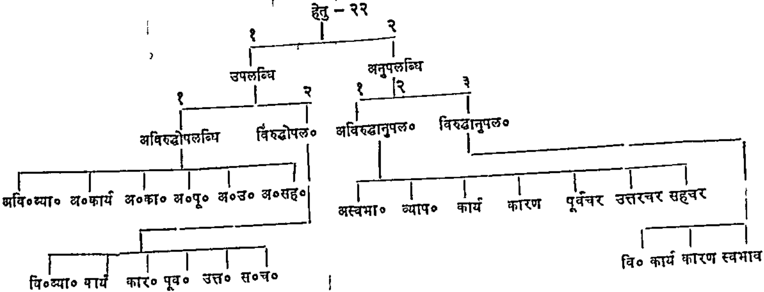

= ६ + ६ + ३ + ७ — = २२ हेतुभेद

५ देवसूरि (प्रमाणनयतत्त्वालोकालंकार ३।५०-९१) के अनुसार

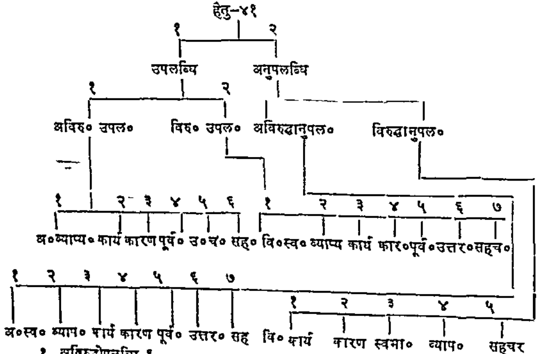

१ अविरुद्धोपलब्धि ६
२ विरुद्धोपलब्धि २३
३ अविरुद्धानुपलब्धि ७
४ विरुद्धानुपलब्धि ५
कुल ४१

साक्षात् विरुद्धोपलब्धि हेतु ७
परम्परा विरुद्धोपलब्धि हेतु १६
कुल २३

६ हेमचन्द्र (प्रमाणमीमांसा १।२।१२) के अनुसार

हेतु—५ (स्वोपज्ञवृत्ति १।२।१२ के आधार से ११)

- १ स्वभाव
- २ कारण
- ३ कार्य
- ४ एकार्थसमवायि
- ५ विरोधि
  - निषेधसाधकनिषेधरूप
    - १ स्वभावानुपल०
    - २ कारणानुप०
    - ३ कार्यानुप०
    - ४ व्यापकानु०
  - निषेधसाधकविधिरूप
    - १ कार्य
    - २ कारण
    - ३ व्यापक

१—विधिसाधन ४

२—विरोधि ४ + ३ = ७

—कुल ११

७ अभिनव धर्मभूषण (न्यायदीपिका पृष्ठ ९५–९९) के अनुसार

हेतु—९

- विधिरूप
  - विधिसाधक
    - १ कार्यरूप
    - २ कारणरूप
    - ३ विशेषरूप
    - ४ पूर्वचर
    - ५ उत्तरचर
    - ६ सहचर
  - प्रतिषेधसाधक
- प्रतिषेधरूप
  - विधिसाधक
  - प्रतिषेधसाधक

= ६ + १ + २ = ९

अध्याय : ५ :

प्रथम परिच्छेद

अनुमानाभास विमर्श

जैन तर्कग्रन्थोंमें अनुमान सम्बन्धी दोषोंपर जो चिन्तन उपलब्ध है वह महत्त्वपूर्ण, दिलचस्प और ज्ञातव्य है। यहाँ उसपर विचार किया जाता है।

समन्तभद्रद्वारा निर्दिष्ट अनुमान दोष

समन्तभद्रने अनुमानदोषोंपर यद्यपि स्वतन्त्रभावसे कुछ नहीं लिखा, तथापि एकान्तवादोंकी समीक्षाके सन्दर्भमें उन्होंने कतिपय अनुमान-दोषोंका उल्लेख किया है। उससे अवगत होता है कि समन्तभद्र उन दोषोंसे परिचित ही नहीं, उनके विवेचक भी थे। उदाहरणार्थ उनका यहाँ एक स्थल उपस्थित किया जाता है। विज्ञानाद्वैतकी समीक्षा करते हुए वे उसमें दोष प्रदर्शन करते हैं। लिखा है[1] कि 'विज्ञप्तिमात्रताकी सिद्धि यदि साध्य और साधनके ज्ञानसे की जाती है तो अद्वैतकी स्वीकृतिके कारण न साध्य सम्भव है और न हेतु, अन्यथा प्रतिज्ञादोष और हेतुदोष प्राप्त होंगे।' समन्तभद्रके इस दोषापादनसे स्पष्ट है कि वे प्रतिज्ञादोष और हेतुदोष जैसे अनुमानदोषोंसे सुपरिचित थे और वे उन्हें मानते थे। तथा इन दोषोंद्वारा एकान्तवाद साधक अनुमानोंको दूषित अनुमान (अनुमानाभास) बतलाते थे। अतः समन्तभद्रके उक्त प्रतिपादनपरसे इतना तो कहा ही जा सकता है कि उन्हें प्रतिज्ञादोष (प्रतिज्ञाभास—पक्षाभास) और हेतुदोष (हेत्वाभास) ये दो प्रकारके अनुमाना

---

१ साध्यसाधनविज्ञप्तेर्यदि विज्ञप्तिमात्रता।
न साध्यं न च हेतुश्च प्रतिज्ञाहेतुदोषतः ॥
—आप्तमी॰ का॰ ८०।

भास स्वीकृत है। साध्य सिद्धिमें दृष्टान्तको[1] भी अंग कहनेसे उसका दोष (दृष्टान्ताभास) भी उन्हें अभिप्रेत हो तो आश्चर्य नहीं। असिद्ध, विरुद्ध, व्यभिचार जैसे हेत्वाभासोंका तो उन्होंने[2] स्पष्ट उल्लेख किया है।

सिद्धसेननिरूपित अनुमानाभास

सिद्धसेनको[3] हम अनुमानाभासका स्पष्टतया विवेचक पाते हैं। यतः उन्होंने परार्थानुमानके पक्ष, हेतु और दृष्टान्त ये तीन अवयव स्वीकार किये हैं अतः उसके दोष भी उन्होंने तीन प्रकारके वर्णित किये हैं। वे ये हैं—(१) पक्षाभास, (२) हेत्वाभास और (३) दृष्टान्ताभास। पक्षाभासके सिद्ध और बाधित ये दो भेद करके बाधितके सिद्धसेनने[4] अनेक अर्थात् चार भेद बतलाये हैं—(१) प्रत्यक्षबाधित, (२) लिङ्गबाधित, (३) लोकबाधित और (४) स्ववचनबाधित। हेत्वाभास उन्होंने[5] तीन प्रकारके प्रतिपादित किये हैं—(१) असिद्ध, (२) विरुद्ध और (३) अनैकान्तिक। वैशेषिक और बौद्ध भी यही तीन हेत्वाभास मानते हैं और त्रैविध्यका उपपादन वे यों करते हैं कि यतः हेतु त्रिरूप है, अतः एक-एक रूपके अभावमें उक्त तीन ही हेत्वाभास सम्भव हैं।

यहाँ प्रश्न हो सकता है कि हेतुका त्रैरूप्य लक्षण माननेके कारण उनके अभावमें वैशेषिक और बौद्धोंका त्रिविध हेत्वाभास प्रतिपादन युक्त है। पर जैन तार्किकोंने एकमात्र अन्यथानुपपत्तिको ही हेतुलक्षण स्वीकार किया है। स्वयं सिद्धसेनने 'अन्यथानुपपन्नत्वं हेतोर्लक्षणमीरितम्' शब्दों द्वारा अन्यथानुपपन्नत्वको ही हेतुका लक्षण बतलाया है। अतः उनके अनुसार हेत्वाभास एक होना चाहिए, तीन नहीं? इसका उत्तर स्वयं सिद्धसेनने[6] युक्तिपुरस्सर यह दिया है कि चूंकि अन्यथानु-

---

१ दृष्टान्तसिद्धावुभयोर्विवादे साध्यं प्रसिद्ध्येन्न तु तादृगस्ति।
नयः स दृष्टान्तसमर्थनस्ते।
—स्वयम्भू० का ५५ तथा ५३।

२ युक्त्य० का० १७, १८, २९।

३ न्यायाव० का० २१, २२, २३, २४, २५।

४ प्रतिपाद्यस्य यः सिद्धः पक्षाभासोऽक्षलिङ्गतः।
लोकस्ववचनाभ्यां च बाधितोऽनेकधा मतः॥
—वही, का० २१।

५, ६ अन्यथानुपपन्नत्वं हेतोर्लक्षणमीरितम्।
तदप्रतीतिसन्देह-विपर्यासैस्तदाभता॥
असिद्धस्त्वप्रतीतो यो योऽन्यथैवोपपद्यते।
विरुद्धो योऽन्यथाप्यत्र युक्तोऽनैकान्तिकः स तु॥
—वही, का० २२, २३।

पपत्ति या अन्यथानुपपन्नत्वका अभाव तीन तरहसे होता है। या तो उसकी प्रतीति न हो, या उसमें सन्देह हो और या उसका विपर्यास हो। प्रतीति न होने पर हेतु असिद्ध, सन्देह होनेपर अनैकान्तिक और विपर्यास होनेपर विरुद्ध कहा जाता है। अतएव तीन हेत्वाभासोंका प्रतिपादन भी जैन परम्परामें सम्भव है।

सिद्धसेनने[1] दृष्टान्तदोषोंको प्रथमतः दो वर्गोंमें विभक्त किया है—(१) साधर्म्यदृष्टान्तदोष और (२) वैधर्म्यदृष्टान्तदोष। तथा इन दोनोंको उन्होंने छह-छह प्रकारका बतलाया है। इनमें साध्यविकल, साधनविकल और उभयविकल ये तीन साधर्म्यदृष्टान्तदोष तथा साध्याव्यावृत्त, साधनाव्यावृत्त और उभयाव्यावृत्त ये तीन वैधर्म्यदृष्टान्तदोष न्यायप्रवेश जैसे[2] हैं। परन्तु सन्दिग्धसाध्य, सन्दिग्धसाधन और सन्दिग्धोभय ये तीन साधर्म्यदृष्टान्तदोष तथा सन्दिग्धसाध्यव्यावृत्ति, सन्दिग्धसाधनव्यावृत्ति और सन्दिग्धोभयव्यावृत्ति ये तीन वैधर्म्यदृष्टान्तदोष धर्मकीर्तिकी[3] तरह कथित हैं। न्यायप्रवेशगत अनन्वय और विपरीतान्वय ये दो साधर्म्यदृष्टान्ताभास तथा अव्यतिरेक और विपरीतव्यतिरेक ये दो वैधर्म्यदृष्टान्ताभास एवं धर्मकीर्तिस्वीकृत अप्रदर्शितान्वय और अप्रदर्शितव्यतिरेक ये दो साधर्म्य-वैधर्म्यदृष्टान्ताभास सिद्धसेनको मान्य नहीं हैं। इस सन्दर्भमें सिद्धर्षिगणीकी[4] अतिरिक्त दृष्टान्ताभास समीक्षा द्रष्टव्य है। सिद्धसेनने इन दृष्टान्तदोषोंको यद्यपि 'न्यायविदीरिता' शब्दों द्वारा न्यायवेत्ता प्रतिपादित कहा है फिर भी उनका अपना भी चिन्तन है। यही कारण है कि उन्होंने न तो न्यायप्रवेशकी तरह पाँच-पाँच और न धर्मकीर्तिकी तरह नौ-नौ साधर्म्य-वैधर्म्यदृष्टान्ताभास स्वीकार किये। हाँ, अपने अभिमत उक्त छह-छह दृष्टान्ताभासोंके चयनमें उन्होंने इन दोनोंसे मदद अवश्य ली है और उसकी सूचना 'न्यायविदीरिता' कह कर की है।

अकलङ्कीय अनुमानदोपनिरूपण

जैन न्यायमें अकलङ्क ऐसे सूक्ष्म एवं प्रतिभाशाली चिन्तक हैं, जिन्होंने अनुमानाभासोंकी मान्यतामें नया चिन्तन प्रस्तुत किया है। अकलङ्कके पूर्व अनुमानदोषनिर

---

१ साधर्म्येणात्र दृष्टान्तदोषा न्यायविदीरिताः ।
अपलक्षणहेतूत्थाः साध्यादिविकलादयः ॥
वैधर्म्येणात्र दृष्टान्तदोषा न्यायविदीरिताः ।
साध्यसाधनयुग्मानामनिवृत्तेश्च संशयात् ॥
—न्यायाव० का० २४, २५।

२ न्यायप्र० पृ० ५-७।

३ न्यायबि० पृ० ९४-१०१।

४ न्यायाव० टी० का० २४, पृ० ५७।

अनुमानके तीन अवयवोंकी मान्यताके कारण तीन अनुमानाभास स्वीकार करते थे। पर अकलङ्कदेव अनुमानके मूलत दो ही अवयव (अङ्ग) मानते हैं—(१) साध्य और (२) साधन। तीसरा अवयव दृष्टान्त तो अल्पज्ञोंकी दृष्टिसे अथवा किसी स्थलविशेपकी अपेक्षासे ही प्रतिपादित है। अत दृष्टान्ताभास नामक तीसरे अनुमानाभासका निरूपण सार्वजनीन नहीं है। अकलङ्ककी उक्त मान्यतानुसार अनुमानाभास निम्न प्रकार हैं —

साध्याभास

अकलङ्कसे पूर्व प्रतिज्ञाभास या पक्षाभास नामका अनुमानाभास माना जाता था। पर अकलङ्कने उसके स्थानमें साध्याभास नाम रखा है। अकलङ्कको यह नामपरिवर्तन अथवा सुधार क्यों अभीष्ट हुआ ? पूर्व नामोंको ही उन्होंने क्यों नहीं रहने दिया ? यह एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न है। हमारा विचार है कि अनुमानके प्रयोजक तत्त्व मुख्यतया दो ही हैं—(१) जिसकी सिद्धि करना है अर्थात् साध्य और (२) जिससे उसकी सिद्धि करना है अर्थात् साधन। अनुमानका लक्षण[1] (साधनात्साध्यविज्ञानमनुमानम्) भी इन दो ही तत्त्वोंपर आधारित माना गया है। अत अनुमानके सन्दर्भमें साधनदोषोंकी तरह साध्यदोष (असाध्य या साध्याभास) ही विचारणीय है। जब अबाधित अभिप्रेत और अप्रसिद्धको साध्य कहा जाता है[2] तो बाधित, अनभिप्रेत और सिद्धको साध्याभास ही माना जायेगा[3], क्योंकि वह (बाधितादि साध्य) साधनका विषय नहीं होता। जो बाधित है वह सिद्ध नहीं किया जा सकता, अनभिप्रेतको सिद्ध करनेमें अतिप्रसङ्गदोष है और प्रसिद्धको सिद्ध करना निरर्थक है[4]। अत अकलङ्कदेवका उक्त संशोधन (नामपरिवर्तन) इस सूक्ष्म तथ्यका प्रकाशक जान पड़ता है। अतएव प्रतिज्ञाभास या पक्षाभास नामकी अपेक्षा अनुमानाभासके प्रथम भेदका नाम साध्याभास अधिक अनुरूप है। यों तो साध्यको अनुमेयकी तरह पक्ष और साध्याभासको अनुमेयाभासकी भाँति पक्षाभास या प्रतिज्ञाभास भी कहा जा सकता है। पर सूक्ष्म विचारकी दृष्टिमें साध्याभास नाम ही उपयुक्त है।

अकलङ्कदेवने साध्य और साध्याभासकी जो परिभाषाएँ प्रस्तुत की हैं उनके अनुसार साध्याभासके मूल तीन भेद फलित होते हैं—(१) अशक्य (विरुद्ध—

१ साधनात्साध्यविज्ञानमनुमानं तदत्यये।
—न्यायवि० का० १७०, अनुमान प्रस्ताव (अकलं० ग्र० पृ० ५७।

२, ३ साध्यं शक्यमभिप्रेतमप्रसिद्धं ततोऽपरम्।
साध्याभासं विरुद्धादि साधनाविषयत्वत ॥
—वही, का० १७२, अनु० प्र० अक० ग्र० पृ० ५३।

४ तदविषयत्वं च निराकृतस्याशक्यत्वादनभिप्रेतस्यातिप्रसङ्गात्प्रसिद्धस्य च वैयर्थ्यात्।
—वादिराज, न्यायवि०, वि० २१३, पृ० २२५।

पपत्ति या अन्यथानुपपन्नत्वका अभाव तीन तरहसे होता है। या तो उसकी प्रतीति न हो, या उसमें सन्देह हो और या उसका विपर्यास हो। प्रतीति न होने पर हेतु असिद्ध, सन्देह होनेपर अनैकान्तिक और विपर्यास होनेपर विरुद्ध कहा जाता है। अतएव तीन हेत्वाभासोंका प्रतिपादन भी जैन परम्परामें सम्भव है।

सिद्धसेनने[1] दृष्टान्तदोषोंको प्रथमतः दो वर्गोंमें विभक्त किया है—(१) साधर्म्यदृष्टान्तदोष और (२) वैधर्म्यदृष्टान्तदोष। तथा इन दोनोंको उन्होंने छह-छह प्रकारका बतलाया है। इनमें साध्यविकल, साधनविकल और उभयविकल ये तीन साधर्म्यदृष्टान्तदोष तथा साध्याव्यावृत्त, साधनाव्यावृत्त और उभयाव्यावृत्त ये तीन वैधर्म्यदृष्टान्तदोष न्यायप्रवेश जैसे[2] हैं। परन्तु सन्दिग्धसाध्य, सन्दिग्धसाधन और सन्दिग्धोभय ये तीन साधर्म्यदृष्टान्तदोष तथा सन्दिग्धसाध्यव्यावृत्ति, सन्दिग्धसाधनव्यावृत्ति और सन्दिग्धोभयव्यावृत्ति ये तीन वैधर्म्यदृष्टान्तदोष धर्मकीर्तिकी[3] तरह कथित हैं। न्यायप्रवेशगत अनन्वय और विपरीतान्वय ये दो साधर्म्यदृष्टान्ताभास तथा अव्यतिरेक और विपरीतव्यतिरेक ये दो वैधर्म्यदृष्टान्ताभास एवं धर्मकीर्ति स्वीकृत अप्रदर्शितान्वय और अप्रदर्शितव्यतिरेक ये दो साधर्म्य-वैधर्म्यदृष्टान्ताभास सिद्धसेनको मान्य नहीं हैं। इस सन्दर्भमें सिद्धर्षिगणीकी[4] अतिरिक्त दृष्टान्ताभास समीक्षा द्रष्टव्य है। सिद्धसेनने इन दृष्टान्तदोषोंको यद्यपि 'न्यायविदीरित' शब्दों द्वारा न्यायवेत्ता प्रतिपादित कहा है फिर भी उनका अपना भी चिन्तन है। यही कारण है कि उन्होंने न तो न्यायप्रवेशकी तरह पाँच-पाँच और न धर्मकीर्तिकी तरह नौ-नौ साधर्म्य-वैधर्म्यदृष्टान्ताभास स्वीकार किये। हाँ, अपने अङ्गीकृत उक्त छह-छह दृष्टान्ताभासोंके चयनमें उन्होंने इन दोनोंसे मदद अवश्य ली है और उनकी सूचना 'न्यायविदीरित' कह कर की है।

अकलङ्कीय अनुमानदोषनिरूपण

जैन न्यायमें अकलङ्क ऐसे सूक्ष्म एवं प्रतिभाशाली चिन्तक हैं, जिन्होंने अनुमानाभासोंकी मान्यतामें नया चिन्तन प्रस्तुत किया है। अकलङ्कसे पूर्व जैन तार्किक

---

१ साधर्म्येणात्र दृष्टान्तदोषा न्यायविदीरिताः ।
अपलक्षणहेतूत्थाः साध्यादिविकलादयः ॥
वैधर्म्येणात्र दृष्टान्तदोषा न्यायविदीरिताः ।
साध्यसाधनयुग्मानामनिवृत्तेश्च संशयात् ॥
—न्यायाव० का० २४, २५।

२ न्यायप्र० पृ० ५-७।

३ न्यायबि० पृ० ९४-१०१।

४ न्यायाव० टी० का० २४, पृ० ५७।

अनुमानके तीन अवयवोंकी मान्यताके कारण तीन अनुमानाभास स्वीकार करते थे। पर अकलङ्कदेव अनुमानके मूलतः दो ही अवयव (अङ्ग) मानते हैं—(१) साध्य और (२) साधन। तीसरा अवयव दृष्टान्त तो अल्पज्ञोंकी दृष्टिसे अथवा किसी स्थलविशेषकी अपेक्षासे ही प्रतिपादित है। अतः दृष्टान्ताभास नामक तीसरे अनुमानाभासका निरूपण सार्वजनीन नहीं है। अकलङ्ककी उक्त मान्यतानुसार अनुमानाभास निम्न प्रकार हैं —

साध्याभास

अकलङ्कसे पूर्व प्रतिज्ञाभास या पक्षाभास नामका अनुमानाभास माना जाता था। पर अकलङ्कने उसके स्थानमें साध्याभास नाम रखा है। अकलङ्कको यह नामपरिवर्तन अथवा सुधार क्यों अभीष्ट हुआ? पूर्व नामोंका ही उन्होंने क्यों नहीं रहने दिया? यह एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न है। हमारा विचार है कि अनुमानके प्रयोजक तत्त्व मुख्यतया दो ही हैं—(१) जिसकी सिद्धि करना है अर्थात् साध्य और (२) जिससे उसकी सिद्धि करना है अर्थात् साधन। अनुमानका लक्षण[1] (साधनात्साध्यविज्ञानमनुमानम्) भी इन दो ही तत्त्वोंपर आधारित माना गया है। अतः अनुमानके सन्दर्भमें साधनदोषोंकी तरह साध्यदोष (असाध्य या साध्याभास) ही विचारणीय हैं। जब अबाधित, अभिप्रेत और अप्रसिद्धको साध्य कहा जाता है[2] तो बाधित, अनभिप्रेत और सिद्धको साध्याभास ही माना जायेगा[3], क्योंकि वह (बाधितादि साध्य) साधनका विषय नहीं होता। जो बाधित है वह सिद्ध नहीं किया जा सकता, अनभिप्रेतको सिद्ध करनेमें अतिप्रसङ्गदोष है और प्रसिद्धको सिद्ध करना निरर्थक है[4]। अतः अकलङ्कदेवका उक्त संशोधन (नामपरिवर्तन) इस सूक्ष्म तथ्यका प्रकाशक जान पड़ता है। अतएव प्रतिज्ञाभास या पक्षाभास नामकी अपेक्षा अनुमानाभासके प्रथम भेदका नाम साध्याभास अधिक अनुरूप है। यों तो साध्यको अनुमेयकी तरह पक्ष और साध्याभासको अनुमेयाभासकी भाँति पक्षाभास या प्रतिज्ञाभास भी कहा जा सकता है। पर सूक्ष्म विचारकी दृष्टिसे साध्याभास नाम ही उपयुक्त है।

अकलङ्कदेवने साध्य और साध्याभासकी जो परिभाषाएँ प्रस्तुत की हैं उनके अनुसार साध्याभासके मूल तीन भेद फलित होते हैं—(१) अशक्य (विरुद्ध—

१ साधनात्साध्यविज्ञानमनुमानं तदत्यये।
—न्यायवि० का० १७०, अनुमान प्रस्ताव (अकलं० ग्रं० पृ० ५२।

२, ३ साध्यं शक्यमभिप्रेतमप्रसिद्धं ततोऽपरम्।
साध्याभासं विरुद्धादि साधनाविषयत्वतः॥
—वही, का० १७२, अनु० प्र० अक० ग्र० पृ० ५३।

४ तद्विषयत्वं च निराकृतस्याशक्यत्वादनभिप्रेतस्यातिप्रसंगात्प्रसिद्धस्य च वैयर्थ्यात्।
—वादिराज, न्यायवि०, वि० २।३, पृ० २२५।

बाधित—निराकृत), (२) अनभिप्रेत और (३) प्रसिद्ध। पर सिद्धसेन अनभिप्रेत भेद नहीं मानते, शेष सिद्ध और बाधित ये दो ही भेद स्वीकार करते हैं। किन्तु जब साध्यको वादीकी अपेक्षा अभिप्रेत—इष्ट होना भी आवश्यक है, अन्यथा अनिष्ट भी साध्य हो जाएगा, तब अनभिप्रेत (अनिष्ट) को साध्याभासका एक प्रकार मानना ही चाहिए। उदाहरणार्थ शब्दकी अनित्यता असिद्ध और अबाध (अबाधित) होनेपर भी मीमांसकके लिए वह अनिष्ट है। अतः मीमांसककी अपेक्षा वह अनिष्ट साध्याभास है। तात्पर्य यह कि साध्याभासके लक्षणमें अनभिप्रेत विशेषण वाच्छनीय है और तब साध्याभास द्विविध न होकर त्रिविध होगा। साध्याभासके सम्बन्धमें अकलंककी सिद्धसेनसे दूसरी भिन्नता यह है कि अकलंकने बाधित साध्याभासके अवान्तर भेदोंका उल्लेख नहीं किया, जबकि सिद्धसेनने उसके चार भेदोंका निर्देश किया है, जैसा कि हम ऊपर देख चुके हैं। हाँ, अकलंकके व्याख्याकार वादिराजने[1] अवश्य उनके 'विरुद्धादि' पदका व्याख्यान करते हुए बाधित (विरुद्ध–निराकृत) के प्रत्यक्षनिराकृत, अनुमाननिराकृत और आगमनिराकृत ये तीन भेद वर्णित किये हैं। इनमें आदिके दो भेद सिद्धसेनके उपर्युक्त चार भेदोंमें भी पाये जाते हैं। पर 'आगमनिराकृत' नामका भेद उनमें नहीं है और यह नया है। वादिराजने सिद्धसेनके स्ववचनबाधित और लोकबाधित इन दो बाधितोंको यहाँ छोड़ दिया है। परन्तु अपनी स्वतन्त्र कृति प्रमाणनिर्णयमें[2] उक्त तीनों बाधितोंके अतिरिक्त इन दोका भी उन्होंने कथन किया है और इस प्रकार पाँच बाधितोंका वहाँ निर्देश है।

साधनाभास

जैन तार्किक हेतु (साधन) का केवल एक अन्यथानुपपन्नत्व—अन्यथानुपपत्ति रूप मानते हैं। अतः यथार्थमें उनका[3] हेत्वाभास (साधनाभास) भी उनके अभावमें एक होना चाहिए, उससे अधिक नहीं? इसका समाधान यों तो सिद्धसेनने

१ विरुद्धादि। विविधं रुद्धं निराकृतं प्रत्यक्षादिना विरुद्धम्। अनेनाप्यनुक्तम्। न हि प्रत्यक्षादिनिराकृतं साधयितुम्। तत्र प्रत्यक्षनिराकृतं तद्देव अनुमाननिराकृतं आगमनिराकृतमपि।
—न्यायवि० वि० २।३, पृ० १२।

२ तत्र प्रत्यक्षविरुद्धं अनुमानविरुद्धं आगमविरुद्धं स्ववचनविरुद्धं लोकविरुद्धं यथा।
—प्रमाणनि० पृ० ६१, ६७।

३ हेतोरन्यथानुपपत्त्येकलक्षणत्वात्। तस्य चैकविधत्वात् तदाभासानामनेकविधत्वम् प्रसक्तोऽपि, बहुविधत्वं कथ्यते तत्कथमिति चेत्।
—न्या० वि० वि० २।१९६, पृ० २२५।

किया ही है। पर अकलकने बडी योग्यता और सूक्ष्मतासे उत्तर दिया है। वे[1] कहते हैं कि जो साधन अन्यथानुपपन्न नहीं है वह साधनाभास है और वह वस्तुत एक ही है और वह है अकिंचित्कर। विरुद्ध, असिद्ध और सन्दिग्ध ये उसीका विस्तार हैं। यत अन्यथानुपपत्तिका अभाव अनेक तरहसे होता है, अत हेत्वाभास अनेक प्रकारका सम्भव है। अन्यथानुपपत्तिका निश्चय न होनेपर असिद्ध, विपर्यय होनेपर विरुद्ध और सन्देह होनेपर सन्दिग्ध ये तीन हेत्वाभास कहे जा सकते हैं। अतएव जो हेतु त्रिलक्षणात्मक होनेपर भी अन्यथानुपपन्नत्वसे रहित हैं उन सबको अकलक अकिंचित्कर हेत्वाभास मानते हैं।

यहा प्रश्न है कि पूर्वसे अप्रसिद्ध एव अकलङ्कदेवद्वारा स्वीकृत इस अकिंचित्कर हेत्वाभासका आधार क्या है ? क्योकि वह न तो कणाद और दिग्नाग कथित तीन हेत्वाभासोंमें है और न गौतम स्वीकृत पाँच हेत्वाभासोंमें ? श्री प० सुखलालजी सघवीका[2] विचार है कि जयन्तभट्टने अपनी न्यायमजरी (पृ० १६३)म अन्यथा सिद्ध अपरपर्याय अप्रयोजक नामक एक नये हेत्वाभासको माननेका पूर्वपक्ष किया है जो वस्तुत जयन्तके पहले कभीसे चला आता हुआ जान पडता है। अतएव यह सम्भव है कि अप्रयोजक या अन्यथासिद्ध मानने वाले किसी पूर्ववर्ती तार्किक ग्रन्थके आधारपर ही अकलकने अकिंचित्कर हेत्वाभासकी अपने ढगसे नयी सृष्टि की हो।' निस्सन्देह जयन्तभट्टने[3] अप्रयोजक हेत्वाभासके सम्बन्धमें कुछ विस्तारपूर्वक विचार किया ह। वे पहले तो उसे छठवा ही हेत्वाभास मान लेते हैं और यहा तक कह देते हैं कि विभागसूत्रका उल्लघन होता है तो होने दो, सुस्पष्ट दृष्ट अप्रयोजक (अन्यथासिद्ध) हेत्वाभासका अपन्हव नहीं किया जा सकता और न वस्तुका अतिक्रमण। किन्तु पीछे उसे वे असिद्धवर्गमें ही शामिल कर लेते हैं। अन्तमें 'अथवा'के साथ कहा है कि अन्यथासिद्धत्व (अप्रयोजकत्व) सभी हेत्वाभासवृत्ति सामान्य रूप ह, छठवा हेत्वाभास नहीं। इसी अन्तिम अभिमतको

---

१ (क) साधन प्रकृताभावेऽनुपपन्न ततोऽपर।
विरुद्धासिद्धसन्दिग्धा अकिंचित्करविस्तरा॥
—न्यायवि० २।१०१ १०२, पृ० १२७-१३०।
(ख) अन्यथासम्भवाभावभेदात्स बहुधा स्मृत।
विरुद्धासिद्धसन्दिग्धैरकिंचित्करविस्तरै॥
—वही, २।१९७, पृ० २२५।
(ग) अन्यथानुपपन्नत्वरहिता ये त्रिलक्षणा।
अकिंचित्कारकान् सर्वास्तान् वयं संगिरामहे॥
—वही, २।२०२, पृ० २३२।
२ प्र० मी० भाषाटि० पृ० ९७।
३ न्या० म० पृ० १६३ १६६ (प्रमेयप्रकरण)।

न्यायकलिका[1] (पृ० १५)में भी स्थिर रखा है। श्रीसंघवीजीकी सम्भावनापर जब हमने अकलङ्कसे पूर्ववर्ती तार्किक ग्रन्थोंमें 'अन्यथासिद्ध'का अन्वेषण किया तो उद्योतकरके न्यायवार्त्तिकमें[2] 'अन्यथासिद्ध' हेत्वाभास मिल गया, जिसे उन्होंने असिद्धके तीन भेदोंमें परिगणित किया है। वस्तुतः अन्यथासिद्ध एक प्रकारका अप्रयोजक या अकिंचित्कर हेत्वाभास ही है। जो हेतु निरर्थक हो—स्वीकृत साध्यको सिद्ध न कर सके उसे अन्यथासिद्ध अथवा अकिंचित्कर कहना चाहिए। अन्यथासिद्धत्व अन्यथानुपपन्नत्वके अभाव—अन्यथा-उपपन्नत्वके अतिरिक्त कुछ नहीं है। यही कारण है कि अकलङ्कदेवने[3] सर्वलक्षण (त्रिरूप अथवा पञ्चरूपादि) सम्पन्न होने पर भी अन्यथानुपपन्नत्वरहित हेतुओंको अकिंचित्कर 'हेत्वाभासकी संज्ञा दी है। अतएव अकलङ्कने उद्योतकरके अन्यथासिद्धत्वके आधारपर अकिंचित्कर हेत्वाभासकी परिकल्पना की हो तो आश्चर्य नहीं। प्रमाणसंग्रहगत[4] प्रतिपादनसे प्रतीत होता है कि वे अकिंचित्करको पृथक् हेत्वाभास भी मानते हैं, क्योंकि असिद्धादि अन्य तीन हेत्वाभासोंके लक्षणोंके साथ उसका भी स्वतन्त्र लक्षण दिया है।

इस हेत्वाभासके सम्बन्धमें डा० महेन्द्रकुमार जैनका[5] मत है कि 'अकलङ्कदेव का अभिप्राय अकिंचित्करको स्वतन्त्र हेत्वाभास माननेके विषयमें सुदृढ़ नहीं मालूम होता। वे लिखते हैं कि सामान्यसे एक असिद्ध हेत्वाभास है। वही विरुद्ध, असिद्ध और सन्दिग्धके भेदसे अनेक प्रकारका हो जाता है। फिर लिखा है कि अन्यथानुपपत्तिरहित जितने त्रिलक्षण हैं उन्हें अकिंचित्कर कहना चाहिए। इससे ज्ञात होता है कि वे सामान्यसे हेत्वाभासोंकी असिद्ध या अकिंचित्कर संज्ञा रखना चाहते हैं।'

इसमें सन्देह नहीं कि अकिंचित्करका स्वतन्त्र हेत्वाभास माननेमें भले ही अकलङ्कदेवका अभिप्राय सुझाव उसे सामान्य हेत्वाभास और विरुद्धादिको उसीका

1 अन्यथासिद्धत्वं च सद्धेतुसामग्र्यामनुगमे रूपम्। अनित्यः परमाणुः ... सत्त्व ... एव।
—न्यायक० पृ० १५।

2 साधनं यद्धेतोर्भवति असाधारणानैकान्तिकम्, आश्रयासिद्धं, अन्यथासिद्धमपि।
—न्या० वा० १।२।८, पृ० १७१।

3 अकिञ्चित्करान् सामान्यान् वदं संगिरामहे।
—न्या० वि० २।२०२, पृ० २३२।

4 स विरुद्धोऽन्यथाभावात् असिद्धः सर्वथात्ययात्।
व्यभिचारी विपक्षेऽपि सिद्धेऽकिञ्चित्करोऽखिलः॥
—प्र० सं० ४८, ४९, अ० ग्र० पृ० १११। तथा सि० वि० ६।३२, पृ० ४३१।

5 प्रस्तावना पृ० ३०, न्या० वि० वि० द्वितीय भाग।

विस्तार बतलानेकी ओर है। पर उन्होंने सामान्यसे एक असिद्ध हेत्वाभास नहीं माना और न ही विरुद्ध, असिद्ध तथा सन्दिग्धको उसका प्रकार कहा है। ज्ञात होता है कि डा० जैनको अकलंकदेवके 'अन्यथासम्भवाभावभेदात् स बहुधा स्मृत'[1] इस वाक्यमें आये 'स' शब्दसे पूर्ववर्ती कारिकावाक्य 'असिद्धश्चाक्षुषत्वादि शब्दानित्यत्वसाधने'[2] में आगत 'असिद्ध'के ग्रहणका भ्रम हुआ है। यथार्थमें 'स' शब्दसे वहाँ सामान्य हेत्वाभासका ग्रहण अकलंकदेवको विवक्षित है। उनके व्याख्याकार वादिराजने[3] भी 'स हेत्वाभासो बहुधा बहुप्रकार स्मृत मत' इस प्रकारसे 'स' शब्दका सामान्य हेत्वाभास व्याख्यान किया है, असिद्ध नहीं। दूसरे, जब प्रकारोंमें भी 'असिद्ध' अभिहित है तब असिद्धका असिद्ध प्रकार कैसे सम्भव है? यह एक असंगति है। अत अकलङ्कको विरुद्धादि अकिंचित्कर नामक सामान्य हेत्वाभासके तो प्रकार अभिमत हैं, पर असिद्धके नहीं। उसे स्वतन्त्र हेत्वाभास माननेकी अपेक्षा चार हेत्वाभास स्वीकार कर अकलङ्कने उनका निम्न प्रकार विवेचन किया है—

(१) असिद्ध[4]—जो पक्षमें सर्वथा पाया ही न जाए अथवा जिसका साध्यके साथ अविनाभाव न हो वह असिद्ध है। जैसे—शब्द अनित्य है, क्योंकि चाक्षुष है। यहाँ चाक्षुषत्व हेतु शब्दमें नहीं रहता, शब्द तो श्रावण है। अत असिद्ध है।

(२) विरुद्ध[5]—जो साध्यके अभावमें पाया जाए अथवा साध्याभावके साथ जिसका व्याप्ति हो वह विरुद्ध है। जैसे—सब पदार्थ क्षणिक हैं, क्योंकि सत् हैं। यहाँ सत्त्व हेतु सर्वथा क्षणिकत्वसे विरुद्ध कथंचित क्षणिकत्वके साथ व्याप्ति रखता है। अत विरुद्ध है।

---

१ न्या० वि० वि० २।१९७।

२ वही २।१९६।

३ अन्यथासम्भवाभाव अन्यथानुपपन्नत्वस्याभाव तस्य भेदा नानार्थं तस्मात् स हेत्वाभासो बहुधा बहुप्रकार स्मृतो मत इति। कैः कृत्वा स बहुधेत्याह विरुद्धासिद्धसन्दिग्धैः किंचित्करविस्तरैः।
—वही, २।१९७।

४ असिद्ध सर्वथात्ययात्।
—प्र० सं० का० ४८, पृ० १११।
असिद्धश्चाक्षुषत्वादि शब्दानित्यत्वसाधने।
—न्या० वि० २।१९६।

५ स विरुद्धोऽन्यथाभावात्।
—प्र० स० का० ४८, पृ० १११।
साध्याभावसम्भवनियमनिर्णयैकलक्षणो विरुद्धो हेत्वाभास। यथा नित्य शब्द सत्त्वात् इति।
—वही, स्वो० वृ० ४०, पृ० १०७

(३) सन्दिग्ध[1]—जो पक्ष और सपक्षकी तरह विपक्षमें भी रहे वह सन्दिग्ध अर्थात् अनैकान्तिक है। जैसे - यह सर्वज्ञ नहीं है क्योंकि वक्ता है। वक्तृत्व हेतुके असर्वज्ञकी तरह सर्वज्ञमें भी रहनेका सन्देह है। अतः यह सन्दिग्ध है।

(४) अकिंचित्कर[2]—जिसका साध्य सिद्ध हो, अथवा अन्यथानुपपत्तिसे रहित जितने भी हेतु हों वे सब अकिंचित्कर हैं। जैसे—शब्द विनाशी है, क्योंकि कृतक है। अथवा यह अग्नि है, क्योंकि धूम है। कृतकत्व और धूम हेतु प्रत्यक्षसिद्ध विनाशित्व और अग्निको सिद्ध करनेसे अकिंचित्कर हैं।

अकलंकने धर्मकीर्ति और अर्चट द्वारा उल्लिखित त्रैरूप्यके अभावमें होने वाले अज्ञात साधनाभासको असिद्धका एक भेद कहकर उसका असिद्धमें अन्तर्भाव किया है[3]। इसी प्रकार दिग्नागके[4] विरुद्धाव्यभिचारीका, जिसे उन्होंने अनैकान्तिकका एक भेद माना है, विरुद्धमें समावेश किया है। परस्परविरोधी दो हेतुओंका एक धर्मीमें प्रयोग होनेपर प्रथम हेतु विरुद्धाव्यभिचारी कहा जाता है। यह नैयायिकोंके प्रकरणसम (सत्प्रतिपक्ष) हेत्वाभास जैसा है। दोनों हेतु संशयजनक होनेसे दोनोंका समुच्चयरूप यह विरुद्धाव्यभिचारी अनैकान्तिक हेत्वाभास है[5]। धर्मकीर्तिने[6] इसे स्वीकार नहीं किया। उनका मत है कि जिस हेतुका त्रैरूप्य प्रमाणसे प्रसिद्ध है, उसके विरोधी हेतुका अवसर ही नहीं है। प्रशस्तपादका[7] मन्तव्य है कि उक्त हेत्वाभास संशयहेतु नहीं है, क्योंकि संशयका कारण विषयद्वैतदर्शन है। किन्तु समानासमान जातीय दो धर्मोंमें तुल्य बल होनेसे परस्पर विरोध है और इस विरोधके कारण वे (दोनों हेतु) केवल एकपक्षीय निर्णयानुत्पादक हैं, न कि संशय हेतु। दूसरे, वे तुल्यबल भी नहीं हैं क्योंकि उनमेंसे एकका साध्य बाधित हो जाता

---

१ व्यभिचारी विपक्षेऽपि । —प्र० सं० का० ४८, पृ० १११ ।
[illegible] । —वही, का० ४०, पृ० १०८ ।

२ सिद्धेऽकिञ्चित्करो हेतुः स्वयं साध्यव्यपेक्षया । —प्र० सं० का० ४८, पृ० ११० ।
सिद्धेऽर्थे [illegible] । —वही, का० ४८ पृ० १११ ।

३ साध्येऽपि कृतकत्वादिः अज्ञातः साधनाभासः । तदसिद्धः [illegible] ।
—प्र० सं० स्वो० वृ० ४४, पृ० ११० ।

४ न्या० प्र० पृ० ४ ५ ।

५ उभयोः संशयहेतुत्वाद् द्वावप्येतावेकोऽनैकान्तिकः समुदितावेव ।
—न्या० प्र० पृ० ५ ।

६ न्या० बि० पृ० ८६ ।

७ न, संशयो विषयद्वैतदर्शनात् । [illegible]
[illegible]
[illegible] विरुद्धमेव [illegible] ।
—प्रश० भा० पृ० ११६ ।

है। अत वह एक विरुद्धका भेद है—प्रत्यक्षादिविरुद्ध प्रतिज्ञाभासोमेसे कोई एक है। अकलङ्कका[1] मत है कि जो हेतु विरुद्धका अव्यभिचारी—विपक्षमे रहनेवाला है उसे विरुद्ध हेत्वाभास होना चाहिए। इस तरह अकलङ्कने सामान्यरूपमे एक अकिंचित्कर हेत्वाभास स्वीकार करके भी विशेषरूपसे उसके असिद्ध, विरुद्ध और अनैकान्तिक ये तीन तथा अकिंचित्कर सहित चार हेत्वाभासोका कथन किया है।

दृष्टान्ताभास

अकलङ्कने[2] प्रतिपाद्यविशेष अथवा स्थलविशेषकी आवश्यकताको ध्यानमें रखते हुए 'तदाभासा साध्यादिविकलादय' शब्दो द्वारा साध्यविकल आदि दृष्टान्ताभासोकी भी सूचना की है। परन्तु उनकी इस सक्षिप्त सूचनापरसे यह ज्ञात करना दुष्कर है कि उन्हें उसके मूल और अवान्तर भेद कितने अभिप्रेत हैं। पर हाँ, उनके व्याख्याकार वादिराजके व्याख्यान (विवरण) से उनके आशयको जाना जा सकता है। वादिराजने[3] धर्मकीर्तिकी[4] तरह उसके साधर्म्य और वैधर्म्य ये दो मूल भेद और उनके अवान्तर नौ-नौ प्रकार प्रदर्शित किये हैं। यथा—

१ साधर्म्यदृष्टान्ताभास

(१) साध्यविकल—शब्द नित्य है, क्योंकि अमूर्तिक है, कर्मकी तरह। यहा कर्म दृष्टान्त साध्यविकल है, कारण कि वह नित्य नही है, अनित्य है। यह साध्यविकल साधर्म्यदृष्टान्ताभासका निदर्शन है।

(२) साधनविकल—उक्त अनुमानमें परमाणुका दृष्टान्त देना साधनविकल साधर्म्यदृष्टान्ताभास है, क्योकि परमाणु अमूर्तिक नही है, मूर्तिक है।

(३) उभयविकल—उपर्युक्त अनुमानमें ही घटका दृष्टान्त उभयविकल साधर्म्यदृष्टान्ताभास है, क्योंकि घट न नित्य है और न अमूर्तिक, वह अनित्य तथा मूर्तिक है।

(४) सन्दिग्धसाध्य—सुगत रागादिमान है, क्योकि उत्पन्न होते हैं, रथ्यापुरुषकी तरह। यहा रथ्यापुरुषमें रागादिका निश्चय नही है, क्योंकि प्रत्यक्षादिसे उनका निश्चय करना अशक्य है।

(५) सन्दिग्धसाधन—यह मरणशील है, क्योंकि रागादिमान् है, रथ्यापुरुषकी तरह। यहा रथ्यापुरुषमें रागादिका पूर्ववत अनिश्चय है।

---

१ विरुद्धाव्यभिचारी स्याद् विरुद्धो विदुषा पुन ।
—प्र० स० का० ४७ तथा का० ४४ की स्वो० वृ० पृ० ११० १११।

२ न्या० वि० २।२११, पृ० २४०।

३ न्या० वि० २।२११, पृ० २४०-४१।

४. न्यायबि० पृ० ९४ १०२।

(६) सन्दिग्धोभय—यह असर्वज्ञ है, क्योंकि रागादिमान् है, रथ्यापुरुषकी तरह। यहां रथ्यापुरुषमें साध्य और साधन दोनोंका अनिश्चय है।

(७) अनन्वय—यह रागादिमान् है, क्योंकि वक्ता है, रथ्यापुरुषकी तरह यहां रथ्यापुरुषमें रागादिका सद्भाव सिद्ध न होनेसे अन्वय असिद्ध है।

(८) अप्रदर्शितान्वय—शब्द अनित्य है, क्योंकि कृतक है, घटकी तरह। यहां 'जो जो कृतक होता है वह वह अनित्य होता है' ऐसा अन्वय प्रदर्शित नहीं है क्योंकि कृतकत्वका ज्ञान होने पर भी अनित्यत्वका ज्ञान शक्य नहीं है।

(९) विपरीतान्वय—'जो अनित्य होता है वह कृतक होता है' ऐसा विपरीत अन्वय प्रस्तुत करना विपरीतान्वय साधर्म्यदृष्टान्ताभास है।

ये नौ साधर्म्यदृष्टान्ताभास हैं।

२ वैधर्म्यदृष्टान्ताभास

(१) साध्याव्यावृत्त—शब्द नित्य है, क्योंकि अमूर्त है, जो नित्य नहीं होता वह अमूर्त भी नहीं होता, जैसे परमाणु। यहां परमाणुका दृष्टान्त साध्याव्यावृत्त वैधर्म्यदृष्टान्ताभास है, कारण कि परमाणुओंमें साधनकी व्यावृत्ति होनेपर भी साध्य (नित्यत्व)की व्यावृत्ति नहीं है।

(२) साधनाव्यावृत्त—उक्त अनुमानमें कर्मका दृष्टान्त साधनाव्यावृत्त है, क्योंकि उसमें साध्य (नित्यत्व) की व्यावृत्ति रहने पर भी साधन (अमूर्तत्व) की अव्यावृत्ति है।

(३) उभयाव्यावृत्त—उक्त अनुमानमें ही आकाशका दृष्टान्त उभयाव्यावृत्त है, क्योंकि आकाशमें न साध्य (नित्यत्व) की व्यावृत्ति है—नित्यत्व रहता ही है और न अमूर्तत्वकी व्यावृत्ति है—वह उसमें रहता ही है।

(४) सन्दिग्धसाध्यव्यतिरेक—सुगत सर्वज्ञ है क्योंकि अनुपदेशाभिज्ञप्रमाण युक्तशास्त्रप्रणेता है, जो सर्वज्ञ नहीं वह उक्त प्रकारका प्रणेता नहीं, यथा वीथीपुरुष। यहां वीथीपुरुषमें सर्वज्ञत्वकी व्यावृत्ति अनिश्चित है, कारण कि परके मनकी बातको जानना दुष्कर है।

(५) सन्दिग्धसाधनव्यतिरेक—शब्द अनित्य है क्योंकि सत् है, जो अनित्य नहीं होता वह सत् भी नहीं होता जैसे गगन। गगनमें सत्त्वरूप साधनकी व्यावृत्ति सन्दिग्ध है क्योंकि वह अदृश्य है।

---

१ वादिराज, न्या० वि० वि० २।३७१, पृ० २४१। तुलना—न्यायप्र० पृ० ५-१०।

(६) सन्दिग्धोभयव्यतिरेक—हरिहरादि ससारी है क्योंकि अज्ञानादि युक्त है। जो ससारी नही है वह अज्ञानादि दोष युक्त नही है, यथा बुद्ध। बुद्धमें ससारित्व साध्य और अज्ञानादियुक्तत्व साधन दोनो की व्यावृत्ति अनिश्चित है।

(७) अव्यतिरेक—शब्द नित्य है, क्योंकि अमूर्त्त है, जो नित्य नही वह अमूर्त नही, यथा घडा। घडेमें साध्यकी व्यावृत्ति रहनेपर भी हेतु-की व्यावृत्ति तत्प्रयुक्त नही है, क्योंकि कर्म अनित्य होनेपर भी अमूर्त है।

(८) अप्रदर्शितव्यतिरेक—शब्द अनित्य है क्योंकि सत् है आकाशकी तरह। यहा वैधर्म्येण आकाशमें व्यतिरेक अप्रदर्शित है।

(९) विपरीतव्यतिरेक—उक्त अनुमानमें ही 'जो सत नहीं वह अनित्य भी नही, जैसे आकाश' यहा साधनकी व्यावृत्तिसे साध्यकी व्यावृत्ति दिखाई गयी है, जो विरुद्ध है।

इस तरह वादिराजने[1] अकलकके अभिप्रायका उद्घाटन करते हुए नौ साधर्म्यदृष्टान्ताभास और नौ ही वैधर्म्यदृष्टान्ताभास कुल अठारह दृष्टान्ताभासो का निरूपण किया है।

उपर्युक्त अध्ययनसे विदित होता कि अकलकके चिन्तनमें हमें साध्याभासके तीन भेदोंकी मान्यता, हेत्वाभाससामान्यका अकिंचित्कर नामकरण और उसके तीन अथवा चार प्रकारोंकी परिकल्पना तथा प्रतिपाद्यविशेषकी अपेक्षा साध्यविकलादि दृष्टान्ताभासोंकी स्वीकृति ये उपलब्धियाँ प्राप्त होती है। यह अवश्य है कि इन अनुमानदोषोका प्रतिपादन उनके उपलब्ध न्यायवाङ्मयमें क्रमबद्ध और एकत्र उपलब्ध नही होता—अतिसक्षेपमें ही उनपर प्रकाश प्राप्त होता है। सम्भव है अनुमानदोषोका निरूपण उन्हें उतना अभीष्ट न हो जितना समीक्ष्य दार्शनिक प्रमेयों (विषयो) की समीक्षा। सम्भवत इसीसे अकलकके न्यायवाङ्मयके तलदृष्टा माणिक्यनन्दिका ध्यान उधर गया और उन्होने अपने परीक्षामुखमें आभासोंका प्रतिपादक एक स्वतन्त्र ही परिच्छेद निर्मित कर उसमें अनुमानाभासों का क्रमबद्ध एव एकत्र विशद और विस्तृत निरूपण किया है।

माणिक्यनन्दिद्वारा अनुमानाभास प्रतिपादन

यद्यपि जैन परम्परामें जैनन्यायपर जल्पनिर्णय, त्रिलक्षणकदर्थन, वादन्याय, न्यायविनिश्चय सिद्धिविनिश्चय, प्रमाणसग्रह जैसे महत्त्वपूर्ण अनेक प्रकरणग्रन्थ लिखे

---

1. ते इमे पृथग्विधा अष्टादशापि दृष्टान्ताभासा।
—न्या० वि० वि० २।२११ पृ० २४१।

जा चुके थे पर गौतमके न्यायसूत्र, दिङ्नागशिष्य शङ्करस्वामीके न्यायप्रवेश और धर्मकीर्तिके न्यायबिन्दुकी तरह जैन न्यायको गद्यसूत्रमें निबद्ध करनेवाला कोई गद्यन्यायसूत्र ग्रन्थ नहीं रचा गया था। माणिक्यनन्दिने जैन न्यायको गद्यसूत्रोंमें निबद्ध करनेवाली अपनी महत्त्वपूर्ण कृति 'परीक्षामुख', जो जैन परम्पराका प्रथम 'न्यायसूत्र' है और जिसे उनके टीकाकार अनन्तवीर्यने[1] 'न्यायविद्या' एवं अकलङ्कके वचोम्भोधिका 'अमृत' कहा है, लिखकर उस कमीको पूरा किया है।

इसके अन्तिम परिच्छेदमें माणिक्यनन्दिने[2] अनुमानाभास प्रकरणको आरम्भ करते हुए उसे चार वर्गोंमें विभक्त किया है—(१) पक्षाभास, (२) हेत्वाभास, (३) दृष्टान्ताभास और (४) बालप्रयोगाभास। इनमें आदि तीन तो सभी तार्किकोंके द्वारा चर्चित एवं निरूपित हैं। किन्तु अन्तिम चतुर्थ बालप्रयोगाभास का निरूपण हम स्पष्टतया माणिक्यनन्दिके परीक्षामुखमें पाते हैं।

(१) त्रिविध पक्षाभास

माणिक्यनन्दिने[3] अकलङ्ककी तरह इसके तीन भेद बतलाये हैं—(१) अनिष्ट, (२) सिद्ध और (३) बाधित। बाधितके भी उन्होंने पाँच प्रकार निर्दिष्ट किये हैं। ये वही हैं जिनका वादिराजने भी निर्देश किया है और जिनके विषयमें हम ऊपर प्रकाश डाल आए हैं। पर माणिक्यनन्दिके उदाहरण इतने विशद और स्वाभाविक हैं कि अध्येता उनकी ओर स्वभावतः आकृष्ट होता है। यथा—

(१) प्रत्यक्षबाधित[4]—अग्नि अनुष्ण है, क्योंकि द्रव्य है जलकी तरह, यहाँ अग्निकी अनुष्णता स्पार्शनप्रत्यक्षसे बाधित है।

(२) अनुमानबाधित[5]—शब्द अपरिणामी है क्योंकि कृतक है, घटकी तरह। यहाँ शब्द परिणमनशील है, क्योंकि वह किया जाता है, जैसे घट। इस अनुमानसे उपर्युक्त पक्ष बाधित है।

---

१ अकलङ्कवचोऽम्भोधेरुद्दध्रे येन धीमता। न्यायविद्यामृतं तस्मै नमो माणिक्यनन्दिने ॥
—प्रमेयर० मा० पृ० ३ ४।

२ इदमनुमानाभासम्।
—परीक्षामु० ६।११।

३ तत्रानिष्टादिः पक्षाभासः। अनिष्टो मीमांसकस्यानित्यः शब्दः। सिद्धः श्रावणः शब्दः। बाधितः प्रत्यक्षानुमानागमलोकस्ववचनैः।
—वही, ६।१२-१५।

४ तत्र प्रत्यक्षबाधितो यथा—अनुष्णोऽग्निर्द्रव्यत्वाज्जलवत्।
—परीक्षामु० ६।१६।

५. अपरिणामी शब्दः कृतकत्वाद् घटवत्।
—वही, ६।१७।

(३) आगमबाधित[1]—धर्म परलोकमें असुखप्रद है, क्योंकि पुरुष द्वारा सम्पादित होता है, जैसे अधर्म। यहा पक्ष आगमबाधित है, क्योंकि आगममें धर्म सुखका और अधर्म दुखका देने वाला बतलाया गया है।

(४) लोकबाधित[2]—मनुष्यके शिरका कपाल पवित्र होता है, क्योंकि वह प्राणीका अवयव है, जैसे शख शुक्ति। यहा पक्ष लोकबाधित है, क्योंकि लोकमें प्राणीका अवयव होते हुए भी अमुक अवयव पवित्र और अमुक अपवित्र माना गया है।

(५) स्ववचनबाधित[3]—मेरी माता वन्ध्या है क्योंकि पुरुषसयोग होने पर भी गर्भ नही रहता, जैसे प्रसिद्धवन्ध्या। यहा पक्ष स्ववचनबाधित है, क्योंकि स्वय मौजूद होते हुए भी माताको वन्ध्या कह रहा है।

(२) चतुर्विध हेत्वाभास

माणिक्यनन्दिने[4] पूर्वसे प्रसिद्ध असिद्ध, विरुद्ध और अनैकान्तिक इन तीन हेत्वाभासोंमें अकलकोक्त अकिंचित्कर हेत्वाभासको भी सम्मिलित करके चार हेत्वाभासोंका अकलककी तरह ही वर्णन किया है। विशेष यह कि माणिक्यनन्दिने[5] असिद्धके स्वरूपासिद्ध और सन्दिग्धासिद्ध ये दो भेद स्पष्ट प्रतिपादित किये है। अज्ञातासिद्धका[6] भी उल्लेख करके उसका असिद्ध हेत्वाभासमें ही समावेश किया है और उसे साख्यकी अपेक्षा बतलाया है। उदाहरणार्थ साख्यके लिए 'शब्द परिणमनशील है, क्योंकि वह कृतक है' इस प्रकार कृतकत्व हेतुसे शब्दको परिणमनशील सिद्ध करना, अज्ञातासिद्ध है, क्योंकि साख्यने कभी शब्दको कृतक नहीं जाना, वह तो उसकी अभिव्यक्ति जानता है। अनैकान्तिकके[7] भी दो भेदों—(१) निश्चितविपक्षवृत्ति और (२) शकितविपक्षवृत्तिका माणिक्यनन्दिने निर्देश करके उनका स्वरूप प्रतिपादन किया है।

---

१ प्रेत्यासुखप्रदो धर्म पुरुषाश्रितत्वादधर्मवत्।
—परी०, ६।१८।

२ शुचि नरशिर कपालं प्राण्यगत्वाच्छंखशुक्तिवत्।
—वही ६।१९।

३ माता मे वन्ध्या पुरुषसंयोगेऽप्यगर्भत्वात् प्रसिद्धवन्ध्यावत्।
—वही, ६।२०।

४ हेत्वाभासा असिद्धविरुद्धानैकान्तिकाकिंचित्करा।
—प० मु० ६।२१।

५ वही ६।२२ २३, २४, २५, २६।

६ वही, ६।२७-२८।

७ वही, ६।३१ ३३।

इनकी[1] उल्लेखनीय विशेषता यह है कि इन्होंने अकिंचित्करके (१) सिद्ध और (२) बाधित ये दो भेद बतलाये हैं जबकि अकलंकने अकिंचित्करका एक 'सिद्ध' मात्र भेद बतलाया है और बाधितको साध्याभासोंमें ग्रहण किया है। यथार्थमें अकिंचित्कर हेत्वाभास[2] लक्षणविचारके समयमें ही होता है, वादके समय नहीं। वादके समय तो व्युत्पन्नके लिए किया गया प्रयोग पक्षमें दूषण प्रदर्शन द्वारा ही दूषित हो जाता है। तात्पर्य यह कि वादकालमें पक्षको पक्षाभास बता देनेके बाद अकिंचित्कर हेत्वाभासका उद्भावन निरर्थक है। अतः मात्र लक्षण विचारमें ही अकिंचित्करका विचार किया जाता है।

(इ) द्विविध दृष्टान्ताभास

(१) अन्वयदृष्टान्ताभास—माणिक्यनन्दिने[3] दृष्टान्ताभासोंका निरूपण करते हुए उन्हें दो भागोंमें विभक्त किया है—(१) अन्वयदृष्टान्ताभास और (२) व्यतिरेकदृष्टान्ताभास। इनमें अन्वयदृष्टान्ताभासके चार भेद हैं—(१) असिद्धसाध्य, (२) असिद्धसाधन, (३) असिद्धोभय और (४) विपरीतान्वय। इनमें आदिके तीन तो प्रशस्तपाद और दिङ्नाग कथित तथा चौथा दिग्नाग और धर्मकीर्ति प्रतिपादित है और जिन्हें हम वादिराज द्वारा उदाहृत पूर्वोक्त दृष्टान्ताभासोंमें भी देख चुके हैं। माणिक्यनन्दिने प्रशस्तपाद, दिग्नाग और धर्मकीर्ति प्रतिपादित तथा वादिराज द्वारा अनुसृत शेष अन्वयदृष्टान्ताभासोंको छोड़ दिया है।

(२) व्यतिरेकदृष्टान्ताभास—अन्वयदृष्टान्ताभासोंकी तरह व्यतिरेकदृष्टान्ताभास भी चार भेद[4] हैं—(१) असिद्धसाध्यव्यतिरेक, (२) असिद्धसाधनव्यतिरेक (३) असिद्धोभयव्यतिरेक और (४) विपरीतव्यतिरेक। इनमें आद्य तीन प्रशस्तपाद और दिङ्नाग वर्णित तथा चतुर्थ दिग्नाग और धर्मकीर्ति अभिहित हैं और जिन्हें भी हम वादिराजके व्याख्यानमें ज्ञात कर चुके हैं। शेष उपर्युक्त तार्किकोंद्वारा स्वीकृत तथा वादिराजद्वारा प्रदर्शित व्यतिरेकदृष्टान्ताभासोंको भी माणिक्यनन्दिने स्वीकार नहीं किया।

(ई) चतुर्विध बाल प्रयोगाभास

अवयव विमर्श प्रकरणमें यह स्पष्ट कर आये हैं कि परार्थानुमानका प्रयोग

---

१ परी० ६।३५ ३८।

२ वही० ६।३९।

३ दृष्टान्ताभासा अन्वयेऽसिद्धसाध्यसाधनोभयाः। अपौरुषेयः शब्दोऽमूर्तत्वादिन्द्रियसुखपरमाणुघटवत्। विपरीतान्वयश्च यदपौरुषेयं तदमूर्तम्। विद्युदादिनाऽतिप्रसंगात्।
—परी० मु० ६।४० ४३।

४ वही, ६।४१ ४५।

व्युत्पन्न और अव्युत्पन्न प्रतिपाद्योंकी अपेक्षा दो प्रकारका है। अव्युत्पन्न प्रतिपाद्योंके प्रयोगको ही बाल प्रयोग और उसके आभास (असत प्रयोग)को बाल प्रयोगाभास कहा गया है। प्रकृतमें देखना है कि माणिक्यनन्दिने बालप्रयोगाभासका क्या स्वरूप बतलाया है? बालप्रयोगके विवेचनके समय यह जान कर चुके हैं कि विभिन्न मन्दमति प्रतिपाद्योंके लिए जैन तार्किकोंने उतने अवयवोंका प्रयोग आवश्यक माना है जितनोंसे उन्हें प्रकृतार्थप्रतिपत्ति हो जाए। किसी मन्दमतिके लिए पक्ष, हेतु और दृष्टान्त इन तीन अवयवोंकी आवश्यकता होती है, किसीके लिए उपनयसहित चारोंकी और किसी अन्यके लिए निगमनसहित पाचोंकी। अतएव यथायोग्य प्रयोग बालप्रयोग और उससे अन्यथा — न्यून अथवा विपरीत प्रयोग बालप्रयोगाभास[1] है। और इस प्रकार बालप्रयोगाभास चार प्रकारका सम्भव है—(१) द्वि-अवयवप्रयोगाभास, (२) त्रि अवयवप्रयोगाभास, (३) चतुरवयवप्रयोगाभास और (४) विपरीतावयवप्रयोगाभास।

(१) द्वि अवयवप्रयोगाभास—किसी मन्दमति प्रतिपाद्यके लिए पक्ष, हेतु और दृष्टान्त इन तीनका प्रयोग आवश्यक है, किन्तु उसके लिए केवल पक्ष और हेतु दोका ही प्रयोग करना द्वि अवयवप्रयोगाभास नामका बालप्रयोगाभास है।

(२) त्रि अवयवप्रयोगाभास—चार प्रयोगोंसे समझने वाले प्रतिपाद्यके लिए तीनका ही प्रयोग करना त्रि अवयवप्रयोगाभास है।

(३) चतुरवयवप्रयोगाभास—पाच अवयवप्रयोगोंसे साध्यार्थका ज्ञान करनेवाले बालके लिए चार अवयवका ही प्रयोग करना चतुरवयव बालप्रयोगाभास है। जैसे[2]— यह प्रदेश अग्निवाला है, क्योंकि धूमवाला है, जो धूमवाला होता है वह अग्निवाला होता है, यथा महानस, और धूमवाला यह है' इन चारका ही प्रयोग करना, निगमनका नहीं।

(४) विपरीतावयवप्रयोगाभास[3]—क्रमबद्ध अवयवोंका प्रयोग न कर विपरीत प्रयोग करना विपरीतावयवप्रयोगाभास है। जैसे उपनय न कहकर

१ बालप्रयोगाभासः पंचावयवेषु कियद्धीनता।
—परी० मु० ६।४६।

२ अग्निमानयं देशो धूमवत्त्वात् यदित्थं तदित्थं यथा महानस धूमवांश्चायमिति वा।
—वही ६।४७-४८।

३ तस्मादग्निमान् धूमवांश्चायम्।
—परी मु० ६।४९।

निगमनका प्रयोग करना । यथा—धूमवाला होनेसे अग्निवाला है (निगमन), और यह धूमवाला है (उपनय) ।

माणिक्यनन्दिने[1] उक्त प्रकारके प्रयोगोंको बालप्रयोगाभास इसलिए बतलाया है क्योंकि जिस प्रतिपाद्यने अमुक सख्यक अवयवोंसे साध्यार्थप्रतिपत्तिका संकेत ग्रहण कर रखा है उसके लिए उतने सख्यक अवयवोंका प्रयोग न कर कम प्रयोग अथवा क्रमभंग कर प्रयोग करनेसे उसे प्रकृतार्थकी स्पष्टतासे प्रतिपत्ति नहीं हो सकती ।

प्रश्न है कि जब मन्दप्रज्ञोंके लिए कम-से-कम तीन और अधिक से अधिक पाँच अवयव अपेक्षणीय हैं तो उनके आभास भी कम से कम तीन और अधिक से-अधिक पाँच होना चाहिए । किन्तु उपर्युक्त विवेचनमें पक्षाभास, हेत्वाभास और दृष्टान्ताभास इन तीन अवयवाभासोंका तो कथन उपलब्ध है, पर उपनयाभास और निगमनाभास इन दोका नहीं, यह विचारणीय है ?

हमारा विचार है कि हेतुकी आवृत्तिको उपनय और प्रतिज्ञाके उपसंहारको निगमन कहा गया है । अतः हेतुदोषोंके अभिधानसे उपनयाभास और पक्षदोषोंके कथनसे निगमनाभास प्रतिपादित हो जाते हैं । दूसरे, बालप्रयोगाभासके अन्तर्गत जो चतुर्थ *विपरीतावयवप्रयोगाभास अभिहित है उसका अर्थ उपनयाभास तथा* निगमनाभास है, क्योंकि उपनयके स्थानमें उपनयका और निगमनके स्थानमें निगमनका प्रयोग न कर विपरीत अर्थात् निगमन और उपनयका उचितानुपूर्वीका उल्लंघन करके प्रयोग करना ही निगमनाभास तथा उपनयाभास हैं । जैसाकि चारुकीर्ति[2] मन्तव्यसे प्रकट है । जब तक ग्रन्थोंमें उनका स्पष्ट प्रतिपादन खोजते हुए वह भी हमें देवसूरिके प्रमाणनयतत्त्वालोकालंकारमें[3] उपलब्ध हो गया । देवसूरिने उक्त पक्षाभासादिके अतिरिक्त उपनयाभास और निगमनाभासका भी एक-एक सूत्रद्वारा स्वरूप निर्देश किया है ।

देवसूरि प्रतिपादित अनुमानाभास

देवसूरिका भी अनुमानाभासप्रतिपादन उल्लेखनीय है । उन्होंने[4] पक्षा

१ स्पष्टतया प्रकृतार्थाप्रतिपत्तेरयोगात् ।
—परी० ६।५० ।

२ उपनयानन्तरं निगमनप्रयोगे वक्तव्ये निगमनानन्तरमुपनयप्रयोगोऽप्याभास एव उचितानुपूर्विकत्वाभावादित्यर्थः ।
—प्रमेयरत्नमाला० ६।४९, पृ० २०० ।

३ प्र० न० त० ६।८१, ८२, पृ० १२३९ १२४० ।

४ पक्षाभासादिसमुत्थं ज्ञानमनुमानाभासमिति ।
—प्र० न० त० ६।३७, पृ० १००७ ।

भासादिसे उत्पन्न ज्ञानको अनुमानाभास बतलाते हुए अकलङ्क और माणिक्यनन्दि-की तरह प्रथमत त्रिविध पक्षाभासो तथा निराकृतपक्षाभासके प्रत्यक्षनिराकृत आदि पाँच भेदोका ९ सूत्रोमे[1] एव सूत्रोक्त 'आदि' शब्दसे[2] स्मरणनिराकृतसाध्य-धर्मविशेषण और तर्कनिराकृतसाध्यधर्मविशेषण इन दोका व्याख्या (स्याद्वाद-रत्नाकर)मे कथन किया है। इसके पश्चात सिद्धसेनकी तरह तीन हेत्वाभासो-का[3] निरूपण किया है। इनकी[4] विशेषता यह है कि इन्होने उभयासिद्ध और अन्यतरासिद्ध दो असिद्धोका सूत्रोमे तथा अन्य स्वीकृत भागासिद्ध, स्वरूपासिद्ध, सन्दिग्धासिद्ध, प्रतिज्ञार्थैकदेशासिद्ध, व्यधिकरणासिद्ध आदि असिद्ध भेदोकी समीक्षा प्रस्तुत की है। इसी प्रकार पराभिमत आठ विरुद्धभेदोकी[5] भी मीमासा करते हुए उन्हे पृथक् स्वीकार नही किया। अनकान्तिकके भी दो[6] ही भेद माने है। अठारह दृष्टान्ताभासोका[7] निरूपण धर्मकीर्ति और वादिराजकी तरह है। इनकी[8] जो अन्य उल्लेखयोग्य विशेषता है वह है दो उपनयाभासो और दो निगमना-भासोका नया प्रतिपादन। इसके अतिरिक्त पक्षशुद्धयाभास आदि पाच अन्य अव-यवाभासोका भी सकेत किया है। ध्यातव्य है कि इन्होने[9] अकलङ्क और माणि-क्यनन्दि स्वीकृत अकिंचित्कर हेत्वाभासकी समीक्षा की है। इनका[10] मन्तव्य है कि अन्यथानुपपत्तिका निश्चय न होनेपर असिद्ध, सन्देह होनेपर अनैकान्तिक और विपरीत ज्ञान होनेपर विरुद्ध ये तीन ही हेत्वाभास आवश्यक है, अकिंचित्कर नही? किन्तु जहाँ साध्य सिद्ध (निश्चित, असन्दिग्ध और अविपरीत) है वहाँ उसे सिद्ध करनेके लिए यदि कोई प्रतिवादी हेतु प्रयोग करे तो उस हेतुको क्या कहा जाएगा? अत ऐसे स्थलपर उक्त प्रकारके हेतुको सिद्धसाधन अकिंचित्कर ही कहना होगा। इसीसे अकलङ्कने 'सिद्धेऽकिंचित्करो हेतु स्वय साध्यव्यप-क्षया' (प्र० स० ४४), 'सिद्धेऽकिंचित्करोऽखिल' (वही, ४८) जैसे प्रति-पादनो द्वारा अकिंचित्कर हेत्वाभासकी आवश्यकता प्रदर्शित की है।

---

१ प्र० न० त० ६।३८ ४६।
२ वही, ६।४०।
३ वही, ६।४७।
४ वही, ६।४८ ४९ तथा व्याख्या।
५ वही० ६।५३, पृ० १०२१।
६ वही, ६।५५
७ वही, ६।५८ ८०।
८ वही, ६।८१ ८२।
९ वही ६।५७, पृ० १२३०।
१० वही, ६।५७, पृ० १२३०।

हो विलोप हो जाएगा। इसीप्रकार अनुमानबाधित स्थलमें सत्प्रतिपक्ष हेत्वाभास मानना भी उचित नहीं है, क्योंकि पक्षके दोषको पक्षाभास ही मानना युक्त है, हेत्वाभास नहीं। इनका एक वैशिष्ट्य और है। इन्होंने[1] उचितानुपूर्वीके अभाव में उपनयाभास और निगमनाभासका भी निर्देश किया है।

३. यशोविजय—यशोविजयने[2] पृथक् रूपसे पक्षाभासों और दृष्टान्ताभासों का कथन नहीं किया, साध्यके लक्षण और दृष्टान्तप्रयोगके समर्थनमें उनका प्रतिपादनाभिप्राय प्रकट होता है। हेत्वाभासोंका उन्होंने[3] स्पष्ट निरूपण किया है। और सिद्धसेन तथा देवसूरिकी तरह उन्हें त्रिविध बतलाया है। अकिंचित्कर-को चतुर्थ हेत्वाभास माननेवाले धर्मभूषणके मन्तव्यकी समालोचना भी की है। उनका[4] कहना है कि सिद्धसाधन और बाधितविषय क्रमशः प्रतीत और निराकृत पक्षाभासभेदोंसे भिन्न नहीं हैं। और यह आवश्यक नहीं है कि जहाँ पक्षदोष हो वहाँ हेतुदोष भी अवश्य हो। अन्यथा वहाँ दृष्टान्तादि दोष भी अवश्य मानना पड़ेंगे।

किन्तु हम पहले कह आये हैं कि जहाँ साध्य सिद्ध है और उसे सिद्ध करनेके लिए कोई हेतुका प्रयोग करता है तो उसका वह हेतु पक्षदोषके अलावा अकिंचित्कर कहा जाएगा। यह नहीं कि पक्षदोष होनेपर हेतुदोष न हो—वह हो सकता है। जब शिष्योंको व्युत्पादन कराना आवश्यक है तो उनके लिए लक्षणव्युत्पादनशास्त्रमें अकिंचित्कर दोषका ज्ञान कराना ही चाहिए। हाँ, व्युत्पन्नोंके प्रयोगकालमें उसकी आवश्यकता नहीं है। वहाँ तो पक्षदोषोंका प्रदर्शन ही पर्याप्त है—उसीसे व्युत्पन्नप्रयोग दूषित हो जाता है। चारुकीर्ति[5] भी यही कहते हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि जैन तार्किकोंमें जहाँ अनुमान और उसके परि-कर (अवयवादि) पर चिन्तन उपलब्ध है वहाँ उसके दोषोंपर भी विचार किया गया है।

---

१ प्रमेयरत्ना०, ६।४१, पृ० २००।

२ जैनत० भा० पृ० १३, १६।

३ वही, पृ० १८।

४ अकिंचित्कराख्यश्चतुर्थोऽपि हेत्वाभासभेदो धर्मभूषणेनोदाहृतो न श्रद्धेयः। सिद्धसाधनो बाधितविषयश्चेति द्विविधस्याप्यप्रयोजकाह्वयस्य तस्य प्रतीतनिराकृताख्यपक्षाभासभेदानतिरिक्तत्वात्। न च यत्र पक्षदोषस्तत्रावश्यं हेतुदोषोऽपि वाच्यः, दृष्टान्तादिदोषस्याप्यवश्यं वाच्यत्वापत्तेः।
—जैनत० भा० पृ० १६।

५. लक्षणव्युत्पादनकाल एवासावकिञ्चित्करत्वाख्यो दोषो विनेयव्युत्पत्त्यर्थमुच्यते, न तु व्युत्पन्नानां प्रयोगकाले।
—प्रमेयरत्नालं० ६।३९।

द्वितीय परिच्छेद

इतर परम्पराओंमें अनुमानाभास-विचार

जैन तर्कग्रन्थोंमें चिन्तित अनुमान दोषोंके विमर्शके साथ यदि यहाँ अन्य परम्पराओंके तर्कग्रन्थोंमें प्रतिपादित अनुमानाभासकी चर्चा न की जाय तो एक न्यूनता होगी और अनुमानाभासकी आवश्यक जानकारी (तुलनात्मक अध्ययन)से वंचित रहेंगे। अतः वैशेषिक, न्याय और बौद्ध परम्पराके न्यायग्रन्थोंमें बहुचर्चित अनुमानाभासपर भी यहाँ विचार किया जाता है। इससे जहाँ अन्य तार्किकोंकी अनुमानाभाससम्बन्धी उपलब्धियोंका अवगम होगा वहाँ जैन तार्किकोंकी भी अनुमानाभासचिन्तन-विषयक अनेक विशेषताएँ ज्ञात हो सकेंगी।

वैशेषिक परम्परा

कणादने[1] अनुमानका व्यवहार अनुमानशब्दसे न करके 'लैङ्गिक' शब्दसे किया है और उन लिङ्गोंको गिनाया है जिनसे वह उत्पन्न होता है। इसका तात्पर्य है कि उनके मतानुसार 'लैङ्गिक' (अनुमान) की सामग्री मुख्यतया लिङ्ग है तथा लिङ्गाभास (अलिङ्ग) उसका अवरोधक। सम्भवतः इसीसे कणादने[2] लिङ्गके विचारके साथ लिङ्गाभासका भी ऊहापोह किया है। पर प्रतिज्ञा और दृष्टान्त अनुमानके अङ्ग हैं इसका उन्होंने निर्देश नहीं किया और इसी कारण प्रतिज्ञाभास तथा दृष्टान्ताभासका भी कथन नहीं किया। चूँकि लिङ्गको उन्होंने[3] त्रिरूप प्रतिपादन किया है, अतः उन रूपोंके अभावमें लिङ्गाभासको तीन प्रकारका बतलाया है—(१) अप्रसिद्ध, (२) असत् और (३) सन्दिग्ध।

कणादके भाष्यकार प्रशस्तपादने[4] उक्त तीन लिङ्गाभासोंके अतिरिक्त अनध्यवसित नामक चौथे लिङ्गाभासका भी उल्लेख किया है। किन्तु बादको उसे

---

१ अस्येदं कार्यं कारणं संयोगि विरोधि समवायि चेति लैङ्गिकम्।
—वैशे० सू० ९।२।१।

२ अप्रसिद्धोऽनपदेशोऽसन् सन्दिग्धश्चानपदेशः।
—वैशे० सू० ३।१।१५।

३ विपरीतमतो यत् स्यादेकेन द्वितयेन वा।
विरुद्धासिद्धसन्दिग्धमलिङ्गं काश्यपोऽब्रवीत्॥
—प्रश० भा० पृ० १०० पर उद्धृत पद्य तथा वही, ३।१।१५।

४ प्रश० भा० पृ० ११६, १२०।

असिद्धवर्गमें सम्मिलित कर लिया है। असिद्धके उन्होंने[1] चार भेद बतलाये हैं—(१) उभयासिद्ध, (२) अन्यतरासिद्ध, (३) तद्भावासिद्ध और (४) अनुमेयासिद्ध। ध्यान रहे, प्रशस्तपादने इन असिद्धभेदों तथा विरुद्धादि हेत्वाभासोंका सोदाहरण कथन किया है। विशेष यह कि उन्होंने[2] लैङ्गिककी सामग्री केवल लिङ्गको ही नहीं, प्रतिज्ञादि पाँचों अवयवोंको बतलाया है तथा प्रत्येकका लक्षण देते हुए प्रतिज्ञाके लक्षणमें 'अविरोधि' पदका निवेश करके उसके द्वारा प्रत्यक्षविरोधी, अनुमानविरोधी, आगमविरोधी, स्वशास्त्रविरोधी और स्ववचनविरोधी इन पाँच प्रतिज्ञाभासोंका निरास किया है। इससे ज्ञात होता है कि उन्हें प्रतिज्ञाभास भी लिङ्गाभासकी तरह अनुमानाभास मान्य है और उसके पाँच भेद इष्ट हैं। प्रशस्तपादसे पूर्व प्रतिज्ञाभासोंका निरूपण उपलब्ध नहीं होता। प्रशस्तपादने[3] दृष्टान्ताभासोंका भी, जिन्हें निदर्शनाभासके नामसे उल्लेखित किया गया है, निरूपण किया है और उनके मूलमें साधर्म्यनिदर्शनाभास तथा वैधर्म्यनिदर्शनाभास ये दो भेद बतलाये हैं। इन दोनोंके भी छह छह भेद निम्न प्रकार निर्दिष्ट किये हैं—(१) लिङ्गासिद्ध, (२) अनुमेयासिद्ध, (३) उभयासिद्ध, (४) आश्रयासिद्ध, (५) अननुगत और (६) विपरीतानुगत ये छह साधर्म्यनिदर्शनाभास तथा (१) लिङ्गाव्यावृत्त, (२) अनुमेयाव्यावृत्त, (३) उभयाव्यावृत्त, (४) आश्रयासिद्ध, (५) अव्यावृत्त और (६) विपरीतव्यावृत्त ये छह वैधर्म्यनिदर्शनाभास हैं। इस प्रकार प्रशस्तपादने बारह निदर्शनाभासोंका कथन किया है। पर अन्तिम दो अवयवदोषों—अनुसन्धानाभास (उपनयाभास) और प्रत्याम्नायाभास (निगमनाभास) का कोई निर्देश नहीं किया[4], जो होना चाहिए था।

न्याय परम्परा

अक्षपादके[5] अनुसार अनुमानकी सामग्री पञ्चावयव है—उन्हींमें ही अनुमान समग्ररूपमें आत्मलाभ करता है। अतः उनके मतानुसार अनुमानके दोष पाँच

---

१ प्रश० भा० पृ० ११६, ११७।

२ अविरोधिग्रहणात् प्रत्यक्षानुमानाभ्युपगतशास्त्रस्ववचनविरोधिनो निरस्ता भवन्ति। यथाऽनुष्णोऽग्निरिति प्रत्यक्षविरोधी।

—प्रश० भा० पृ० ११५।

३ अनेन निदर्शनाभासा निरस्ता भवन्ति। तद्यथा लिङ्गानुमेयोभयाश्रयासिद्धाननुगतविपरीतानुगताः साधर्म्यनिदर्शनाभासाः। लिङ्गानुमेयोभयाव्यावृत्ताश्रयासिद्धाव्यावृत्तविपरीतव्यावृत्ता वैधर्म्यनिदर्शनाभासाः।

—वही, पृ० १२२, १२३।

४ वही १२३, १२७।

५ न्या० सू० १।१।३२।

होना चाहिए—(१) प्रतिज्ञाभास, (२) हेत्वाभास, (३) उदाहरणाभास, (४) उपनयाभास और (५) निगमनाभास। परन्तु अक्षपादने इनमेंसे केवल हेत्वाभासोंका वर्णन किया है, प्रतिज्ञाभासादिका नहीं, यह चिन्त्य है? विचार करनेपर प्रतीत होता है कि यदि प्रतिवादीके हेतुको हेत्वाभास प्रमाणित कर दिया जाए तो उसके द्वारा होनेवाली साध्य सिद्धि प्रतिबन्धित हो जाती है और तब उसमें प्रतिज्ञादोष आदि दोषोंका उद्भावन निरर्थक है। उद्योतकरने[1] 'साध्यनिर्देशः प्रतिज्ञा' इस न्यायसूत्रकार वचन द्वारा द्विविध साध्यदोषों (सिद्ध और अनुपपद्यमानसाधन—असाध्य) की निवृत्ति बतलाकर प्रतिज्ञादोषोंका संकेत उसीके द्वारा सूचित किया है। इसी प्रकार उदाहरण आदिके प्रतिपादक सूत्रों द्वारा उदाहरणादिदोष भी निरस्त किये गये हैं। अतएव उनका भी पृथक् प्रतिपादन आवश्यक नहीं है।

प्रश्न हो सकता है कि फिर हेतुप्रतिपादक सूत्रद्वयसे हेतुदोषोंका निराकरण सम्भव होनेसे हेत्वाभासोंका भी पृथक् कथन नहीं किया जाना चाहिए? इसका उत्तर यह है कि यथार्थमें हेतुप्रतिपादक सूत्रों द्वारा हेतुदोषोंका निरास हो जाता है फिर भी हेत्वाभासोंका जो पृथक् अभिधान किया गया है वह शास्त्रार्थमें प्रतिवादीको पराजित करनेके लिए उसी प्रकार आवश्यक एवं उपयोगी है जिस प्रकार छल, जाति और निग्रहस्थानोंका। अन्य दोषोंकी अपेक्षा हेत्वाभास बलवान् और प्रधान दोष है। अतः उनका वादीको पृथक् ज्ञान होना आवश्यक एवं अनिवार्य है। अतएव अक्षपादने कणादकी तरह हेत्वाभासोंका ही निरूपण किया है। भिन्नता इतनी ही है कि जहाँ कणादने तीन हेत्वाभास वर्णित किये हैं वहाँ अक्षपादने पाँच कहे हैं। इसका कारण यह है कि कणाद त्रिरूपलिंगसे अनुमान मानते हैं और अक्षपाद पंचरूपलिंगसे। अतएव एक-एक रूपके अभावमें कणादको तीन और अक्षपादको पाँच हेत्वाभास इष्ट हैं। वे ये हैं[2]—(१) सव्यभिचार, (२) विरुद्ध, (३) प्रकरणसम (सत्प्रतिपक्ष), (४) साध्यसम और (५) अतीतकाल (कालात्ययापदिष्ट—बाधितविषय)। वाचस्पति[3] और जयन्तभट्टने[4] भी एक-एक रूपके अभावसे होनेवाले पाँच हेत्वाभासोंका ही समर्थन एवं उपपादन किया है। जयन्तभट्टने तो स्पष्टतया हेतुदोषोंके कथनसे ही पक्षदोषों तथा दृष्टान्तदोषोंका भी

१ असाध्यं च द्वेधा सिद्धमनुपपद्यमानसाधनं च। तत्र साध्यनिर्देश इत्यनेन वचनेनोभयं निवर्त्यते सिद्धमनुपपद्यमानसाधनं च।
—न्यायवा० १।१।३३, पृ० ११०।

२ न्या० सू० १।२।४।

३ न्यायवा० ता० १।२।४, पृ० ३३०।

४ न्यायक० पृ० १४। न्यायमं० पृ० १३७।

कथनकी बात कही है। उन्होंने[1] यहाँतक बल दिया है कि वास्तवमें वे सब हेतु दोष ही हैं, पक्षदोषों और दृष्टान्तदोषोंका पृथक् वर्णन केवल प्रपञ्चमात्र है। एक-दूसरे स्थलपर[2] भी वे उन्हें हेतुदोषोंका अनुविधायी होनेके कारण हेतुदोष ही बतलाते हैं और कहते हैं कि इसीसे सूत्रकारने हेत्वाभासोंकी तरह उनका पृथक् उपदेश नहीं किया। हमने उनका प्रदर्शन मात्र शिष्यहितके लिए किया है। उद्योतकरका[3] मन्तव्य है कि साधकत्व हेतुका और असाधकत्व हेत्वाभासका विशेष धर्म है। तथा साधकत्वसे तात्पर्य समस्त लक्षणोंका सद्भाव और असाधकत्वसे मतलब असमस्त लक्षणोंका सद्भाव है। आशय यह कि उद्योतकर हेतुदोषोंको ही साध्यसिद्धिका प्रतिबन्धक मानते हैं, अन्य दोष तो उन्हीमें समा जाते हैं और वे प्रतिज्ञादिलक्षणसूत्रों द्वारा निरस्त हो जाते हैं। उद्योतकरका हेत्वाभाससम्बन्धी विस्तृत निरूपण विशेष उल्लेखनीय है। उन्होंने[4] हेतु और हेत्वाभासोंके भेदोंका प्रपञ्च १७६ बतलाया है और उन्हें कुछ उदाहरणों द्वारा स्पष्ट करके सूत्रकारके हेत्वाभास पञ्चकमें ही संगृहीत किया है। पुनः असिद्धके ३८४, २०३२ और अनन्त भेदोंकी भी सूचना करके अनैकान्तिकके ६ और विरुद्धके ४ भेदोंका भी उल्लेख किया है।

बौद्ध परम्परा

न्यायप्रवेशकारने[5] पक्ष, हेतु और दृष्टान्त ये तीन ही साधन (परार्थानुमान) के अवयव स्वीकार किये हैं, अक्षपादकी तरह पाँच या कणादकी तरह एक नहीं, अतः साधनदोष भी उन्होंने[6] तीन प्रकारके प्रतिपादित किये हैं—(१) पक्षाभास, (२) हेत्वाभास और (३) दृष्टान्ताभास। उनका यह प्रतिपादन

---

१ ये चैते प्रत्यक्षविरुद्धतादयः पक्षदोषाः, ये च वक्ष्यमाणाः साधनविकलत्वादयो दृष्टान्तदोषास्ते वस्तुस्थित्या सर्वे हेतुदोषा एव, प्रपञ्चमात्रं तु पक्षदृष्टान्तदोषवर्णनम् ।
—वादन्या० पृ० १३३-१३४।

२ एते च वस्तुवृत्तेन हेतुदोषा एव तदनुविधायित्वात् । अत एव हेत्वाभासवन्न सूत्रकृता नोपदिष्टाः, अस्माभिस्तु शिष्यहिताय प्रदर्शिता एव ।
—वही पृ० १४०।

३ साधकत्वासाधकत्वे तु विशेषः हेतोः साधकत्वं धर्मोऽसाधकत्वं हेत्वाभासस्य । किं पुनस्तत् ? समस्तलक्षणोपपत्तिरसमस्तलक्षणोपपत्तिश्च ।
—न्यायवा० १।२।४, पृ० १६३।

४ वही, १।२।४, पृ० १६४-१६९।

५ पक्षहेतुदृष्टान्तवचनैर्हि प्राश्निकानामप्रतीतोऽर्थः प्रतिपाद्यते । एतान्येव साधनावयवा इत्युच्यन्ते ।
—न्यायप्र० पृ० १-२।

६ वही, पृ० २-७।

सगत प्रतीत होता है। यथार्थमे परार्थानुमानके जितने प्रयोजक तत्त्व स्वीकृत एव प्रतिपादित किये जाएँ, उतने ही उसके अवरोधक दोषोकी सम्भावना होनेसे उन सभीका भी प्रतिपादन करना उचित है। यह युक्त नही कि साधनावयवोको तो अमुक सख्यामें मान कर उनका प्रत्येकका विवेचन किया जाए और उनके दोषोकी सख्या उतनी ही सम्भाव्य होने पर उनका प्रतिपादन न किया जाए। जैसा कि हम अक्षपादके प्रतिपादनमे इस न्यूनताको देख चुके है। हेत्वाभासाके द्वारा ही पक्षाभासादि दोषोके सग्रहकी जयन्तभट्टकी युक्ति बुद्धिग्राह्य नही लगती। अन्यथा अनुमानका प्रधान अग हेतु होनेसे उसीका निरूपण किया जाना चाहिए और अन्य अवयवोका उसके द्वारा ही सग्रह कर लेना चाहिए। यद्यपि इस असगतिका परिहार करनेका प्रयास उन्होने किया है पर उसमें उन्होंने कोई अबाध्य एव बलवान् युक्ति प्रस्तुत नही की। इस दृष्टिसे न्यायप्रवेशकारका तीनो दोषोका प्रतिपादन हम युक्ति और सगतिके निकट पाते है।

जो सिद्ध करनेके लिए इष्ट होनेपर भी प्रत्यक्षादिविरुद्ध हो वह पक्षाभास[1] है। न्यायप्रवेशकारने[2] इसके नौ भेद प्रतिपादित किये हैं—(१) प्रत्यक्षविरुद्ध, (२) अनुमानविरुद्ध, (३) आगमविरुद्ध, (४) लोकविरुद्ध, (५) स्ववचनविरुद्ध, (६) अप्रसिद्धविशेषण, (७) अप्रसिद्धविशेष्य, (८) अप्रसिद्धोभय और (९) प्रसिद्धसम्बन्ध। इन्हीको प्रतिज्ञादोष (प्रतिज्ञाभास) कहते है। न्यायप्रवेशमें[3] इनका उदाहरणों द्वारा वर्णन किया है। उल्लेखनीय है कि धर्मकीर्तिने[4] प्रत्यक्षनिराकृत, अनुमाननिराकृत, प्रतीतिनिराकृत और स्ववचननिराकृत ये चार ही पक्षाभास स्वीकार किये हैं।

हेत्वाभास तीन हैं[5]—(१) असिद्ध, (२) अनैकान्तिक और (३) विरुद्ध। यत न्यायप्रवेशकारने कणादकी तरह हेतुको त्रिरूप माना है, अत उन तीन रूपोंके अभावमें उसके तीन दोषोका प्रतिपादन भी उन्होंने कणादकी तरह किया है। एक एक रूप (पक्षधर्मत्व, सपक्षसत्त्व और विपक्षासत्त्व) के अभावमे क्रमश असिद्ध, विरुद्ध और अनैकान्तिक ये तीन ही हेतु-दोष सम्भव हैं। असिद्ध चार प्रकारका है[6]—(१) उभयासिद्ध, (२) अन्यतरासिद्ध, (३) सन्दिग्धासिद्ध और (४) आश्रयासिद्ध। प्रशस्तपादने[7] भी ये चार भेद स्वीकार किये है, जैसा

१, २—न्यायप्र पृ० २-३।
३ वही, पृ० ३।
४ न्या० बि० पृ० ६४-६६।
५ न्या० प्र० पृ० ३।
६ वही पृ० ३।
७ प्रश० भा० पृ० ११६-११७।

कि ऊपर कहा जा चुका है। अनैकान्तिकके[1] छह भेद हैं—(१) साधारण, (२) असाधारण, (३) सपक्षैकदेशवृत्तिविपक्षव्यापी, (४) विपक्षैकदेशवृत्ति सपक्षव्यापी (५) उभयपक्षैकदेशवृत्ति और (६) विरुद्धाव्यभिचारी। उद्योतकर ने[2] विरुद्धाव्यभिचारीकी समीक्षा करके उसे अस्वीकार किया है। प्रतीत होता है कि इस विरुद्धाव्यभिचारीकी मान्यता न्यायप्रवेशकारसे भी पूर्ववर्ती है, क्योंकि उनसे पूर्व प्रशस्तपादने[3] भी उसकी मीमांसा की है और उसे अनध्यवसितमें अन्तर्भूत किया है। धर्मकीर्तिने[4] भी इसे स्वीकार नहीं किया। जयन्तभट्टने[5] भी इसे नहीं माना। विरुद्धके[6] चार प्रकार हैं—(१) धर्मस्वरूपविपरीतसाधन, धर्मविशेषविपरीतसाधन, (३) धर्मिस्वरूपविपरीतसाधन और (४) धर्मिविशेष विपरीतसाधन। प्रशस्तपादने[7] विरुद्धके भेदोंका कोई संकेत नहीं किया। पर उद्योतकरने[8] अवश्य उसके चार भेदोंका निर्देश किया है। धर्मकीर्तिने[9] केवल दो भेद स्वीकार किये हैं।

दृष्टान्ताभासके दो भेद अभिहित हैं[10]—(१) साधर्म्य और (२) वैधर्म्य। साधर्म्यदृष्टान्ताभास पाँच प्रकारका है—(१) साधनधर्मासिद्ध, (२) साध्यधर्मासिद्ध, (३) उभयधर्मासिद्ध, (४) अनन्वय और (५) विपरीतान्वय। वैधर्म्यदृष्टान्ताभासके भी पाँच प्रकार हैं—(१) साध्याव्यावृत्त, (२) साधनाव्यावृत्त, (३) उभयाव्यावृत्त, (४) अव्यतिरेक और (५) विपरीतव्यतिरेक। प्रशस्तपादके पूर्वोक्त[11] बारह निदर्शनाभासोंमें न्यायप्रवेशकारके दृष्टान्ताभासोंसे *आश्रयासिद्ध नामक दो निदर्शनाभास अधिक हैं। अर्थात् न्यायप्रवेशमें जहाँ* दस दृष्टान्ताभास वर्णित हैं वहाँ प्रशस्तपादभाष्यमें बारह अभिहित हैं। धर्मकीर्तिने[12]

---

१ न्या० प्र० पृ० ३।
२ न्या० वा० १।२।५, पृ० १६६।
३ प्रश० भा० पृ० ११८।
४ न्यायबि० पृ० ८६।
५ न्यायम० पृ० १५५।
६ न्यायप्र० पृ० ४।
७ प्रश० भा० पृ० ११७।
८ न्यायवा० १।२।५, पृ० १६६।
९ न्यायबि० पृ० ७८।
१० न्यायप्र० पृ० ५-७।
११ प्रश० भा० पृ० १२३।
१२ साध्यसाधनधर्मोभयविकलास्तथा सन्दिग्धसाध्यधर्मादयश्च। अनन्वयोऽप्रदर्शितान्वयश्च। तथा विपरीतान्वयः। इति साधर्म्येण। वैधर्म्येणापि साध्याव्यतिरेकिणः। तथा सन्दिग्धसाध्यव्यतिरेकादयः। अव्यतिरेको यथा। अप्रदर्शितव्यतिरेका वैधर्म्येणापि विपरीतव्यतिरेको। न्यायबि० पृ० ९४-१०१।

नौ साधर्म्य और नौ ही वैधर्म्य दृष्टान्ताभास कहे हैं। इनमें सन्दिग्धसाध्यान्वय, सन्दिग्धसाधनान्वय, सन्दिग्धोभयान्वय और अप्रदर्शितान्वय ये चार साधर्म्य-दृष्टान्ताभास तथा सन्दिग्धसाध्यव्यतिरेक, सन्दिग्धसाधनव्यतिरेक, सन्दिग्धोभय व्यतिरेक और अप्रदर्शितव्यतिरेक ये चार वैधर्म्यदृष्टान्ताभास न्यायप्रवेशोक्त दृष्टान्ताभासोंसे भिन्न और नये हैं और धर्मकीर्ति उपज्ञ हैं, शेष दोनों दृष्टान्ताभासोंके पाँच पाँच भेद न्यायप्रवेशोक्त ही हैं। नैयायिक जयन्तभट्टने[1] न्यायप्रवेशकी तरह उभयविध पाँच पाँच दृष्टान्ताभासोंका निरूपण किया है। पर उनका यह निरूपण उनकी परम्पराके लिए सर्वथा अभिनव है, क्योंकि उनके पूर्व न्यायपरम्परामें वह दृष्टिगोचर नहीं होता। जयन्तभट्टने[2] स्वयं कहा है कि हेत्वाभासकी तरह सूत्रकारने उनका उपदेश नहीं किया, किन्तु हमने शिष्योंके हितार्थ प्रदर्शन किया है। जयन्तभट्टने[3] साध्यविकल, साधनविकल और उभयविकल इन तीन साधर्म्य दृष्टान्ताभासोंको वस्तुदोषकृत तथा अनन्वय और विपरीतान्वय इन दोको वक्ताके वचनदोषकृत बतलाया है। इसी प्रकार साध्याव्यावृत्त, साधनाव्यावृत्त और उभयाव्यावृत्त इन तीन वैधर्म्यदृष्टान्ताभासोंको भी वस्तुदोषकृत तथा अव्यतिरेक और विपरीतव्यतिरेक इन दोको वक्ताके वचनदोषकृत प्रतिपादन किया है।

यद्यपि न्यायप्रवेशकारने[4] उपर्युक्त पक्षाभासादिको साधनाभास कहा है, अनुमानाभास नहीं, तथापि उन्हें साधनपदसे परार्थानुमान अभिप्रेत है और पक्ष हेतु तथा दृष्टान्त ये उसीके अवयव हैं। अतः साधनाभासमें परार्थानुमानाभास अर्थ ही न्यायप्रवेशकारको विवक्षित है। हाँ, स्वार्थानुमान, जिसे उन्होंने अनुमानशब्दसे उल्लिखित किया है, अवश्य मात्र लिंगापेक्ष है और इसीसे उसका लक्षण देते हुए कहा है कि 'लिंगादर्थदर्शनमनुमानम्[5]'—लिंगसे जो अनुमेयका दर्शन होता है वह अनुमान है। तथा 'हेत्वाभासपूर्वकं ज्ञानमनुमानाभासम्'—हेत्वाभासपूर्वक होनेवाला ज्ञान अनुमानाभास है। यहाँ भी अनुमानाभाससे न्यायप्रवेशकारको स्वार्थानुमानाभास इष्ट है। तात्पर्य यह है कि स्वार्थानुमानविचारमें मात्र हेत्वाभासोंका विचार प्रयोजक है। पर परार्थानुमानविचारमें हेत्वाभासोंके अतिरिक्त पक्षाभासों और दृष्टान्ताभासोंका भी विचार आवश्यक है, क्योंकि प्राश्निकोंको अप्रतीत अथवा प्रतिपादन पक्ष, हेतु और दृष्टान्त इन तीनोंके वचनों द्वारा किया जाता है। अतएव उनकी निर्दुष्टताका ज्ञान होनेके लिए उक्त तीनों दोषोंका

---

१ न्यायमं० पृ० १४०।

२,३ वही पृ० १४०।

४ एषां पक्षहेतुदृष्टान्ताभासानां वचनानि साधनाभासम्।
—न्यायप्र० पृ० ७।

५ वही पृ० ७।

कथन जरूरी है। दूसरी बात यह है कि जब अनुमानको आत्मप्रत्यायन और साधनको परप्रत्यायनका कारण कहा जाता है तो सुतरां अनुमानपदसे स्वार्थानुमान और साधनपदसे परार्थानुमानका ग्रहण अभीष्ट है।

सांख्य मीमांसा और वेदान्त दर्शनोंमें भी अनुमानदोषोंपर विचार उपलब्ध है, पर वह नहीं के बराबर है। अतएव उसपर यहाँ विमर्श नहीं किया—प्रथम अध्यायमें कुछ किया गया है।

उपसंहार

पिछले अध्यायोंमें भारतीय तर्कशास्त्रमें निरूपित एवं विवेचित अनुमान तथा उसके घटकोंके यथावश्यक तुलनात्मक अध्ययनके साथ जैन तर्कशास्त्रमें चिन्तित अनुमान एवं उसके परिकरका ऐतिहासिक तथा समीक्षात्मक विमर्श प्रस्तुत किया गया है। अब यहाँ जैन अनुमानकी उपलब्धियोंका संक्षेपमें निर्देश किया जायेगा, जिससे भारतीय अनुमानको जैन तार्किकोंकी क्या देन है, उन्होंने उसमें क्या अभिवृद्धि या संशोधन किया है, यह समझनेमें सहायता मिलेगी।

अध्ययनसे अवगत होता है कि उपनिषद् कालमें अनुमानकी आवश्यकता एवं प्रयोजनपर भार दिया जाने लगा था, उपनिषदोंमें 'आत्मा वाऽरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः'[1] आदि वाक्योंद्वारा आत्माके श्रवणके साथ मननपर भी बल दिया गया है, जो उपपत्तियों (युक्तियों) के द्वारा किया जाता था।[2] इससे स्पष्ट है कि उस कालमें अनुमानको भी श्रुतिकी तरह ज्ञानका एक साधन माना जाता था—उसके बिना दर्शन अपूर्ण रहता था। यह सच है कि अनुमानका 'अनुमान' शब्दसे व्यवहार होनेकी अपेक्षा 'वाकोवाक्यम्', 'आन्वीक्षिकी', 'तर्कविद्या', हेतुविद्या' जैसे शब्दों द्वारा अधिक होता था।

प्राचीन जैन वाङ्मयमें ज्ञानमीमांसा (ज्ञानमार्गणा) के अन्तर्गत अनुमानका 'हेतुवाद' शब्दसे निर्देश किया गया है और उसे श्रुतका एक पर्याय (नामान्तर) बतलाया गया है। तत्त्वार्थसूत्रकारने उसे 'अभिनिबोध' नामसे उल्लिखित किया है। तात्पर्य यह कि जैन दर्शनमें भी अनुमान अभिमत है तथा प्रत्यक्ष (सांव्यवहारिक और पारमार्थिक ज्ञानों) की तरह उसे भी प्रमाण एवं अर्थनिश्चायक माना गया है। अन्तर केवल उनमें वैशद्य और अवैशद्यका है। प्रत्यक्ष विशद है और अनुमान अविशद (परोक्ष)।

अनुमानके लिए किन घटकोंकी आवश्यकता है, इसका आरम्भिक प्रतिपादन कणादने किया प्रतीत होता है। उन्होंने अनुमानका 'अनुमान' शब्दसे निर्देश न कर 'लैङ्गिक' शब्दसे किया है, जिससे ज्ञात होता है कि अनुमानका मुख्य घटक लिङ्ग

---

१ बृहदारण्य० २।४।५।

२ श्रोतव्यः श्रुतिवाक्येभ्यो मन्तव्यश्चोपपत्तिभिः।
मत्वा च सततं ध्येय एते दर्शनहेतवः॥

है। सम्भवतः इसी कारण उन्होंने मात्र लिङ्गों, लिङ्गरूपों और लिङ्गाभासोंका निरूपण किया है। उसके और भी कोई घटक हैं, इसका कणादने कोई उल्लेख नहीं किया। उनके भाष्यकार प्रशस्तपादने अवश्य प्रतिज्ञादि पाँच अवयवोंका उसका घटक प्रतिपादित किया है।

तर्कशास्त्रका निबद्धरूपमें स्पष्ट विकास अक्षपादके न्यायसूत्रमें उपलब्ध होता है। अक्षपादने अनुमानको 'अनुमान' शब्दसे ही उल्लेखित किया तथा उसकी कारणसामग्री, भेदों, अवयवों और हेत्वाभासोंका स्पष्ट विवेचन किया है। साथ ही अनुमानपरीक्षा, वाद, जल्प, वितण्डा, छल, जाति, निग्रहस्थान जैसे अनुमान सहायक तत्त्वोंका प्रतिपादन करके अनुमानको शास्त्रार्थोपयोगी और एक स्तर तक पहुँचा दिया है। वात्स्यायन, उद्योतकर, वाचस्पति, उदयन और गङ्गेशने उसे विशेष परिष्कृत किया तथा व्याप्ति, पक्षधर्मता, परामर्श जैसे तदुपयोगी अभिनव तत्त्वोंको विविक्त करके उनका विस्तृत एवं सूक्ष्म निरूपण किया है। वस्तुतः अक्षपाद और उनके अनुवर्ती तार्किकोंने अनुमानको इतना परिष्कृत किया कि उनका दर्शन न्याय (तर्क—अनुमान) दर्शनके नामसे ही विश्रुत हो गया।

असंग, वसुबन्धु, दिङ्नाग, धर्मकीर्ति प्रभृति बौद्ध तार्किकोंने न्यायदर्शनकी समालोचनापूर्वक अपनी विशिष्ट और नयी मान्यताओंके आधारपर अनुमानका सूक्ष्म और प्रचुर चिन्तन प्रस्तुत किया है। इसके चिन्तनका अवश्यम्भावी परिणाम यह हुआ कि उत्तरकालीन समग्र भारतीय तर्कशास्त्र उससे प्रभावित हुआ और अनुमानका विचारधारा पर्याप्त आगे बढ़नेके साथ सूक्ष्मसे सूक्ष्म एवं जटिल होती गयी। वास्तवमें बौद्ध तार्किकोंके चिन्तनने तर्कमें आयी कुण्ठाको हटाकर और सभी प्रकार के परिवेशोंसे दूर कर उन्मुक्तभावसे तत्त्वचिन्तनकी क्षमता प्रदान की। फलतः सभी दर्शनोंमें स्वीकृत अनुमानपर अधिक विचार हुआ और उसे महत्त्व मिला।

ईश्वरकृष्ण, युक्तिदीपिकाकार, माठर, विज्ञानभिक्षु आदि सांख्यविद्वानों, प्रभाकर, कुमारिल, पार्थसारथि प्रभृति मीमांसकचिन्तकोंने भी अपने-अपने ढंगसे अनुमानका चिन्तन किया है। हमारा विचार है कि इन चिन्तकोंका चिन्तन विषय प्रकृति-पुरुष और क्रियाकाण्ड होते हुए भी वे अनुमान चिन्तनसे अछूते नहीं रहे। श्रुतिके अलावा अनुमानको भी इन्हें स्वीकार करना पड़ा और उसका कम या विवेचन किया है।

जैन विचारक तो आरम्भसे ही अनुमानको मानते आये हैं। भले ही उसे 'अनुमान' नाम न देकर 'हेतुवाद' या 'अभिनिबोध' संज्ञासे उन्होंने उसका व्यवहार किया हो। तत्त्वज्ञान, स्वतत्त्वसिद्धि, परपक्षदूषणोद्भावनके लिए उसे स्वीकार करके उन्होंने उसका पर्याप्त विवेचन किया है। उनके चिन्तनमें जो विशेषताएँ उपलब्ध होती हैं उनमें कुछका उल्लेख यहाँ किया जाता है —

अनुमानका परोक्षप्रमाणमे अन्तर्भाव

अनुमान प्रमाणवादी सभी भारतीय तार्किकोंने अनुमानको स्वतन्त्र प्रमाण स्वीकार किया है। पर जैन तार्किकोने उसे स्वतन्त्र प्रमाण नही माना। प्रमाणके उन्होंने मूलत दो भेद माने हैं—(१) प्रत्यक्ष और (२) परोक्ष। हम पीछे इन दोनोकी परिभाषाएँ अङ्कित कर आये हैं। उनके अनुसार अनुमान परोक्ष प्रमाण में अन्तर्भूत ह, क्योकि वह अविशद ज्ञान है और उसके द्वारा अप्रत्यक्ष अर्थकी प्रतिपत्ति होती है। परोक्ष प्रमाणका क्षेत्र इतना व्यापक और विशाल है कि स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अर्थापत्ति, सम्भव, अभाव और शब्द जैसे अप्रत्यक्ष अर्थके परिच्छेदक अविशद ज्ञानोका इसीमे समावेश है। तथा वैशद्य एव अवैशद्यके आधार पर स्वीकृत प्रत्यक्ष और परोक्षके अतिरिक्त अन्य प्रमाण मान्य नही ह।

अर्थापत्ति अनुमानसे पृथक् नही

प्राभाकर और भाट्ट मीमासक अनुमानसे पृथक् अर्थापत्ति नामका स्वतन्त्र प्रमाण मानते हैं। उनका मन्तव्य है कि जहाँ अमुक अर्थ अमुक अर्थके विना न होता हुआ उसका परिकल्पक होता है वहाँ अर्थापत्ति प्रमाण माना जाता है। जैसे —'पीनोऽय देवदत्तो दिवा न भुक्ते' इस वाक्यमें उक्त 'पीनत्व' अर्थ 'भोजन' के बिना न होता हुआ 'रात्रिभोजन' की कल्पना करता है क्योकि दिवा भोजनका निषेध वाक्यमें स्वय घोषित है। इस प्रकारके अर्थका बोध अनुमानसे न होकर अर्थापत्तिसे होता है। किन्तु जैन विचारक उसे अनुमानसे भिन्न स्वीकार नहीं करते। उनका कहना है कि अनुमान अन्यथानुपपन्न (अविनाभावी) हेतुसे उत्पन्न होता है और अर्थापत्ति अन्यथानुपपद्यमान अर्थसे। अन्यथानुपपन्न हेतु और अन्यथानुपपद्यमान अर्थ दोनो एक है—उनमें कोई अन्तर नही है। अर्थात् दोनो ही व्याप्तिविशिष्ट होनेसे अभिन्न हैं। डा० देवराज भी यही बात प्रकट करते हुए कहते है कि 'एक वस्तु द्वारा दूसरी वस्तुका आक्षेप तभी हो सकता है जब दोनोंमें व्याप्य-व्यापकभाव या व्याप्तिसम्बन्ध हो।'[1] देवदत्त मोटा है और दिनमें खाता नही है, यहाँ अर्थापत्ति द्वारा रात्रिभोजनकी कल्पनाकी जाती है। पर वास्तवमें मोटापन भोजनका अविनाभावी होने तथा दिनमें भोजनका निषेध करनेसे वह देवदत्तके रात्रिभोजनका अनुमापक है। वह अनुमान इस प्रकार है—'देवदत्त रात्रौ भुक्ते, दिवाऽभोजित्वे सति पीनत्वान्यथानुपपत्ते।' यहाँ अन्यथानुपपत्तिसे अन्तर्व्याप्ति विवक्षित ह, बहिर्व्याप्ति या सकलव्याप्ति नही, क्योकि ये दोनों व्याप्तियाँ अव्यभिचरित नही हैं। अत अर्थापत्ति और अनुमान दोनो व्याप्तिपूर्वक होनेसे एक ही है—पृथक् पृथक् प्रमाण नही।

---

१ पूर्वी और पश्चिमी दर्शन, पृ० ७१।

अनुमानका विशिष्ट स्वरूप

न्यायसूत्रकार अक्षपादकी 'तत्पूर्वकमनुमानम्', प्रशस्तपादकी 'लिङ्गदर्शनात्संजायमानं लैङ्गिकम्' और उद्योतकरकी 'लिंगपरामर्शोऽनुमानम्' परिभाषाओंमें केवल कारणका निर्देश है, अनुमानके स्वरूपका नहीं। उद्योतकरकी एक अन्य परिभाषा 'लैंगिकी प्रतिपत्तिरनुमानम्' में भी लिङ्गरूप कारणका उल्लेख है, स्वरूपका नहीं। दिङ्नागशिष्य शङ्करस्वामीकी 'अनुमानं लिङ्गादर्थदर्शनम्' परिभाषामें यद्यपि कारण और स्वरूप दोनोंकी अभिव्यक्ति है, पर उसमें कारणके रूपमें लिङ्गको सूचित किया है, लिङ्गके ज्ञानको नहीं। तथ्य यह है कि अज्ञायमान धूमादि लिङ्ग अग्नि आदिके अनुमापक नहीं हैं। अन्यथा जो पुरुष सोया हुआ है, मूच्छित है, अगृहीतव्याप्तिक है उसे भी पर्वतमें धूमके सद्भाव मात्रसे अग्निका अनुमान हो जाना चाहिए, किन्तु ऐसा नहीं है। अतः शङ्करस्वामीके उक्त अनुमानलक्षणमें 'लिंगात्' के स्थानमें 'लिंगदर्शनात्' पद होने पर ही वह पूर्ण अनुमानलक्षण हो सकता है।

जैन तार्किक अकलङ्कदेवने जो अनुमानका स्वरूप प्रस्तुत किया है वह उक्त न्यूनताओंसे मुक्त है। उनका लक्षण है—

> लिङ्गात्साध्याविनाभावाभिनिबोधैकलक्षणात्।
> लिङ्गिधीरनुमानं तत्फलं हानादिबुद्धयः॥

इसमें अनुमानके साक्षात्कारण—लिङ्गज्ञानका भी प्रतिपादन है और उसका स्वरूप भी 'लिङ्गिधी' शब्दके द्वारा निर्दिष्ट है। अकलङ्कने स्वरूपनिर्देशमें केवल 'धी' या 'प्रतिपत्ति' नहीं कहा, किन्तु 'लिङ्गिधी' कहा है, जिसका अर्थ है साध्यका ज्ञान, और साध्यका ज्ञान होना ही अनुमान है। न्यायप्रवेशकार शङ्करस्वामीने साध्यके स्थानापन्न 'अर्थ' का अवश्य निर्देश किया है। पर उन्होंने कारणका निर्देश अपूर्ण किया है, जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है। अकलङ्कके इस लक्षणकी एक विशेषता और भी है। वह यह कि उन्होंने 'तत्फलं हानादिबुद्धयः' शब्दों द्वारा अनुमानका फल भी निर्दिष्ट किया है। सम्भवतः इन्हीं सब बातोंसे उत्तरवर्ती सभी जैन तार्किकोंने अकलङ्ककी इस प्रतिष्ठित और पूर्ण अनुमान-परिभाषाको ही अपनाया। इस अनुमानलक्षणसे स्पष्ट है कि वही साधन अथवा लिङ्ग लिङ्गि (साध्य—अनुमेय) का गमक हो सकता है जिसके अविनाभावका निश्चय है। यदि उसमें अविनाभावका निश्चय नहीं है तो वह साधन नहीं है, भले ही उसमें तीन या पाँच रूप भी विद्यमान हों। जैसे 'वज्र लोहलेख्य है, क्योंकि पार्थिव है, काष्ठकी तरह' इत्यादि हेतु तीन रूपों और पाँच रूपोंसे सम्पन्न होने पर भी अविनाभावके अभावसे सद्धेतु नहीं हैं अपितु हेत्वाभास हैं और इसीसे वे अपने साध्योंके अनुमापक नहीं माने जाते। इसी प्रकार 'एक मुहूर्त बाद शकटका उदय होगा,

क्योंकि कृत्तिकाका उदय हो रहा है', 'समुद्रमें वृद्धि होना चाहिए अथवा कुमुदोंका विकास होना चाहिए, क्योंकि चन्द्रका उदय है' आदि हेतुओंमें पक्षधर्मत्व न होनेसे न त्रिरूपता है और न पंचरूपता। फिर भी अविनाभावके होनेसे कृत्तिकाका उदय शकटोदयका और चन्द्रका उदय समुद्रवृद्धि एवं कुमुदविकासका गमक है।

हेतुका एकलक्षण (अन्यथानुपपन्नत्व) स्वरूप

हेतुके स्वरूपका प्रतिपादन अक्षपादसे आरम्भ होता है, ऐसा अनुसन्धानसे प्रतीत होता है। उनका वह लक्षण साधर्म्य और वैधर्म्य दोनों दृष्टान्तोंपर आधारित है। अत एव नैयायिक चिन्तकोंने उसे द्विलक्षण, त्रिलक्षण, चतुर्लक्षण और पंचलक्षण प्रतिपादित किया तथा उसकी व्याख्याएँ की हैं। वैशेषिक, बौद्ध, सांख्य आदि विचारकोंने उसे मात्र त्रिलक्षण बतलाया है। कुछ तार्किकोंने षड्लक्षण और सप्तलक्षण भी उसे कहा है, जैसा कि हम हेतुलक्षण प्रकरणमें पीछे देख आये हैं। पर जैन लेखकोंने अविनाभावको ही हेतुका प्रधान और एकलक्षण स्वीकार किया है तथा त्रैरूप्य, पांचरूप्य आदिको अव्याप्त और अतिव्याप्त बतलाया है, जैसाकि ऊपर अनुमानके स्वरूपमें प्रदर्शित उदाहरणोंसे स्पष्ट है। इस अविनाभावको ही अन्यथानुपपन्नत्व अथवा अन्यथानुपपत्ति या अन्तर्व्याप्ति कहा है। स्मरण रहे कि यह अविनाभाव या अन्यथानुपपन्नत्व जैन लेखकोंकी ही उपलब्धि है, जिसके उद्भावक आचार्य समन्तभद्र हैं, यह हम पीछे विस्तारके साथ कह आये हैं।

अनुमानका अङ्ग एकमात्र व्याप्ति

न्याय, वैशेषिक, सांख्य, मीमांसक और बौद्ध सभीने पक्षधर्मता और व्याप्ति दोनोंको अनुमानका अङ्ग माना है। परन्तु जैन तार्किकोंने केवल व्याप्तिको उसका अङ्ग बतलाया है। उनका मत है कि अनुमानमें पक्षधर्मता अनावश्यक है। 'उपरि वृष्टिरभूत् अधोपूरान्यथानुपपत्तेः' आदि अनुमानोंमें हेतु पक्षधर्म नहीं है फिर भी व्याप्तिके बलसे वह गमक है। 'स श्यामस्तत्पुत्रत्वादितरतत्पुत्रवत्' इत्यादि असद् अनुमानोंमें हेतु पक्षधर्म है किन्तु अविनाभाव न होनेसे वे अनुमापक नहीं हैं। अतः जैन चिन्तक अनुमानका अङ्ग एकमात्र व्याप्ति (अविनाभाव) को ही स्वीकार करते हैं, पक्षधर्मताको नहीं।

पूर्वचर, उत्तरचर और सहचर हेतुओंकी परिकल्पना

अकलङ्कदेवने कुछ ऐसे हेतुओंकी परिकल्पना की है जो उनसे पूर्व नहीं माने गये थे। उनमें मुख्यतया पूर्वचर, उत्तरचर और सहचर ये तीन हेतु हैं। इन्हें किसी अन्य तार्किकने स्वीकार किया हो, यह ज्ञात नहीं। किन्तु अकलङ्कने इनकी आव

दयकता एवं अतिरिक्तताका स्पष्ट निर्देश करते हुए स्वरूप प्रतिपादन किया है। अतः यह उनकी देन कही जा सकती है।

प्रतिपाद्योंकी अपेक्षा अनुमान प्रयोग

अनुमानप्रयोगके सम्बन्धमें जहाँ अन्य भारतीय दर्शनोंमें व्युत्पन्न और अव्युत्पन्न प्रतिपाद्योंकी विवक्षा किये बिना अवयवोंका सामान्य कथन मिलता है वहाँ जैन विचारकोंने उक्त प्रतिपाद्योंकी अपेक्षा उनका विशेष प्रतिपादन भी किया है। व्युत्पन्नोंके लिए उन्होंने पक्ष और हेतु ये दो अवयव आवश्यक बतलाये हैं। उन्हें दृष्टान्त आवश्यक नहीं है। 'सर्वं क्षणिकं सत्त्वात्' जैसे स्थलोंमें बौद्धोंने और 'सर्वमभिधेयं प्रमेयत्वात्' जैसे केवलान्वयिहेतुक अनुमानोंमें नैयायिकोंने भी दृष्टान्तको स्वीकार नहीं किया। अव्युत्पन्नोंके लिए उक्त दोनों अवयवोंके साथ दृष्टान्त, उपनय और निगमन इन तीन अवयवोंकी भी जैन चिन्तकोंने यथायोग्य आवश्यकता प्रतिपादित की है। इसे और स्पष्ट यों समझिए—

गृद्धपिच्छ, समन्तभद्र, पूज्यपाद और सिद्धसेनके प्रतिपादनोंसे अवगत होता है कि आरम्भमें प्रतिपाद्यसामान्यकी अपेक्षासे पक्ष, हेतु और दृष्टान्त इन तीन अवयवोंसे अभिप्रेतार्थ (साध्य) की सिद्धि की जाती थी। पर उत्तरकालमें अकलङ्कका सङ्केत पाकर कुमारनन्दि और विद्यानन्दने प्रतिपाद्योंको व्युत्पन्न और अव्युत्पन्न दो वर्गोंमें विभक्त करके उनकी अपेक्षासे पृथक्-पृथक् अवयवोंका कथन किया। उनके बाद माणिक्यनन्दि, देवसूरि आदि परवर्ती जैन ग्रन्थकारोंने उनका समर्थन किया और स्पष्टतया व्युत्पन्नोंके लिए पक्ष और हेतु ये दो तथा अव्युत्पन्नोंके बोधार्थ उक्त दोके अतिरिक्त दृष्टान्त, उपनय और निगमन ये तीन सब मिलाकर पाँच अवयव निरूपित किये। भद्रबाहुने प्रतिज्ञा, प्रतिज्ञाशुद्धि आदि दस अवयवोंका भी उल्लेख किया, जिसका अनुसरण देवसूरि, हेमचन्द्र और यशोविजयने किया है।

व्याप्तिका ग्राहक एकमात्र तर्क

अन्य भारतीय दर्शनोंमें भूयोदर्शन, सहचारदर्शन और व्यभिचाराग्रहको व्याप्तिग्राहक माना गया है। न्यायदर्शनमें वाचस्पति और सांख्यदर्शनमें विज्ञानभिक्षु इन दो तार्किकोंने व्याप्तिग्रहकी उपयुक्त सामग्रीमें तर्कको भी सम्मिलित कर लिया। उनके बाद उदयन, गंगेश, वर्द्धमान प्रभृति तार्किकोंने भी उसे व्याप्तिग्राहक मान लिया। पर स्मरण रहे, जैन परम्परामें प्रारम्भसे तर्कको, जिसे चिन्ता, ऊहा आदि शब्दोंसे व्यवहृत किया गया है, अनुमानकी एकमात्र सामग्रीके रूपमें प्रतिपादित किया है। अकलङ्क ऐसे जैन तार्किक हैं जिन्होंने वाचस्पति और

विज्ञानभिक्षुने पूर्व सर्व प्रथम तर्कको व्याप्तिग्राहक समर्थित एवं सम्पुष्ट किया तथा सबलतासे उसका प्रामाण्य स्थापित किया। उनके पश्चात् सभीने उसे व्याप्ति-ग्राहक स्वीकार कर लिया।

तथोपपत्ति और अन्यथानुपपत्ति

यद्यपि बहिर्व्याप्ति, सकलव्याप्ति और अन्तर्व्याप्तिके भेदसे व्याप्तिके तीन भेदों, समव्याप्ति और विषमव्याप्तिके भेदसे उसके दो प्रकारों तथा अन्वयव्याप्ति और व्यतिरेक व्याप्ति इन दो भेदोंका वर्णन तर्कग्रन्थोंमें उपलब्ध होता है किन्तु तथोपपत्ति और अन्यथानुपपत्ति इन दो व्याप्तिप्रकारों (व्याप्तिप्रयोगों) का कथन केवल जैन तर्क ग्रन्थोंमें पाया जाता है। इनपर ध्यान देनेपर जो विशेषता ज्ञात होती है वह यह है कि अनुमान एक ज्ञान है उसका उपादान कारण ज्ञान ही होना चाहिए। तथोपपत्ति और अन्यथानुपपत्ति ये दोनों ज्ञानात्मक हैं, जब कि उपर्युक्त व्याप्तियाँ ज्ञेयात्मक (विषयात्मक) हैं। दूसरी बात यह है कि उक्त व्याप्तियोंमें एक अन्त-र्व्याप्ति ही ऐसी व्याप्ति है, जो हेतुकी गमकतामें प्रयोजक है, अन्य व्याप्तियाँ अन्त-र्व्याप्तिके बिना अव्याप्त और अतिव्याप्त हैं, अत एव वे साधक नहीं है। तथा यह अन्तर्व्याप्ति ही तथोपपत्ति और अन्यथानुपपत्तिरूप है अथवा उनका विषय है। इन दोनोंमेंसे किसी एकका ही प्रयोग पर्याप्त है। इनका विशेष विवेचन तृतीय अध्यायमें किया गया है।

साध्याभास

अकलङ्कने अनुमानाभासोंके विवेचनमें पक्षाभास या प्रतिज्ञाभासके स्थानमें साध्याभास शब्दका प्रयोग किया है। अकलङ्कके इस परिवर्तनके कारणपर सूक्ष्म ध्यान देनेपर अवगत होता है कि चूँकि साधनका विषय (गम्य) साध्य होता है और साधनका अविनाभाव (व्याप्तिसम्बन्ध) साध्यके ही साथ होता है, पक्ष या प्रतिज्ञाके साथ नहीं, अतः साधनाभास (हेत्वाभास) का विषय साध्या-भास होनेसे उसे ही साधनाभासकी तरह स्वीकार करना युक्त है। विद्यानन्दने अकलङ्ककी इस सूक्ष्म दृष्टिको परखा और उनका सयुक्तिक समर्थन किया। यथा र्थमें अनुमानके मुख्य प्रयोजक साधन और साध्य होनेसे तथा साधनका सीधा सम्बन्ध साध्यके साथ ही होनेसे साधनाभासकी भाँति साध्याभास ही विवेचनीय है। अकलङ्कने शक्य, अभिप्रेत और असिद्धको साध्य तथा अशक्य, अनभिप्रेत और सिद्धको साध्याभास प्रतिपादित किया है—(साध्यं शक्यमभिप्रेतमप्रसिद्धं ततोऽ-परम्। साध्याभासं विरुद्धादि साधनाविषयत्वतः।

अकिञ्चित्कर हेत्वाभास

हेत्वाभासोंके विवेचन-सन्दर्भमें सिद्धसेनने कणाद और न्यायप्रवेशकारक

तीन हेत्वाभासोंका कथन किया है, अक्षपादकी भाँति उन्होंने पाँच हेत्वाभास स्वीकार नहीं किये। प्रश्न हो सकता है कि जैन तार्किक हेतुका एक (अविनाभाव अन्यथानुपपन्नत्व) रूप मानते हैं अतः उसके अभावमें उनका हेत्वाभास एक ही होना चाहिए। वैशेषिक, बौद्ध और सांख्य तो हेतुका त्रिरूप तथा नैयायिक पञ्चरूप स्वीकार करते हैं अतः उनके अभावमें उनके अनुसार तीन और पाँच हेत्वाभास तो युक्त हैं। पर सिद्धसेनका हेत्वाभास त्रैविध्य प्रतिपादन कैसे युक्त है? इसका समाधान सिद्धसेन स्वयं करते हुए कहते हैं कि चूँकि अन्यथानुपपन्नत्वका अभाव तीन तरहसे होता है—कहीं उसकी प्रतीति न होने, कहीं उसमें सन्देह होने और कहीं उसका विपर्यास होनेसे, प्रतीति न होनेपर असिद्ध, सन्देह होनेपर अनैकान्तिक और विपर्यास होनेपर विरुद्ध ये तीन हेत्वाभास होते हैं।

अकलङ्क कहते हैं कि यथार्थमें हेत्वाभास एक ही है और वह है अकिञ्चित्कर, जो अन्यथानुपपन्नत्वके अभावमें होता है। वास्तवमें अनुमानका उत्थापक अविनाभावी हेतु ही है, अतः अविनाभाव (अन्यथानुपपन्नत्व) के अभावमें हेत्वाभासकी सृष्टि होती है। यतः हेतु एक अन्यथानुपपन्नरूप ही है, अतः उसके अभावमें मूलतः एक ही हेत्वाभास मान्य है और वह है अन्यथा अनुपपन्नत्व अर्थात् अकिञ्चित्कर। असिद्धादि उसीका विस्तार है। इस प्रकार अकलङ्कके द्वारा 'अकिञ्चित्कर' नामके नये हेत्वाभासकी परिकल्पना उनकी अपनी उपलब्धि है।

बालप्रयोगाभास

माणिक्यनन्दिने आभासोंका विचार करते हुए अनुमानाभाससन्दर्भमें एक 'बालप्रयोगाभास' नामके नये अनुमानाभासकी चर्चा प्रस्तुत की है। इस प्रयोगाभासका तात्पर्य यह है कि जिस मन्दप्रज्ञको समझानेके लिए तीन अवयवोंकी आवश्यकता है उसके लिए दो ही अवयवोंका प्रयोग करना, जिसे चारकी आवश्यकता है उसे तीन और जिसे पाँचकी जरूरत है उसे चारका ही प्रयोग करना अथवा विपरीत क्रमसे अवयवोंका कथन करना बालप्रयोगाभास है और इस तरह ये चार (द्वि-अवयवप्रयोगाभास, त्रि-अवयवप्रयोगाभास, चतुरवयवप्रयोगाभास और विपरीतावयवप्रयोगाभास) सम्भव हैं। माणिक्यनन्दिसे पूर्व इसका कथन दृष्टिगोचर नहीं होता। अतः इसके पुरस्कर्ता माणिक्यनन्दि प्रतीत होते हैं।

अनुमानमें अभिनिबोध-मतिज्ञानरूपता और श्रुतरूपता

जैन वाङ्मयमें अनुमानको अभिनिबोधमतिज्ञान और श्रुत दोनों निरूपित किया है। तत्त्वार्थसूत्रकारने उसे अभिनिबोध कहा है जो मतिज्ञानके पर्यायोंमें पठित है। षट्खण्डागमकार भूतबलि-पुष्पदन्तने उसे 'हेतुवाद' नामसे व्यवहृत किया है और श्रुतके पर्यायनामोंमें गिनाया है। यद्यपि इन दोनों कथनोंमें कुछ विरोध-सा

प्रतीत होगा। पर विद्यानन्दने इसे स्पष्ट करते हुए लिखा है कि तत्त्वार्थसूत्रकारने स्वार्थानुमानको अभिनिबोध कहा है, जो वचनात्मक नहीं है और षट्खण्डागमकार तथा उनके व्याख्याकार वीरसेनने परार्थानुमानको श्रुतरूप प्रतिपादित किया है, जो वचनात्मक होता है। विद्यानन्दका यह समन्वयात्मक सूक्ष्म चिन्तन जैन तर्कशास्त्रमें एक नया विचार है जो विशेष उल्लेख्य है। इस उपलब्धिका सम्बन्ध विशेषतया जैन ज्ञानमीमांसाके साथ है।

इस तरह जैन चिन्तकोंकी अनुमानविषयमें अनेक उपलब्धियाँ हैं। उनका अनुमान सम्बन्धी चिन्तन भारतीय तर्कशास्त्रके लिए कई नये तत्त्व देता है।

परिशिष्ट–१

सन्दर्भ-ग्रन्थ-सूची

१ अकलंक

सम्पादक–महेन्द्रकुमार जैन।

न्यायविनिश्चय भाग १-२–भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, सन १९५४।

सिद्धिविनिश्चय भाग १-२–भारतीय ज्ञानपीठ, काशी सन १९५९।

प्रमाणसंग्रह–अकलंकग्रन्थत्रयके अन्तर्गत, सिंघी जैन ग्रन्थमाला, अहमदाबाद, सन् १९३९।

लघीयस्त्रय–अकलंकग्रन्थत्रयके अन्तर्गत, सिंघी जैन ग्रन्थमाला, अहमदाबाद, सन् १९३९।

अष्टशती (अष्टस०)–सेठ रामचन्द्र नाथारंग, बम्बई, सन १९१८।

तत्त्वार्थवार्तिक भाग १-२–भारतीय ज्ञानपीठ काशी, सन १९५३।

अकलंकग्रन्थत्रय–सिंघी जैन ग्र०, अहमदाबाद, सन् १९४३।

२ अक्षपाद

न्यायसूत्र–चौखम्भा स० सी०, वाराणसी, सन् १९१६।

३ अनन्तवीर्य

सिद्धिविनिश्चयटीका भाग १-२–भारतीय ज्ञानपीठ काशी, सन् १९५९।

४ अनन्तवीर्य (लघु)

प्रमेयरत्नमाला–चौखम्भा, वाराणसी, वि० स० २०२०।

५ अन्नम्भट्ट

तर्कसंग्रह–निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, सन् १९३३

तर्कसंग्रह–(न्यायबोधिनी) श्री हरिकृष्ण निबन्ध भवनम्, वाराणसी।

६ अभयदेव

सन्मतितर्कटीका–गुजरात विद्यापीठ, अहमदाबाद।

७ अर्चट

हेतुबिन्दुटीका–ओरियण्टल इंस्टीट्यूट, बड़ौदा, सन् १९४९।

८ ईश्वरकृष्ण

सांख्यकारिका–चौखम्भा स० सी०, वाराणसी, सन् १९१७।

९ उदयन
न्यायवार्तिकतात्पर्य० परि०–एश० सो० कालेज, कलकत्ता, सन् १९११।
न्यायकुसुमाञ्जलि–चौखम्भा विद्याभवन, वाराणसी, सन् १९६२।
किरणावली—चौखम्भा विद्याभवन, वाराणसी, सन् १९१८।

१० उद्योतकर
न्यायवार्तिक–चौखम्भा विद्याभवन, वाराणसी, सन् १९१६।

११ उमास्वाति
तत्त्वार्थाधिगमभाष्य–रायचन्द्र जैन शास्त्रमाला, बम्बई।

१२ कणाद
वैशेषिकदर्शन–चौखम्भा सं० सी०, वाराणसी, सन् १९२३।

१३ कुमारिल
मीमांसाश्लोकवार्तिक–चौखम्भा सं० सी०, वाराणसी, सन् १८९८।

१४ केशवमिश्र
तर्कभाषा–चौखम्भा सं० सी०, वाराणसी, सन् १९६३।

१५ कैलाशचन्द्र शास्त्री
जैन न्याय–भारतीय ज्ञानपीठ काशी, सन् १९६६।

१६ कौटिल्य
कौटिलीय अर्थशास्त्र–मैसूर यूनिवर्सिटी, मैसूर, सन् १९६१।

१७ गंगेश
तत्त्वचिन्तामणि–स्याद्वाद महाविद्यालय काशीमें विद्यमान प्रति ८१।ग० १०।

१८ गृद्धपिच्छ
तत्त्वार्थसूत्र–दि० जैन पुस्तकालय, सूरत, वी० नि० २४६७।

१९ चारुकीर्ति
प्रमेयरत्नालंकार–मैसूर यूनिवर्सिटी, मैसूर, सन् १९४८।

२० जगदीश तर्कालंकार
दीधितिटीका–चौखम्भा सं० सी०, वाराणसी।

२१ जयन्तभट्ट
न्यायमंजरी–चौखम्भा सं० सी०, वाराणसी, सन् १९३६।
न्यायकलिका–गंगानाथ झा।

२२ जैमिनि
मीमांसादर्शन–मद्रास विश्वविद्यालय, मद्रास, सन् १९३४।

२३ दलसुखभाई
आगमयुगका जैन दर्शन-सन्मति ज्ञानपीठ, आगरा, सन् १९६६ ।

२४ द्वारिकादास (स०)
न्यायभाष्य-(हिन्दी) भारतीय विद्याप्रकाशन, वाराणसी, सन् १९६६ ।

२५ दिङ्नाग
प्रमाणसमुच्चय-(प्रत्यक्ष परिच्छेद) मैसूर यूनिवर्सिटी, मैसूर, सन् १९३० ।

२६ दुर्वेकमिश्र
धर्मोत्तरप्रदीप-काशीप्रसाद जायसवाल अनुशीलन संस्था, पटना, सन् १९५५ ।

२७ देवराज
पूर्वी और पश्चिमी दर्शन-(द्वि० आवृत्ति) बुद्धिवादी प्रकाश गृह, लखनऊ ।

२८ देवसूरि
प्रमाणनयतत्त्वालोक-आर्हतमत प्रभाकर कार्यालय, पूना, वी० नि० २४५३ ।
स्याद्वादरत्नाकर-(प्रमाणनयतत्त्वालोकालंकार), आर्हतमत प्रभाकर कार्यालय, पूना, वी० नि० २४५३ ।

२९ धर्मकीर्त्ति
न्यायबिन्दु-(द्वि० आवृत्ति) चौखम्भा सं० सी०, वाराणसी, सन् १९५४ ।
प्रमाणवार्तिक-कितावमहल, इलाहाबाद, सन् १९४३ ।
हेतुबिन्दु-ओरियंटल इन्स्टीट्यूट, बड़ौदा सन १९४९ ।
वादन्याय-महाबोधि सभा, सारनाथ ।

३० धर्मभूषण
(सम्पादक—दरबारीलाल कोठिया)
न्यायदीपिका-वीर सेवा मन्दिर, दिल्ली, सन् १९४५ ।

३१ नरेन्द्रसेन
(सम्पादक—दरबारीलाल कोठिया)
प्रमाणप्रमेयकलिका-भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, वी० नि० २४८७ ।

३२ नागार्जुन
उपायहृदय-प्री दिङ्नाग बुद्धिस्ट टेक्स्ट्स ऑन लाजिक फ्रॉम चाइनीज सोर्सेज के अन्तर्गत, ओरि० इंस्टीट्यूट, बड़ौदा, सन १९२९ ।

३३ नेमिचन्द्र
गोम्मटसार जीवकाण्ड-रायचन्द्रशास्त्रमाला, बम्बई सन् १९२७ ।

३४ पाल स्टेनथल
उदान

३५ पार्थसारथि
न्यायरत्नाकर (मी० श्लो० व्या०)–चौखम्बा स० सी० वाराणसी।
शास्त्रदीपिका–निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, सन् १९२५।

३६ पुष्पदन्त-भूतबली
षट्खण्डागम–(मूल हिन्दी सहित) ग्रन्थप्रकाशन समिति फलटन, सन् '६५।

३७ पूज्यपाद
सर्वार्थसिद्धि–भारतीय ज्ञानपीठ काशी, सन १९५५।

३८ प्रभाकर
बृहती–मद्रास यूनि० मद्रास, सन् १९३६।

३९ प्रज्ञाकर
वार्तिकालंकार–महाबोधि सभा, सारनाथ।
प्रमाणवार्तिकभाष्य–काशीप्रसाद जा० अनुशीलन संस्था पटना, सं० २०१०।

४० प्रभाचन्द्र
(सम्पादक—महेन्द्रकुमार)
प्रमेयकमलमार्तण्ड–(द्वि० सं०) निर्णयसागर प्रेस बम्बई, सन् १९४१।
न्यायकुमुदचन्द्र–दि० जैन ग्रन्थमाला बम्बई, सन् १९४१।

४१ प्रशस्तपाद
प्रशस्तपादभाष्य–चौ० सं० सी० वाराणसी, सन् १९२३।

४२ वल्लभाचार्य
न्यायलीलावती–चौ० स० सी० वाराणसी, सन् १९२७।

४३ भगवानदास डॉ०
दर्शनका प्रयोजन

४४ भद्रबाहु
दशवैकालिकनिर्युक्ति–आगमोदय समिति, सूरत।

४५ भासर्वज्ञ
न्यायसार–(मू० भा०) प्राच्य विद्यासंशोधन मंदिर बम्बई सन् १९२८।

४६ मथुरानाथ तर्कवागीश
व्याप्तिपञ्चकम्–मथुरानाथग्रन्थमाला काशी, सन् १९८२।

४७ मनु

मनुस्मृति–चौ० स० सी०, वाराणसी, सन् १९५२।

४८ मल्लिषेण

स्याद्वादमजरी–भा० प्रा० सशोधन मन्दिर, पूना, सन् १९३३।

४९ महेन्द्रकुमार जैन

जैन दशन(द्वि० स०)–वर्णी जैन ग्रन्थमाला वाराणसी, सन् १९६६।

५० माधवाचार्य

सवदशनसग्रह–आनन्दाश्रम मुद्रणालय, पूना, सन् १९२८।

५१ माणिक्यनन्दि

परीक्षामुख–प० घनश्यामदास जैन स्या० म०, काशी, वी० स० १९७२।

५२ मुनि कन्हैयालाल (सम्पादक)

मूलसुत्ताणि–शान्तिलाल वी० सेठ, ब्यावर, वि० स० २०१०।

अनुयोगसूत्र–शान्तिलाल वी० सेठ, ब्यावर, वि० स० २०१०।

स्थानागसूत्र–धनपतिसिंह, कलकत्ता।

भगवतीसूत्र–धनपतिसिंह, कलकत्ता।

५३ यशोविजय

ज्ञानबिन्दुप्रकरण–सिंघी जैन ग्र०, अहमदाबाद सन १९४२।

जैन तर्कभाषा–सिंघी जैन ग्र०, अहमदाबाद, सन् १९३८।

५४ राय डेविड (सम्पादक)

ब्रह्मजालसुत्त

५५ लक्ष्मीसिंह

नीलकण्ठी (त० स० टी०)–निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, सन् १९३३।

५६ वाचस्पति

न्यायवार्तिकतात्प० टी०–चौखम्भा स० सी०, वाराणसी, सन् १९२५।

साख्यतत्त्वकौमुदी–चौखम्भा स० सी०, वाराणसी, सन् १९१७।

५७ वर्द्धमानोपाध्याय

न्यायनिबन्धप्रकाश–गवर्नमेंट स० कालेज, कलकत्ता, सन् १९११।

५८ वसुबन्धु

तर्कशास्त्र–ओरियटल इस्टीटयूट, बडौदा, सन् १९२९।

५९ वाल्मीकि

रामायण–गीता प्रेस, गोरखपुर, वि० स० २०१७।

६० वादिराज
न्यायविनिश्चयवि० भाग १–२—भारतीय ज्ञानपीठ काशी, सन् १९५४।
प्रमाणनिर्णय—मा० दि० जैन ग्र०, बम्बई, वि० सं० १९७४।

६१ वादीभसिंह
(सम्पादक—दरबारीलाल कोठिया)
स्याद्वादसिद्धि—मा० दि० जैन ग्र०, बम्बई, सन् १९५०।

६२ वासुदेव (सम्पादक)
ईशाद्यष्टोत्तरशतोपनिषद्—निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, सन् १९३२।
(ब्रह्मबिन्दूपनिषद्, मैत्रायणी उपनिषद्, सुबालोपनिषद्)

६३ विद्यानन्द
तत्त्वार्थश्लोकवा०—सेठ रामचन्द्र नाथारंग, बम्बई, सन् १९१८।
अष्टसहस्री—सेठ रामचन्द्र नाथारंग, बम्बई, सन् १९१५।
प्रमाणपरीक्षा—सनातन जैन ग्र० कलकत्ता, सन् १९१४।
पत्रपरीक्षा—सनातन जैन ग्र० कलकत्ता, सन् १९१३।
युक्त्यनुशासनालंकार—मा० दि० जैन ग्रन्थमाला, बम्बई।

६४ विज्ञानभिक्षु
सांख्यप्रवचनभाष्य—चौखम्बा, वाराणसी, वि० सं० १९८५।

६५ वीरसेन
धवला—जैन साहित्योद्धारक फण्ड अमरावती, ई० १९५५।
जयधवला—जैन संघ चौरासी, मथुरा, सन् १९४४।

६६ व्यास
महाभारत—गीताप्रेस, गोरखपुर, वि० सं० २०१३।

६७ शबरस्वामी
मीमांसादर्शनभाष्य—मद्रास युनि०, मद्रास, सन् १९३८।

६८ शान्तरक्षित
तत्त्वसंग्रह—ओरियण्टल सीरीज, बड़ौदा, सन् १९२६।

६९ शान्तिसूरि
न्यायावतारवार्ति०—भारतीय विद्याभवन, बंबई, वि० सं० २००५।

७० शालिकानाथ
प्रकरणपञ्चिका—का० हि० विश्ववि०, सन् १९६१।

७१ शकरमिश्र–
वैशेषिकसूत्रोपस्कार–चौखम्भा, वाराणसी, सन १९२३ ।

७२ शकरस्वामी
न्यायप्रवेश–ओरियटल इस्टी०, वडौदा, सन १९२० ।

७३ शंकराचार्य
छान्दोग्योपनि०भाष्य–गीताप्रेस, गोरखपुर, वि० स० २०१३ ।

७४ श्रुतसागर
तत्त्वार्थवृत्ति–भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, सन् १९४९ ।

७५ विश्वनाथ
न्यायसिद्धान्तमुक्तावली–गुजराती प्रेस, बम्बई, सन् १९२३ ।

७६ सतीशचन्द्र विद्याभूषण
ए हिस्टरी ऑफ इडियन लाजिक–कलकत्ता यूनि०, कलकत्ता ।

७७ सदानन्द
वेदान्तसार–चौखम्भा स० सी० वाराणसी, सन १९५९ ।

७८ समन्तभद्र
(सम्पादक-अनुवादक—जुगलकिशोर मुख्तार)
आप्तमीमासा–वीरसेवामन्दिरट्रस्ट, दिल्ली, सन् १९६७ ।
युक्त्यनुशासन–वीरसेवामन्दिर, दिल्ली, सन् १९५१ ।
स्वयम्भूस्तोत्र–वीरसेवामन्दिर, दिल्ली, सन् १९५१ ।

७९ सिद्धसेन
(सम्पादक—प० सुखलाल सघवी)
न्यायावतार–भारतीय विद्याभवन, बबई, वि० स २००५ ।
सन्मतिप्रकरण–ज्ञानोदय ट्रस्ट, अहमदाबाद, सन् १९६३ ।

८० सिद्धर्षिगणि
न्यायावतारटीका–श्वे० जैन महासभा, बम्बई, वि० स० १९८५ ।

८१ हरिभद्र
षड्दर्शनसमुच्चय–आत्मानन्दसभा, भावनगर ।

८२ हेमचन्द्र
प्रमाणमीमासा–सिंघी जैन ग्र०, अहमदाबाद, सन् १९३९ ।

८३ अज्ञातकर्तृक
छान्दोग्योपनिषद्–गीता प्रेस, गोरखपुर ।

८४ अज्ञातकर्तृक
ऋग्वेद

८५ अज्ञातकर्तृक
युक्तिदीपिका—कलकत्ता यूनिव० सं० सी०, कलकत्ता, सन् १९३८।

पत्र-पत्रिकाएँ

(१) अनेकान्त—वीरसेवामन्दिर, दरियागंज, दिल्ली।
(२) जैन सिद्धान्त भास्कर—जैन सिद्धान्त भवन, आरा।
(३) दी जनरल ऑव दी बिहार एण्ड उड़ीसा—रिसर्च सोसायटी, पटना।
(४) जैन एण्टिक्वेरी—जैन सिद्धान्त भवन, आरा।
(५) दार्शनिक—राजस्थान यूनिवर्सिटी, जयपुर।
(६) भारतीय विद्या—भारतीय विद्या भवन, बम्बई।

परिशिष्ट–२

नामानुक्रमणी

अ

अकलङ्क—८, ३१, ३७, ४१, ४७, ५२, ६५, ६६, ६७, ६९, ७३, ७७, ८०, ८१, ८५, ९२, ९३, ९४, ९५, ९६, ९७, १०५, १०६, १०७, ११३, ११४, १२१, १४७, १४८, १४९, १५०, १५४, १५८, १६३, १६५, १६८, १७१, १७२, १७३, १७५, १७७, १७९, १८२, १९५, १९६, १९७, १९८, २०८, २१०, २११, २१६, २१८, २१९, २२८, २२९, २३०, २३१, २३२, २३३, २३४, २३५, २३७, २३८, २३९, २४०, २४३, २५८, २५९, २६०, २६१, २६२।

अक्षपाद—८, ९, ३५, ३७, १०९, १४७, १७३, १७८, १८९, १९०, २०५, २०७, २०८, २४८, २४९, २५०, २५६, २५८, २६२।

अर्चट—८, २२, ३६, ४०, १३१, १३८, १५१, १५२, १५६, १९३, २०६, २३४।

अर्थशास्त्र—६।

अनन्तवीर्य—३२, १२१, १२७, १५०, १६६, १७२, १७५, १८२, १८३, १८६, १८८, १९५, २०२, २१९।

अन्नंभट्ट—१७, ३९, ६०, ११०, १४५, १५६।

अनुयोगद्वारसूत्र—७, २०, २५, २८, २९, ४२, ४३, ८४, ११२।

अनेकान्तजयपताका—३२।

अभयदेव—३२, २०२।

अष्टसहस्री—३२।

असग—२५६।

आ

आप्तमीमांसा—३१, ४७, ९१, ९२, ९६, १७५, १९४।

इ

इन्द्रभूति—२५।

ई

ईश्वरकृष्ण—२२, ४६, ६१, २०५, २५६।

उ

उदयन—८, १६, २६, ३९, ४९, ६०, १३१, १३२, १३४, १३५, १४२, १४४, १४६, १४७, १५५, २५६, २६०।

उद्योतकर—८, १३, १४, १५, १६, २१, ३६, ३८, ३९, ४३, ४९, ६०, ९१, ९५, ९७, ११०, १११, १३१, १४२, १४३, १४७, १६७, १७२, १७३, १९०, १९१,

१९२, १९८, २००, २०५, २३२,
२४९, २५०, २५२, २५६, २५८।

ऋ

ऋग्वेद—३, १५३।

क

कठोपनिषद्—१५३।

कणाद—९, १७, १८, ३५, ४१, ४२,
८९, ६०, ६९, १७४, १९१,
२०४, २०५, २०६, २०८, २१६,
२२०, २४७, २४९, २५०, २५१।

कर्णकगोमि—२०३।

काश्यप—१८, ८९, १७४, १९०,
१९१।

कुमारनन्दि—८१, १६४, १६८, १७५,
१९५, १९६, २०० ।

कुमारिलभट्ट—८, २२, ८०, ५०, ६०,
६६, ६७, १४०, १४१, १५५,
२५६।

केशवमिश्र—१७, ३६, ३९, ८२, ६०,
११०, १११, १३५, १४०, १५५।

कौटिल्य—६, ७।

ग

गंगेश—८, १०, १६, ३६, ३९, ११०,
१४५, १५५, १८१, २५६, २६०।

गदाधर—१७, ३९, १३३।

गुणरत्न—३०, ६६, ७३, ७८, ७६,
८४, १००, १०५, १५८, १६०,
१६१, १६२, १६३, १८२, २६०।

गौतम—८, ९, १०, १९, २४, २९,
३३, ३७, ४८, ४९, ६९, ६६,
९८, ९९, १३१, १८२, १९९,
१७८, १८१, १९२, २३८।

च

चरक—२८, ८२, ७०।

चरकशास्त्र—११२।

चावोति—१५६, १६६, १७१, १७५,
१८१, १८३, १८६, २०२, २४२,
२४४, २४५, २४६।

छ

छान्दोग्योपनिषद्—३, ४।

ज

जगदीश—१७, ३९, १३३।

जयन्तभट्ट—८, १६, ३८, ३९, ८३,
४०, ६०, ११०, १११, १२४,
१२८, १५५, १६७, १७४, १९२,
२००, २३१, २४०, २५१, २५३।

जयराशिभट्ट—१४६।

जल्पनिर्णय—२३७।

जनकपाठा—३२।

जैमिनिसूत्र—४०, १५३।

त

तर्कभाषा—१७।

तर्कपाद—२२।

तर्कसंग्रह—१७, ११०।

तत्त्वचिन्तामणि—१०, १९, ३९, १०५,
११०, १५९।

तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक—१२, ७७, २१९।

तत्त्वार्थसूत्र—२९, ७२, ७३, ७७, ७८,
७९, ८४, १५९, १६०।

तत्त्वसारे—१०।

द

दण्डुमणपरीक्षा—७१।

दर्शनीयार्ड र—२९।

दिङ्नाग—८, १५, १८, २१, ४३, ६१, ६२, ९७, ११७, १२०, १६२, १६८, १९२, २३४, २३८, २४०, २४४, २५६, २५८।

देवेन्द्रबुद्धि–२२।

देवराज–२५७।

देवसूरि—८, ३२, ४७, ५२, ६७, ६९, १२१, १२२, १२४, १२५, १२७, १२८, १४७, १४९, १५०, १५१, १५८, १६५, १६६, १६८, १७२, १७५, १७७, १७९, १८०, १८३, १८५, १८६, १८७, १८८ २०२, २१८, २१९, २२०, २४२, २४४, २४५, २४६, २६०।

ध

धर्मकीर्ति—८, १५, २१, ३६, ४०, ४३, ४७, ५२, ६२, ६६, ६८, ११२, १२७, १३१, १३८, १३९, १४६, १५०, १५१, १५२, १५६, १६८, १७१, १७२, १७४ १७७, १८२, १८५, १९१, १९३, १९७, १९९, २०६, २०७, २०८, २१०, २२०, २२८, २३४, २३५, २३८, २४०, २४३, २४४, २५२, २५३, २५६।

धर्मोत्तर—८, २२, ३६, ४०, १७१, १७२, १७४, २०६।

धर्मभूषण—३२, ४७, ६८, ६९, ७३, ९२, ९५, ९६, १२५, १२६, १२७, १२८, १२९, १४९, १६६, १७०, १७२, १७५, १८६, २०२, २२०, २४४, २४६।

धवला—८१, ८५।

न

नारायणभट्ट—४७, १६८।

न्यायकलिका—१६।

न्यायकुमुदचन्द्र—३२, ११८।

न्यायावतार—३१, ५१, ९१, ९६, १२२, १२४, १६२।

न्यायदीपिका—३२।

न्यायद्वार—२१।

न्यायप्रवेश—२०, २१, ३५, ४०, ४६, ५०, ५१, ५२, ११२, २२८, २३८, २५३।

न्यायबिन्दु–२१, ४७, ५२, २०६, २३८।

न्यायभाष्य—११, ३७, ५०, १०९, ११०, ११५, १३१।

न्यायमंजरी—१६, ११०, २३१।

न्यायरत्नाकर—४७।

न्यायवार्त्तिक—१६, २१, ३८, ११०, ११५, १३१, २३२।

न्यायविनिश्चय—३१, ९२, ९५, ९६, १७१, १९६, २३७।

न्यायविनिश्चयविवरण—३२, ११५, १९४।

न्यायसूत्र–५, ८, ९, १०, १६, २०, २४, २८, २९, ३५, ३७, ४२, ४४, ४८, ४९, ५०, ६०, १०९, १११, १३१, १५४, २३८।

प

पद्मधरमिश्र—३९।

पतञ्जलि—१०।

पत्रपरीक्षा—३२, १६४।
प्रकरणपंजिका—२२, ८७।
प्रज्ञाकर—८, २२।
प्रभाचन्द्र—८, ३२, ४३, ६९, ९२, ११२, ११५, ११८, १२१, १२२, १४७, १४९, १५०, १६५, १६६, १६८, १७२, १७३, १७४, १८२, १८६, १८८ २०२, २१८, २१९।
प्रभाकर—२२, ६०, ६१, ६८, १४०, २४६।
प्रमाणनयतत्त्वालोकालंकार—३२, २४२।
प्रमाणपरीक्षा—३२, ७९, १६४, २१९।
प्रमाणमीमांसा—३२, ६५।
प्रमाणवार्तिक—२१, ४७, २०६।
प्रमाणवार्तिकालंकार—१२०।
प्रमाणसमुच्चय वृत्ति—२१।
प्रमाणसमुच्चय—२१, ११२।
प्रमाणसंग्रह—२१, १७१, १९६, २३२, २३७।
प्रमेयकमलमार्तण्ड—३२, ११८, २१९।
प्रमेयरत्नमाला—३२, २१९।
प्रवचनसार—८४।
प्रशस्तपाद—८, १७, १८, १९, २१, ४०, ४२, ४३, ४४, ४५, ५०, ५१, ६६, ९६, ९८, ९९ १०१, १०८, १०९, ११०, १११, ११२, १२०, १४१ १४२ १४६, १४८, १५५, १६७, १६९ १७१ १७४, १७७, १७८, १८५, १९०, १९९, २०४, २३४, २४०, २४७, २४८, २५१, २४२ २५६।
प्रशस्तपादभाष्य—१०, २५ ३०, ४४, ५१, १२० १४२, २५२।
परीक्षामुख—३२, २३७, २३८।
पात्रस्वामी—८, ४१, १७१, १९४, १९५, १९६, २००।
पार्थसारथि—२२, ४७, ५०, १४१, १६८, २५६।
पाणिनि—१५३।
पूज्यपाद—२९, ४०, ६३, ६४, ६५, ६६, ७३, ७४, १६०, १६३, २६०।
पुष्पदन्त—८३, २६२।

ब

बृहती—२२, ४१।
ब्रह्मजालसुत्त—४।
ब्रह्मबिन्दूपनिषद्—३।

भ

भगवानदास—४।
भगवतीसूत्र—७, २५, ७०, ७१, ७२, ८४।
भद्रबाहु—२६, ३०, ४६, ४८, १७७, १८९, १८७, २६०।
भूतबलि—८३, २६२।

म

मनुस्मृति—७।
महाभारत—५।
महावीर—७५।
मथुरानाथ—१७ १९, १११।
महेन्द्रकुमार—२१२, २११।
मल्लिषेण—१२५।
माठर—८, १५, ४२, ५१, ११८, १८२, १९१, २५९।

माठरवृत्ति—४६, १११।
मानमेयोदय—४७।
माणिक्यनन्दि—८, २२, ३२, ४१, ४७, ५२, ५९, ६७, ६८, ६९, ७३, ९२, ९४, ९५, १२१, १२२, १२७, १३५, १४७, १४९, १५०, १५१, १५६, १६५, १६६, १६८, १७२, १७३, १७५, १७७, १७९, १८०, १८१, १८२, ११३, १८५ १८६, १८८, २०१, २०२, २१८, २१९, २२०, २३७ २३८, २३९, २४०, २४१, २४२, २४३, २४४, २४५, २६०।
मैत्रायणी-उपनिषद—४।

य

यशोविजय—३२, ४७, १५८, १७३, १७५, १७७, १८१, १८७, २०२, २२०, २४४, २४६, २६०।
याज्ञवल्क्य—५।
युक्तिदीपिका—२०, ४५, ५१, १११।
युक्त्यनुशासन—३१।

र

रघुनाथशिरोमणि—३९, १३३।
रामायण—५, १५३।
रूपनारायण—९।

ल

लघीयस्त्रय—३१, ७७, ९२, ९२, ९६, १९६।
लघु अनन्तवीर्य—३२, २१८, २१९।

व

वर्द्धमान उपाध्याय—८, ३९, १३५, १४४, १४५, १४६, १४७, २६०।
वसुबन्धु—८, १९२, २५६।
वात्स्यायन—६, ८ १०, ११, ११, १२, २९, ३०, ३३, ३७, ४८, ४९, ६०, ६५, ९०, ९१, १३१, १४२, १४७, १६७, १६९, १७२, १७३, १८१, १८४, १८७, १९०, २०५, २५६।
वाचस्पति—८, १५, २२, ३६, ३८, ३९, ४३, ८९, ११०, १११, १३१, १३२, १३४, १४३, १४४, १४६, १४७, १५४, १६७, १७४, १८४, १८५, १९२, २००, २०५ २४९, २५६, २६०।
वादन्याय—२३७
वादिराज—३२, ९०, ९२, ११५, ११६, ११८, १२१ १७२, १७५, १९४, २००, २१९, २३०, २३३, २३५, २३७, २३८ २४३।
वादीभसिंह—३७, १५८, २०१।
वासुदेव मिश्र—३९।
वाल्मीकि—५।
विज्ञानभिक्षु—२२, १४०, १४६, १५४, २५६, २६०, २६१।
विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि—२२६।
विद्यानन्द—८, ३२, ३७, ४७, ६६, ६७, ६८, ६९, ७३, ७७, ७८, ७९, ८१, ८५, ९२, ९४, ९८, १००, १०१, १०५, १०६, ११५, ११६, १२१, १४७, १४९, १५०, १५८, १६४, १६५, १६८, १७२, १७३, १७५, १९४, १९५, १९९, २००, २०३, २०८, २११ २१३, २१५, २१६, २१७, २१८, २१९, २२०, २६०, २६२।

पत्रपरीक्षा—३२, १६८।
प्रकरणपंचिका—२२, ४७।
प्रज्ञाकर—८, २२।
प्रभाचन्द्र—८, ३२, ४३, ६९, ९२, ११२, ११५, ११८, १२१, १२२, १४७, १०९, १५०, १६५, १६६, १६८, १७२, १७३, १७५, १८३, १८६, १८८, २०२, २१८, २१९।
प्रभाकर—२२, ६०, ६१, ६८, १४०, २४६।
प्रमाणनयतत्त्वालोकालङ्कार—३२, २४२।
प्रमाणपरीक्षा—३२, ७९, १६४, २१९।
प्रमाणमीमांसा—३२, ६५।
प्रमाणवार्तिक—२१, ४७, २०६।
प्रमाणवार्तिकालङ्कार—१२०।
प्रमाणसमुच्चय सवृत्ति—२१।
प्रमाणसमुच्चय—२१, ११२।
प्रमाणसंग्रह—३१, १७१, १९६, २३३, २३७।
प्रमेयकमलमार्तण्ड—३२, ११८, २१९।
प्रमेयरत्नमाला—३२, २१९।
प्रवचनसार—८४।
प्रशस्तपाद—८, १७, १८, १९, २१, ४०, ४२, ४३, ४४, ४६, ५०, ५१, ६१, ९६, ९८, ९९ १०१, १०८, १०९, ११०, १११, ११२, १२०, १४१, १४२, १४६, १४८, १५५, १६७, १६९, १७१, १७४, १७७, १७८, १८५, १९०, १९१, २०४, २३४, २४०, २४७, २४८, २५१, २५२, २५६।
प्रशस्तपादभाष्य—१९, ३५, ३९, ४४, ५१, १२०, १४२, २५२।
परीक्षामुख—३२, २३७, २३८।
पात्रस्वामी—८, ४१, १७५, १९४, १९५, १९६, २००।
पार्थसारथि—२२, ४७, ५०, १४१, १६८, २५६।
पाणिनि—१५३।
पूज्यपाद—२९, ४०, ६३, ६४, ६५, ६६, ७३, ७४, १६०, १६३, २६०।
पुष्पदन्त—८३, २६२।

ब

बृहती—२२, ४१।
ब्रह्मजालसुत्त—४।
ब्रह्मबिन्दूपनिषद्—३।

भ

भगवानदास—४।
भगवतीसूत्र—७, ३५, ७०, ७१, ७२, ८४।
भद्रबाहु—२६, ३०, ४६, ४८, १७७, १८६, १८७, २६०।
भूतबलि—८३, २६२।

म

मनुस्मृति—७।
महाभारत—५।
महावीर—२५।
मथुरानाथ—१७, ३९, १३३।
महेन्द्रकुमार—२३२, २३३।
मल्लिषेण—१२५।
माठर—८, १५, ४२, ५१, १६८, १८२, १९१, २५६।

माठरवृत्ति—४६, १११।
मानमेयोदय—४७।
माणिक्यनन्दि—८, २२, ३२, ४१, ४७, ५२, ५९, ६७, ६८, ६९, ७३, ९३, ९४, ९५, १२१, १२२, १२७, १३५, १४७, १४९, १५०, १५१, १५६, १६५, १६६, १६८, १७०, १७३, १७५, १७७, १७९, १८०, १८१, १८२, ११३, १८५ १८६, १८८, २०१, २०२, २१८, २१९, २२०, २३७ २३८, २३९, २४०, २४१, २४२, २४३, २४४, २४५, २६०।
मैत्रायणी-उपनिषद—४।

य

यशोविजय—३२, ४७, १५८, १७३, १७५, १७७, १८१, १८७, २०२, २२०, २४४, २४६, २६०।
याज्ञवल्क्य—५।
युक्तिदीपिका—२०, ४५, ५१, १११।
युक्त्यनुशासन—३१।

र

रघुनाथशिरोमणि—३९, १३३।
रामायण—५, १५३।
रूपनारायण—९।

ल

लघीयस्त्रय —३१, ७७, ९२, ९२, ९६, १९६।
लघु अनन्तवीर्य—३२, २१८, २१९।

व

वर्द्धमान उपाध्याय—८, ३९, १३५, १४४, १४५, १४६, १४७, २६०।
वसुबन्धु—८, १९२, २५६।
वात्सायन—६, ८ १०, ११, ११, १२, २९, ३०, ३३, ३७, ४८, ४९, ६०, ६५, ९०, ९१, १३१, १४२, १४७, १६७, १६९, १७२, १७३, १८१, १८४, १८७, १९०, २०५, २५६।
वाचस्पति—८, १५, २२, ३६, ३८, ३९, ४३, ४९, ११०, १११, १३१, १३२, १३४, १४३, १४४, १४६, १४७, १५४, १६७, १७४, १८४, १८५, १९२, २००, २०५ २४९, २५६, २६०।
वादन्याय—२३७
वादिराज—३२, ९०, ९२, ११५, ११६, ११८, १२१ १७२, १७५, १९४, २००, २१९, २३०, २३३, २३५, २३७, २३८ २४३।
वादीभसिंह—३७, १५८, २०१।
वासुदेव मिश्र—३९।
वाल्मीकि—५।
विज्ञानभिक्षु—२२, १४०, १४६, १५४, २५६, २६०, २६१।
विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि—२२६।
विद्यानन्द—८, ३२, ३७, ४७, ६६, ६७, ६८, ६९, ७३, ७७, ७८, ७९, ८१, ८५, ९२, ९४, ९८, १००, १०१, १०५, १०६, ११५, ११६, १२१, १४७, १४९, १५०, १५८, १६४, १६५, १६८, १७२, १७३, १७५, १९४, १९५, १९९, २००, २०३, २०८, २११, २१३, २१५, २१६, २१७, २१८, २१९, २२०, २६०, २६२।

विद्याभूषण—६।

विनीतदेव—२२।

विश्वावसु—५।

विश्वनाथ—८, २९, ६०, ११०, १४५, १५५।

व्योमशिव—१९।

व्याकरणसूत्र—१५३।

वीरसेन—२३, ७९, ८०, ८१, ८२, ८३, ८४, १९५, १९८, २०७, २६२।

वैशेषिकसूत्र—९, १७, ३५।

श

शंकरस्वामी—३६, ४०, ११२, १६८, २३८, २५८।

शंकरमिश्र—४०, १६२, २०४।

शबर—४२, ९८, १०६, १४०।

श्लोकवार्तिक—२२, ४०, १४५।

शांकरभाष्य—४।

शान्तभद्र—२२।

शान्तरक्षित—८, ४१, ६२, १९४।

शाबरभाष्य—४०, ४१, १५३।

शालिकानाथ—२२, ४७, ६१, १४०, १६८, १९३।

शास्त्रदीपिका—२२।

शास्त्रवार्ता समुच्चय—३२।

शान्तिसूरि—१७५।

श्रीकण्ठ—८।

श्रीधर—१९।

श्रीहर्ष—१४६।

श्रुतसागर—७७, ७९, ८१।

ष

षट्खण्डागम—७, २३, ७१, ८०, ८२, ८३, ८४, ८५, १०५, २०६, २६२।

स

स्थानाङ्गसूत्र—७, २३ ७०, ७१, ८४, २०७, २०८।

स्वयम्भूस्तोत्र—३१।

सतीशचन्द्र—६।

सन्मतितर्कटीका—३२।

समन्तभद्र—८, २३, २९, ३१, ४०, ४७, ६२, ६३, ६५, ६७, ६८, ७३, ७४, ९१, ९२, ९६, १६०, १६१, १६२, १६३, १७४, १८२, १९४, १९६, २२६, २५९, २६०।

सर्वदेव—४९।

सर्वार्थसिद्धि—६६।

सांख्यकारिका—२८, ३१, ४२, १११।

सांख्यदर्शन—४३, ५१, ६१, १११, ११२, १४०, १४०, २०५, २६०।

सांख्यतत्त्वकौमुदी—२०५।

सिद्धसेन—८, २९, ३७, ४१, ४७, ५२, ६२, ६५, ७१, ९२, ९६, १२०, १२१, १२२, १२४, १५८, १६२, १६३, १७१, १७३, १७५, १७७, १७८, १८२, १९५, १९६, २२७, २२८, २३०, २४३, २४४, २४६, २६०, २६१, २६२।

सिद्धिविनिश्चय—३१, ३२, १२१, २०८, २३७।

सिद्धर्षिगणि—९१।

सुखलाल संघवी—१५२, १८७, २३१, २३२।

सुबालोपनिषद्—४।

ह

हरिभद्र—३२, ७१।

हेतुबिन्दु—२१, १३९, १९१, १९२

हेतुवार्तिक—१९१।

हेतुचक्रमयत—२१।

हेमचन्द्र—८, ३२, ४७, ५२, ६७, ६८, ६९, ७३, ९२, ९५, १२१, १२२, १२७, १४७, १४९, १५१, १५२, १६५, १६६, १६८, १७२, १७३, १७५, १७७, १८०, १८२, १८३, १८५, १८६, १८७, १८८, २०२, २१८, २२०, २४४, २६०।

परिशिष्ट—३
प्रमुख दार्शनिक-तार्किक-पारिभाषिक शब्द-सूची

अ

अकार्यकारणानुमान—११७।

अकिञ्चित्कर—२३१, २३२, २३३, २३४, २३५, २४०, २४३, २४४, २४५, २६२।

अतिव्याप्त—११२, ११४, १२३, २०१, २५९, २६१।

अर्थापत्ति—३१, ६९, ७०, ७३, ७४, ९८, ९९, १०० १०१, १०२, १०३, १०५, १०६, १०७, १५०, २५७।

अर्थापत्तिपूर्विका—१०३।

अन्तर्व्याप्ति—३१, ३७, १५७, १५८, १७९, २०१, २५७, २५९, २६१

अन्यथानुपपत्ति—३१, ८२, ९१, १०२, १०३, ११३, ११४, ११६, ११८, ११९, १२३, १३५, १५६, १६५, १७५, १७६, १९४, १९६, १९८, १९९, २००, २०१, २०२, २११, २२७, २२८, २३०, २३१, २३२, २३४, २४३, २५७, २५९, २६१

अन्यथानुपपन्नत्व—३१, ५७, ९२, १०७, ११३, ११४, ११६, ११९, १२०, १३६, १९४, १९५, १९६, १९७, १९८, १९९, २००, २०४, २१६, २१८, २२७, २२८, २३०, २३१, २३२, २५९, २६२

अन्यथानुपपद्यमान—१०१, १०३, १५१, २५७।

अन्वय व्याप्ति—११, १५५, १५६, २६१

अन्वयव्यतिरेकी—४, ५७, १०९, ११६, १९२, २०५।

अनध्यवसाय—९८।

अनुभूति—६०, ६१।

अनुमान—३, ४, ५, ६, ७, ८, ९, १०, १२, १३, १४, १६, २५,

२६, २७, २८, २९, ३०, ३१, ३२, ३३, ३८, ३५, ३७, ३९, ५७, ५८, ६८, ६९, ७०, ७१, ७३, ७४, ७५, ७७, ७९, ८०, ८१, ८२, ८३, ८४, ८५, ८६, ८७, ८८, ८९, ९०, ९१, ९२, ९३, ९४, ९५, ९६, ९७, ९८, ९९, १०१, १०२ १०४, १०५, १०८, १०९, ११०, १११, ११२, ११३, ११४, ११५, ११६, ११७, ११८, ११९, १२०, १२१, १२२, १२३, १२४, १२५, १२६, १२७, १२८, १२९, १३०, १३२, १३३, १३४, १३७, १४०, १४६, १४७, १४९, १५१, १५३, १५७, १५९, १६२, १६३, १७०, १८४, १८८, १८९, २०९, २२६, २२९, २३०, २३७, २३८, २४५, २४६, २४७, २४८, २५१, २५४, २५५, २५६, २५७, २५८, २५९, २६०, २६२, २६३।

अनुमानाभास—१३, ८७, ११३, २२६, २२७, २२८, २२९, २३७, २४२, २४३, २४४, २४७, २४८, २५३, २६२।

अनुमेय—१२, १३, १६, ३६, ९१, ९५, १२९, १४९, १६०, १६२, १६६, १६७, १७२, १७३, १७४, १७८, १७९, १८५, १९०, २४८, २५३, २५८।

अनुमेयार्थ—९१, ९५, १०४, १०९, १२८। '

अनेकान्तात्मक—९१, १०२, १९९।

अनैकान्तिक—१९९, २०२, २२८, २३४, २३५, २४३, २५०, २५१, २५२, २६१।

अपूर्वार्थ—६१, ६६, ६७, ६८, ६९।

अपोह—१५४।

अबाधितत्व—१६६।

अबाधितविषयत्व—१८५, १९२, १९३, १९४, २००, २०३।

अभाव—३१, ६९, ७०, ८३, ८८, ९८, ९९, १००, १०३, १०४, १०५, १०६, १०७, १३५, १५०, २०१, २०७, २२७, २५७।

अभावार्थापत्ति—१०३।

अभिनिबोध—३०, ३१, ७२, ७६, ७७, ७८, ७९, ८०, ८१, ८२, ८४, ८५, १०६, २५५, २५६, २५८, २६२, २६३

अभ्यास—११२, ११४, २०१, २५९, २६१

अवग्रह—१००

अवधि—७१, ७२, ७४, ७६।

अविद्या—९८

अविनाभाव—१६, ३१, ३४, ३७, ३९, ४०, ५७, ८७, ९४, ९५, ९६, ९७, १०१, १०२, ११३, ११६, ११८, ११९, १३५, १३६, १३७, १३८, १३९, १४८, १४९, १६०, १५३, १५७, १९१, १६५, १६६, १७२, १७५, १८५, १९२, १९३, १९४, १९५, १९६, १९७, १९८, १९९, २००, २०१, २०२, २०३, २०४, २०९, २५८, २५९, २६१, २६२।

अविसंवादि—६२, ६६, ८६, ८८।
अवीत—१०९, १११, ११५, ११६, २०५।
अवीतानुमान—११५।
असत्प्रतिपक्ष—२००, २०३,।
असत्प्रतिपक्षत्व—१६६, १८५, १९२,।
असमवायि—५९।
आगम—२३, २४, २९, ३३, ६८ ७०, ७१, ७२, ७३, ७४, ७५, ७६, ७७, ८४, ८५, १०१, १०५, १३९, १४९, १५१, १८७, २३०, २३९, २४५, २५१।
आत्मसंवित—११२।

इ

इन्द्रियज्ञान—८३।
इन्द्रियव्यापार—८३।
ईहा—१५४।

उ

उत्तरचर—११८, १३८, १५०, १९८, २०२, २०८, २०९, २१२, २१३, २१८, २१९, २५९।
उदाहरण—९, ११, १५, ३०, ३१, ७५, १६७, १७७, १७८, १८१, १८२, १८४, १८५, १८८, १८९, १९०, १९८, २०२, २२६, २३९, २५९।
उपनय—९, १६६, १६७, १७७, १८१ १८२, १८३, १८४, १८५, १८६, १८८, २४१, २४२।
उपनयाभास—२४२, २४३, २४४, २४५, २४६, २४८, २४९।
उपमान—६९, ७०, ७३, ७४, ७५, ७६, ९८, ९९, १००, १०१, १०५, १०६, १०७, १४९, १५०।
उपादान—१०, १३, २१, ५९, ६५, ९३।
उपेक्षा—९३।

ऊ

ऊहा—७५, ९०, १४७, १५१, १५३, २६०।
ऊहापोह—१०१, १०४, १३७, १४७।

ए

ऐतिह्य—१९, ६९, ९८, ९९, १०५, २५७।

क

कल्पनापोढ—६५।
कार्य—२५, २६, २९, ५९, १०८, २०४, २०६, २०८, २१०, २११, २१४, २१६, २१८।
कार्यकारणरूप—८, ९१६, ११७।
कार्यकारणभाव—५७, ८९, १३८, १३९, १९८।
कार्यहेतु—८९, २१२।
कारकसाकल्य—६५।
कारण—२५, २६, २९, १०८ २०४, २०८, २१०, २११, २१४, २१६, २१८।
कारणकार्यरूप—११६।
कारणहेतु—२०९, २१२।
केवलज्ञान—७१, ७२, ७३, ७४, ७६।
केवलान्वयी—१४, १०९, ११०, १११ १९२, २०५।
केवलव्यतिरेकी—१४, १०९, १९२, २०५।
क्षयोपशम—७४।

ग

गवेषणा—१५४ ।

च

चिन्ता—३०, ३१, ७२, ७५, ७६, ८३, ९०, १००, १०१, १५३, १५४, २६० ।
चेष्टा—६९, ९८, ९९ ।

छ

छल—३०, २५६ ।

ज

जल्प—३०, २५६ ।
ज्ञातत्व—१९३, १९४ ।

त

तर्क—१५, ५७, ६८, ७२, ७३, ७४, ७५, ७८, ८०, ९०, ९८ १२१, १२५, १३७, १४४, १४६, १४७, १४८, १४९, १५३, १५४, १५५, १५९, १६३, १७०, १७१, २५६, २६३।
तर्करसिक—८९ ।
तथोपपत्ति—३१, १२३, १५६, १७६, २०१, २६१ ।

द

दृष्ट—२३, १०० ।
दृष्टान्ताभास—३१, २४१, २४२, २४६ २४८, २५०, २५२, २५३ ।

न

नास्तित्वज्ञान—१०३ ।
नास्तित्वग्राहीज्ञान—१०३ ।
निगमन—९, १६६, १६७, १८३, १८४, १८५, १८६, १८७, १८८, २४१, २४२ ।
निगमनाभास—२४३, २४४, २४५, २४६, २४८, २४९ ।
निग्रहस्थान—३०, २५६ ।
निर्णय—६९, ९८, ९९ ।
निदर्शनाभास—२४८, २५२ ।
निर्विकल्पक—६५ ।

प

पक्ष—२१, २९, ३१, ३४, ३५, ३६, ३७, १६५, १६८, १६९, १७१ १७२, १८२, १८८, १८९, २४६, २५०, २५७, २५८, २५९ ।
पक्षवृत्तित्व—१६६ ।
पक्षधर्मता—९, १३, १६, १७, ३४, ३५, ३६, ३७, ३८, ३९, ४१, १८३, १५६ ।
पक्षधर्मत्व—११३ ।
परसंवेदी—६३ ।
परार्थ—३१, ७८, ८५, ११०, १११, ११२, ११९ १२२, १२४, १२५, १२९ ।
परार्थानुमान—१०६, १०८, १०९, १२०, १२१, १२२, १२३, १२४, १२८, १२९, १६२, १६४, १६७, १६८, १८३, १८५, १८७, १८८, २४०, २४४, २५०, २५१, २५३, २५४, २६३ ।
परार्थानुमानाभास—२५३ ।
परार्थसंवित्—११२ ।
परामर्श—१०, १३, १४३, २५६ २५७ ।
परोक्ष—३, ३०, ३१, ३३, ५९, ७२,

७३, ७४, ७६, ७७, १००, १२१ १४१।
परोक्षप्रमाण—१०७, १५४, २५७।
पूर्वचर—११८, १३८, १५०, १९८, २०२, २०८, २०९, २१२, २१३, २१८, २१९, २४९।
पूववत—१४, २०, २५, २८, १०९, ११२, ११३, ११४, ११७।
प्रतिज्ञा—९, १९, ३२, १२५, १२८, १२९, १६१, १६२, १६३, १६७, १६८, १६९, १७०, १७१, १८४, १८५, १८६, १८७, १८८, १८९, २२६, २४२, २४३, २४८, २४९, २५६, २६०।
प्रतिज्ञाभास—२२९, २४७, २४८, २४९, २५१, २६१।
प्रतिभा—१०० १०१ १०५।
प्रतिषेधसाधक—१०४।
प्रतिपत्ति—१३, ९१, १६, ६७, १०६ १०७, १२१, १२५, १६७, १७४, १८४, १८५, २५७, २५८।
प्रत्यक्ष—१२, ३०, ३३, ६५, ६७, ६९ ७०, ७१, ७२, ७३, ७४, ८५, ८६, ८७, ८८, ८९, ९०, ९८, १००, १०३, १०४, १२२, १२४ १२५, १२६, १२७, १३४, १३५ १३८, १३९, १४०, १४१, १४३ १४७, १४८, १५०, १५२, १६६ १७०, २२६, २३०, २३५, २४५, २४८, २५१, २५७।
प्रत्यक्षतोदृष्टसम्बन्ध—१०९।
प्रत्यभिज्ञान—२५, २७, २९, ६८, ७३ ७४, ७५, ७६, ७८, ८०, ९८ १०१, १२१, १२५, १५२, २५७।
प्रमा—६०, ६३।
प्रमाण—१, ३, १७, १८, ३०, ३१, ३२, ३७, ५८, ५९, ६०, ६१, ६२, ६५, ७३, ८९, ९६, ९८, ९९, १०१, १०२, १२१, १२६, १२७, १३६, १४०, १४३, १४५, १४७, १५०, १५३, १५४, १७१ १८४, २०३, २१९, २३२, २३७ २५७।
प्रमाणाभास—५८, ५९, ७१, ७२।
प्रमेय—१०२।
प्रामाण्य—६७, ८७, ८८, ८९, १३७, १४६, १४७, १५४।
प्रातिभ—९८, ९९।
प्रातिभज्ञान—१०५।

ब

बुद्धि—१००।
बहिर्व्याप्ति—१५७, १५८, २०१।

म

मति—३०, ३१, ७१, ७२, ७३, ७४ ७६, ७७, ७८, ८०, ८१, ८२, ८३, ८४, ८५।
मतिज्ञान—१०६।
मन पयय—७१, ७२, ७४, ७६।
मागणा—१५४।
मीमासा—१५४।
मुख्यानुमान—१२१।
मेधा—१००।

य

यथार्थानुभव—६०।
योग्यता—६२, ६३।

ल

लिंग—१०, १२, १३, ३५, ३७, ३९, ८३, ८९, ९२ ९३, ९७, १०३, १०५, १३०, १९२, २४८, २४९, २५३, २५६, २५७।
लिंगदर्शन—१२, ७५, ९०, ९१, ९६, १४३, २५८।
लिङ्गपरामर्श—१०, १३, १६, ९१, ९५, ९६, ९७।
लिङ्गाभास—१९०, २४७, २४८, २५६।
लिङ्गलिङ्गीसम्बन्धस्मृति—९१।
लैङ्गिक—९, ६९, ८२, ९८, १०१, १०८, २४७, २४८, २५५, २५८।

व

वार्ता—५।
वाद—२०, ३०, २५६।
विज्ञान—९४।
वितण्डा—२०, २०, २५६।
विद्या—८५।
विपक्षव्यावृत्त—१९०।
विपक्षासत्त्व—१९२, १९३, १९५, १९९, २५१।
विवक्षितैकसंख्यत्व—१९३, २०३।
विरोधि—१०८।
वीत—१०९, १११, ११३, ११५, ११६, २०५।
वीतानुमान—११५।
व्यतिरेक व्याप्ति—१५५, १५६।
व्याप्ति—९, १०, १२, १५, १६, ३४, ३५, ३७, ३८, ३९, ४०, ७५, ८८, १०२, ११४, १२०, १२४, १२५, १२६, १२८, १२९, १३०, १३१, १३५, १३७, १३९, १४०, १४१, १४४, १४५, १४६, १४७, १४८, १५०, १५२, १५४, १५५, १५६, १५७, १५८, १६६, १७८, १७९, २५७, २५९, २६०, २६१।
व्याप्तिनिर्णय—९०।
व्याप्तिनिश्चय—९०, १०२, १४८, १५१।
व्याप्तिस्मरण—७५, ९०, ९६।

श

शब्द—८, ९, ११, १९, ३३, ३५, ३६, ३८, ४१, ५०, ६९, ७१, ७७, ८१, ८२, ८५, ९१, १५१, १५३, १६२, १८१, १८४, २३४, २३६, २३७।
शब्दार्थापत्ति—१०३।
शेषवत्—८, १४, २०, २५, २७, २९, ११४, ११६, ११७।
श्रुत—३०, ७१, ७२, ७४, ७६, ७७, ८१, ८२, ८३, ८४, ८५, १००, १०५, १०७, १२१।

स

सम्भव—३१, ६९, ९८, ९९, १००, १०४, १०५, १०६, १०७, ११३।
सत्ता—३०, ३१, ७३, ७५, ७६, ८३, १००।
संयोगी—१०८, ११३, ११८, २०४, २०६।
सत्प्रतिपक्ष—२००, २३४, २४६, २४९।
सन्निकर्ष—६३, ६५।
सपक्षसत्त्व—२१, ३६, १९२, १७३, १९७, १९८, १९९, २५१।

सपक्ष—३६, ३७, १७१, १७९, १८६
१९०, १९१, १९५, १९७, २५२।
समवाय—६४, २०९।
समवायि—१७, ५९, १०८, ११३,
११८, २०४, २०६, २१२।
सहचर—११७, १३८, १९८, २०२,
२०८, २०६, २११, २१२, २१३
२१५, २१८, २१९।
सर्वज्ञता—६३।
सविकल्पक—६८।
साध्य—६, ११, १३, ३०, ३१, ३४,
३५, ३७, ७५, ७७, ८२, ८७,
९२, ९३, ९४, १०१, १०२,
११२, ११३, ११५, ११८, ११९
१२१, १२४, १२६, १२८, १२९
१३१, १३२, १३४, १३६, १३७
१३९, १४३, १४८, १४९, १५१
१५३, १५६, १५७, १५८, १६१
१६५, १६९, १७०, १७१, १७२
१७३, १७६, १७८, १७९, १८०
१८१, १८४, १८६, १८७, १८८
१८९, १९६, १९९, २००, २०१,
२०२, २०३, २०७, २१९, २२८
२२९, २३५ २३७, २४० २४९,
२५०, २५२, २५३, २५८ २६०।
साध्याज्ञान—९२, ९६, ११३, १२३,
१२८, १२९।
साध्यनिश्चय—९२।
साध्यप्रतिपत्ति—११९, १७२।
साध्याविनाभाव—१३, ७५, ७७, ८२
८३, ८८, ९२, ९३, ९४, ९७,
१२१, १२४, १६५, १६६, १८३
१८८, २०१, २५८।
साध्याभास—१३०, १४३, २०२,
२२९, २३०, २४०, २६१।
साध्यसाधनभाव—९, १३०, १८७।
साधन—३१, ३४, ३७, ७२, ७७, ७८
८२, ८३, ८५, ८७, ९२, ९३,
९४, १०१, १०२, ११९, १२६,
१२८, १२९, १३१, १३२, १३५
१३६, १३९, १४८, १४९, १५१
१५३, १५६, १५७, १५८, १६१
१६५, १७६, १७८, १७९, १८०
१८७, १८८, १८९, २०७, २०९
२११, २१५, २२८, २२९, २३५
२३६, २३७, १४०, २५०, २५१,
२५३, २५४, २५५, २६१।
साधनाभास—१३२, १३६, २३०,
२३१, २४३, २६१।
साधर्म्यव्याप्ति—१५९।
सामान्यतोदृष्ट—८, १२, १४, २८,
१०८, १०९, १११, ११६, ११७,
२०५।
स्मरण—१०१, १०३, १०४, १२१
१२२, २५९।
स्मृति—१२, ३०, ३१, ६८, ७२, ७३,
७४, ७५, ७६, ७८, ९८, ९९,
१००, १०६, १२५, २५७।
स्वार्थ—३१, ७७, ७८, ७९ ८०, ८१,
११०, १११, ११२, ११९, १२२
१२५।
स्वार्थानुमान—१०६, १०९ ११२,
११९, १२०, १२१, १२२ १२४
१२५, १२६, १२८, १२९, १६७
१८७, १८८, २६३।

स्वार्थानुमानाभास—२५३।
स्वनिश्चयार्थानुमान—१०९, १०८।
स्वसंवेदी—६२, ६८।
स्याद्वादन्याय—९१।

ह

हेतु—३, ४, ५, ६, ९, ११, १५, १६, २९, ३१, ३६, ३८, ३९, ७१, ८२, ८४, ८५, ८६ ८७, ६१, ९२, ११३, ११८, १२०, १२२, १२३, १२४, १२८, १२९, १३६, १३९, १५५, १५६, १५७, १५८, १५९, १६०, १६१, १६२, १६५, १६७, १६८, १७१, १७३, १७४, १७५, १७६, १८२, १८४, १८६, १८७, १८८, १८९, १९०, १९१, १९२, १९३, १९४, १९५, १९६, १९७, १९८, १९९, २००, २०१, २०२, २०३, २०४, २०५, २०६, २०७, २०९, २१५, २१८, २१९, २२७, २४४, २४२, २४५, २४९, २५०, २५५, २५६, २५८, २५९, २६२।

हेत्वाभास—९, १०, १६, ३०, ३१, ८७, ८८, ९४, ११३, ११४, ११६, ११८, ११९, १२१, १७४, १९२, १९७, २०२, २२७, २३१, २३२, २३३, २३४, २३५, २३८, २३९, २४०, २४२, २४३, २४४, २४५, २४६, २४८, २४९, २५०, २५१, २५३, २६१, २६२।

●

परिशिष्ट—४

प्रमुख जैनतर्कग्रन्थकार और उनकी तर्ककृतियाँ[1]

गृद्धपिच्छ (वि० १-३ शती)	तत्त्वार्थसूत्र	प्रकाशित
समन्तभद्र	आप्तमीमांसा	प्रकाशित
(वि स २-३ शती)	युक्त्यनुशासन	"
	स्वयम्भूस्तोत्र	"
	जीवसिद्धि	पार्श्वनाथचरित में वादिराज द्वारा उल्लिखित
सिद्धसेन	सन्मतितर्क	प्रकाशित
(वि ४ ५ वी शती)	कुछ द्वात्रिंशतिकाएँ	प्रकाशित
देवनन्दि-पूज्यपाद	सारसंग्रह	धवला टीकामें उल्लिखित
(वि, ६ वी शती)	सर्वार्थसिद्धि	भारतीय ज्ञानपीठ, वाराणसी
श्रीदत्त (वि ६ वी श)	जल्पनिर्णय	तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकमें विद्यानन्द द्वारा उल्लिखित
सुमति (वि ६ वी श)	सन्मतितर्क टीका	पार्श्वनाथचरितमें वादिराज द्वारा उल्लिखित
	सुमतिसप्तक	मल्लिषेण प्रशस्तिमें निर्दिष्ट

(इन्हीका निर्देश शान्तरक्षितके तत्त्वसंग्रहमें 'सुमतेर्दिगम्बरस्य' के रूपमें है)

पात्रस्वामी (पात्र केशरी) (वि ६ वी)	त्रिलक्षणकदर्थन	अनन्तवीर्याचार्य द्वारा सिद्धिविनिश्चय टीकामें उल्लिखित और तत्त्वसंग्रहमें शान्तरक्षितद्वारा आलोचित
वादिसिंह (वि ६-७ श)		वादिराजके पार्श्वनाथचरित और जिनसेनके महापुराणमें स्मृत

---

१ यह सूची वर्णी ग्रन्थमाला द्वारा प्रकाशित जैन दर्शन, भारतीय ज्ञानपीठद्वारा प्रकाशित जैन न्याय और वीरसेवामन्दिरसे प्रकाशित आप्तपरीक्षाके आधारसे दी गयी है।

अकलङ्कदेव (वि ७ वीं)	लघीयस्त्रय (स्ववृत्तिसहित)	सिंघी जैन ग्रन्थमाला अकलङ्क ग्रन्थत्रयके अन्तर्गत
	न्यायविनिश्चय (स्ववृत्तिस)	,,
	प्रमाणसंग्रह (स्ववृत्तिसहित)	,,
	सिद्धिविनिश्चय (स्वोपज्ञवृत्तिसहित)	भारतीय ज्ञानपीठ काशी
	अष्टशती (आप्तमीमांसावृत्ति)	गांधीनाथारंग जैन ग्रन्थमाला
	तत्त्वार्थवार्तिक सभाष्य	भारतीय ज्ञानपीठ काशी
हरिभद्र (वि ८वीं शती)	अनेकान्तजयपताका	गायकवाड़ सीरिज बड़ौदा
	अनेकान्तवादप्रवेश	
	षड्दर्शनसमुच्चय	आत्मानन्द सभा भावनगर
	शास्त्रवार्तासमुच्चय	देवचन्द लालभाई सूरत
	न्यायप्रवेशटीका	गायकवाड़ सीरिज बड़ौदा
कुमारसेन (वि ७७०)		जिनसेनद्वारा महापुराणमें और विद्यानन्दद्वारा अष्टसहस्रीमें स्मृत
सिद्धसेन(न्यायावतारकार) (वि ८ वीं श)	न्यायावतार	प्रकाशित
	कुछ द्वात्रिंशतिकाएँ	,,
कुमारनन्दि (वि ८वीं श)	वादन्याय	विद्यानन्दद्वारा प्रमाण परीक्षामें उल्लिखित
वादीभसिंह[1] (वि ८ वीं श)	स्याद्वादसिद्धि	मा० दि० जैन ग्रन्थमालासे प्रकाशित
	नवपदार्थनिश्चय	मूडबिद्री भण्डार
अनन्तवीर्य (वृद्ध) (वि ८ ९ वीं शती)	सिद्धिविनिश्चयटीका	रविभद्रपादोपजीवि अनन्त वीर्यद्वारा सिद्धिविनिश्चय टीकामें निर्दिष्ट
अनन्तवीर्य रविभद्रपादोपजीवि (वि ९वीं शती)	सिद्धिविनिश्चयटीका	भारतीय ज्ञानपीठ, वाराणसी

१ विशेषके लिए देखिए मेरे द्वारा सम्पादित और माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला द्वारा प्रकाशित स्याद्वादसिद्धिकी प्रस्तावना।

विद्यानन्द[1] (वि० ८३२-८९७)	विद्यानन्दमहोदय	तत्त्वार्थश्लोकवर्तिकमें स्वय निर्दिष्ट तथा देवसूरि द्वारा स्याद्वादरत्नाकरमें उद्धत
	तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक	गाधी नाथारग ग्रन्थमाला
	अष्टसहस्री (आप्तमीमासा अष्टशतीटीका)	गाधी नाथारग ग्रन्थमाला
	आप्तपरीक्षा	वीर सेवा मन्दिर, दिल्ली,
	प्रमाणपरीक्षा	सनातन जैन ग्रन्थमाला
	पत्रपरीक्षा	"
	युक्त्यनुशासनालकार (युक्त्यनुशासनटीका)	माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला
	सत्यशासनपरीक्षा	भारतीय ज्ञानपीठ, वाराणसी
	श्रीपुरपार्श्वनाथस्तोत्र	वीर सेवा मन्दिर, दिल्ली
अनन्तकीर्ति (वि १०वी शती)	जीवसिद्धिटीका	वादिराजके पार्श्वनाथ-चरितमें उल्लिखित
	बृहत्सर्वज्ञसिद्धि	माणिकचन्द्र जैन ग्रन्थमाला
	लघुसर्वज्ञसिद्धि	" "
देवसेन (वि० ९९०)	नयचक्र (प्राकृत)	प्रकाशित
	आलापपद्धति	"
वसुनन्दि (वि १०-११श)	आप्तमीमासावृत्ति	सनातन जैन ग्रन्थमाला काशी
माणिक्यनन्दि[2] (वि स १०५०-१११०)	परीक्षामुख	अनेक स्थानोंसे प्रकाशित
सोमदेव	स्याद्वादोपनिषद्	दानपत्रमें उल्लिखित, जैन साहित्य और इतिहास पृ० ८८
वादिराज (वि० १०८२)	न्यायविनिश्चयविवरण	भारतीय ज्ञानपीठ, वाराणसी
	प्रमाणनिर्णय	माणिकचन्द्र जैन ग्रन्थमाला
प्रभाचन्द्र (वि स १०६७-११३७)	प्रमेयकमलमार्तण्ड (परीक्षामुखटीका)	निर्णयसागर प्रेस बम्बई
	न्यायकुमुदचन्द्र (लघीयस्त्रयटीका)	माणिकचन्द्र जैन ग्रन्थमाला

---

1 इसका विशेष परिचय मेरे द्वारा सम्पादित और वीरसेवामन्दिर-द्वारा प्रकाशित आप्त परीक्षाकी प्रस्तावना देखें।

2 विशेषके लिए देखें, आप्तपरीक्षाकी प्रस्तावना।

सिद्धर्षि (वि ११वीं श)	न्यायावतारवृत्ति	रायचन्द्र शास्त्रमाला बम्बई
अभयदेव (वि १०६७-११३७)	सन्मतितर्कटीका	गुजरात विद्यापीठ अहमदाबाद
अनन्तवीर्य (वि० १२वीं शती)	प्रमेयरत्नमाला (परीक्षामुखवृत्ति)	चौखम्बा संस्कृत सीरिज वाराणसी
शान्तिसूरि (वि १२वीं श)	न्यायावतारवार्तिक सवृत्ति	सिंघी जैन ग्रन्थमाला बम्बई
देवसूरि (वि ११४३-१२२६)	प्रमाणनयतत्त्वालोकालंकार	आर्हत प्रभाकर कार्यालय पूना
	स्याद्वादरत्नाकर	" "
हेमचन्द्र (वि ११४५-१२२९)	प्रमाणमीमांसा	सिंघी जैन ग्रन्थमाला बम्बई
	अन्ययोगव्यवच्छेद-द्वात्रिंशतिका	प्रकाशित
	वादानुशासन	अनुपलब्ध
	वेदांकुश	प्रकाशित
भावसेन त्रैविद्य (वि १२-१३ शती)	विश्वतत्त्वप्रकाश	जीवराज जैन ग्रन्थमाला, सोलापुर
लघुसमन्तभद्र (वि १३ वीं श)	अष्टसहस्री टिप्पण	प्रकाशित
आशाधर (वि १३ वीं शती)	प्रमेयरत्नाकर	आशाधर प्रशस्तिमें उल्लिखित
शान्तिषेण (वि १३ वीं शती)	प्रमेयरत्नसार	जैन सिद्धान्तभवन आरा (अप्रकाशित)
अभयचन्द्र (वि १३वीं श)	लघीयस्त्रयतात्पर्यवृत्ति	माणिकचन्द्र जैन ग्रन्थमाला
रत्नप्रभसूरि (वि १३ वीं शती)	स्याद्वादरत्नाकरावतारिका	प्रकाशित
मल्लिषेण (वि १४ वीं शती)	स्याद्वादमंजरी	रायचन्द्र जैन शास्त्रमाला बम्बई
जिनदेव	कारुण्यकलिका	न्यायदीपिकामें उल्लिखित
धर्मभूषण (वि १५वीं श)	न्यायदीपिका	वीर सेवा मन्दिर, दिल्ली
अजितसेन	न्यायमणिदीपिका (प्रमेयरत्नमालाटीका)	जैन सिद्धान्तभवन आरा (अप्रकाशित)

१ विशेषके लिए देखिए मेरे द्वारा सम्पादित और वीरसेवामन्दिर दिल्ली-द्वारा प्रकाशित 'न्यायदीपिका' की प्रस्तावना।

शान्तिवर्णी	प्रमेयकण्ठिका	जैन सिद्धान्त भवन आरा (अप्रकाशित)
नरेन्द्रसेन[1] (वि १७८७)	प्रमाणप्रमेयकलिका	माणिकचन्द्र जैन ग्रन्थमाला
चारुकीर्ति[2] (वि १८वीं श)	प्रमेयरत्नालंकार	मैसूर यूनिवर्सिटी, मैसूर
	अर्थप्रकाशिका	अप्रकाशित
	सप्तभङ्गीतरङ्गिणी	प्रकाशित
	प्रमेयकमलमार्तण्डटिप्पण (अपूर्ण)	अप्रकाशित
यशोविजय (वि १८वीं श)	अष्टसहस्रीविवरण	प्रकाशित
	अनेकान्तव्यवस्था	
	जैनतर्कभाषा	सिंघी जैन ग्रन्थमाला
	ज्ञानबिन्दु	सिंघी जैन ग्रन्थमाला
	न्यायखण्डखाद्य	प्रकाशित
	अनेकान्तप्रवेश	,,
	न्यायालोक	,,
	शास्त्रवार्तासमुच्चयटीका	,,
	गुरुतत्त्वविनिश्चय	,,

०

१ विशेषके लिए देखिए, भारतीय ज्ञानपीठ वाराणसी द्वारा प्रकाशित मेरा प्रमाणप्रमेयकलिकाकी प्रस्तावना।

२ विशेषके लिए देखिए मैसूर यूनिवर्सिटी द्वारा प्रकाशित प्रमेयरत्नालंकारकी प्रस्तावना।

ग्रन्थ-संकेत सूची

अकलंकग्र० } अकलंकग्रन्थत्रय
अ० ग्र० }

अष्टश०—अष्टशती

अष्टस०—अष्टसहस्री

आप्तमी०—आप्तमीमांसा

उ० हृ०—उपायहृदय

अनुयो० सू०—अनुयोगसूत्र

किरणा०—किरणावली

गो० जी०—गोम्मटसार जीवकाण्ड

जै० त० भा०—जैन तर्कभाषा

तर्कसं० } तर्कसंग्रह
त० सं० }

तत्त्वसं०—तत्त्वसंग्रह

त० भा० } तर्कभाषा
तर्कभा० }

त० वा० } तत्त्वार्थवार्तिक
तत्त्वार्थवा० }

त० चि०—तत्त्वचिन्तामणि

त० शा०—तन्त्रशास्त्र

त० सू०—तत्त्वार्थसूत्र

त० वृ०—तत्त्वार्थवृत्ति

त० श्लो० } तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक
तत्त्वार्थश्लो० }

त० भा०—तत्त्वार्थाधिगमभाष्य

दशवै० नि०—दशवैकालिकनिर्युक्ति

न्या० वि० } न्यायविनिश्चयविवरण
न्यायवि० }

न्यायबि० } न्यायबिन्दु
न्या० बि० }

न्यायवा०—न्यायवार्तिक

न्यायभा०—न्यायभाष्य

न्यायसू०—न्यायसूत्र

न्यायमं०—न्यायमंजरी

न्यायर०—न्यायरत्नाकर

न्यायवा० ता०—न्यायवार्तिकतात्पर्यटीका

न्यायाव०—न्यायावतार

न्यायकुसु०—न्यायकुसुमाञ्जलि

न्यायकुमु० } न्यायकुमुदचन्द्र
न्या० कु० }

न्या० प्र० } न्यायप्रवेश
न्यायप्र० }

न्या० को०—न्यायकोश

न्यायक०—न्यायकलिका

न्यायाव० वा०—न्यायावतारवार्तिकवृत्ति

न्या० दी० } न्यायदीपिका
न्यायदी० }

न्यायवि० प्र०—न्यायविनिश्चयप्रकाश

न्या० वा० ता० परि—न्यायवार्तिक-
,, तात्पर्यपरिशुद्धि

प० मु० } परीक्षामुख
परीक्षामु० }

प्रमाणप्रमेयक०—प्रमाणप्रमेयकलिका

प्र० मं०—प्रमाणमंजरी

प्र० नि०—प्रमाणनिर्णय

प्रमाणसं०—प्रमाणसंग्रह

प्रशस्त० भा० } प्रशस्तपादभाष्य
प्र० भा० }

प्र० वा०—प्रमाणवार्तिक

प्र० प० } प्रमाणपरीक्षा
प्रमाणप० }

प्रमेयक० मा०—प्रमेयकमलमार्तण्ड

प्र न त { प्रमानयतत्त्वालोक / प्रमाणनयतत्त्वालोकालंकार

प्रमेयर० मा०–प्रमेयरत्नमाला

प्र० मी०–प्रमाणमीमांसा

प्रमेयरत्ना०–प्रमेयरत्नालंकार

भ० सू०–भगवती सूत्र

प० प० / पत्रप० } पत्रपरीक्षा

मी० श्लो० वा०–मीमांसाश्लोकवार्तिक

मी० द०–मीमांसादर्शन

मूलसु०–मूलसुत्ताणि

युक्तिदी० / यु० दी० } युक्तिदीपिका

युक्त्यनु०–युक्त्यनुशासन

वैशे० द०–वैशेषिकदर्शन

वैशेषिकसूत्रो० / वैशे० उप० } वैशेषिकसूत्रोपस्कार

वेदान्तसा०–वेदान्तसार

सां० का०–सांख्यकारिका

सां० भा०–सांख्यदर्शनभाष्य

सां० त० कौ०–सांख्यतत्त्वकौमुदी

शास्त्रदी०–शास्त्रदीपिका

षट्खण्डा०–षट्खण्डागम

स० सि०–सर्वार्थसिद्धि

सि० वि०–सिद्धिविनिश्चय

सिद्धिवि० टी–सिद्धिविनिश्चयटीका

स्वयम्भू०–स्वयम्भूस्तोत्र

स्याद्वादर०–स्याद्वादरत्नाकर

स्या० सि०–स्याद्वादसिद्धि

सि० मु०–सिद्धान्तमुक्तावली

स्थानांगसू०–स्थानांगसूत्र

सर्वद० सं०–सर्वदर्शनसंग्रह

हेतुवि०–हेतुबिन्दु

हेतुवि० टी०–हेतुबिन्दुटीका

ज्ञानवि०–ज्ञानबिन्दुप्रकरण

संशोधन

अशुद्ध	शुद्ध	पृ०	पंक्ति
पात्रल्वामी	पात्रस्वामी	८	८
न्यायमाप्य	न्यायभाष्य	११	३
मुदाहणे	मुदाहरणे	११	२२
उपलब्धि	उपलब्धि	१२	१८
मिगपरामर्श	लिंगपरामर्श	१३	१३
चतुलक्षिण	चतुर्लक्षण	१४	१५
हेहु	हेतु	१५	६
ञ्यवयन	ञ्यवयव	१५	१८
सागोपाग	सांगोपांग	१६	६
अन्तमूत	अन्तर्भूत	१६	१२
समानाधिकरण्य	समानाधिकरण	१७	२६
प्रभावित	प्रभावित	१९	१५
उपायहृदय	उपायहृदयमें	२०	५
विशेपतथा	विशेषतया	२१	१०
प्रयाण-	प्रमाण-	२१	१२
घमकार्ति	धर्मकीर्ति	२१	२४
न्यायाविन्दु	न्यायबिन्दु	२१	२४
तव शास्व	तत्त्व शास्त्र	२३	९
स्नानाग	स्थानांग	२३	१३
धमभूपण	धर्मभूषण	२४	२४
दोषावत	दोषवत्	२९	१
अभिभिनोघ	अभिनिबोध	३०	१८
जाता	जात	४०	१८
पतिपादित	प्रतिपादित	४३	१९
स्वर्था—	स्वार्था—	४४	२४
हो	हो	४४	२५
प्रत्यगधिरुद्ध	प्रत्यक्षविरुद्ध	४६	१५
न्याय—	न्याय—	५०	७

अशुद्ध	शुद्ध	पृ०	पंक्ति
आश्रयसिद्ध	आश्रयासिद्ध	५२	१
पदार्थो	पदार्थोमें	६४	१९
प्रयाणो	प्रमाणो	७०	२
कहलाहा	कहलाता	७५	१४
बीध	बोध	७८	१३
तारद	तरिद	७९	१२
गमयसि	गमयति	८२	५
पर्यायय—	पर्याय—	८५	१५
कमारनन्दि	कुमारनन्दि	११६	७
न्यायप्रवेशकारक	न्यायप्रवेशकारकी तरह	२५१	३२
सामहित	समाहित	८५	१५
हेतु	(हेतु)	८६	१५
वृक्षका	वृक्षकी	८६	१६
सकता	सकती	८६	१६
अग्नि	अग्नि	८७	१७
लिंगनशनात	लिंगदर्शनात्	९७	१४
अवधाणात्मक	अवधारणात्मक	९९	५
पदोर्थो	पदार्थो	९०	१९
केवल पाच	केवल इन पाच	१००	२
(प्रत्यभिज्ञान	(प्रत्यभिज्ञान)	१०१	५
अभाशाश	अभावाश	१०३	१४
तथ्त है	तथ्य यह है	१०	२२
घटरहिता	घटरहितता	१०४	२
प्रतीयये	प्रतीयते	१०४	२६
स्वार्थानमान	स्वार्थानुमान	११२	१९
वितृत	विस्तृत	११५	२
पह	यह	११५	४
न्यानप्रवेश—	न्याय प्रवेश—	१२०	९
प्रशस्तपादने[6]	प्रशस्तपादने[5]	१२०	१४
प्रमाण वारने[7]	प्रमाण वारने[6]	१२०	१५
सिद्धसेनने[8]	सिद्धसेनने[7]	१२०	१६
दूसरी	दूसरी[8]	१२०	१८
स्वरूप	स्वरूप	१२३	१७

अशुद्ध	शुद्ध		पृ०	पंक्ति
पदाथ	पराथ		१२५	१६
विनशा	विवक्षा		१२६	२८
विकरपसिद्धि	विकल्पसिद्ध		१२७	१७
वतमान होता या अनुमान	वर्तमान होना या आगमगम्य होना		१२८	११
आद्र'घन—	आर्द्रघन—		१३४	२
नियभे	नियमे		१३८	३०
भदात	भेदात		१३८	३१
वेदातियों—	वेदान्तिया—		१३९	१६
दशद—	दशन—		१४०	५
दशन—	दर्शन		१४१	१९
न्याया—	न्याय—		१४२	१२
ऽर्थानुभीयते	ऽर्थोनुमीयते		१४२	३०
मीमासाादि	मीमासकादि		१४५	५
'त्रिता	'त्रिता'		१५३	१३
ऊहा	'ऊहा'		१५३	१३
विज्जइ	विज्जइ'		१५३	२३
पटटरा०	पटरा०		१५३	१०
सवप्रथम व्याप्ति— एव स्पष्टतया	सवप्रथम एव स्पष्टतया व्याप्ति ग्राहक		१५४	१२
न्यायरा—	न्यायवा—		१५४	२३
उदयने	उदयनने		१५५	१६
रिए	लिए		१७६	१६
शान्तरक्षितने	शान्तरक्षितके		१९४	१५
उल्लेख	उल्लेख		१९६	११
दार्शिनिकों	दार्शनिकों		२०७	४
विद्यानन्दने विरोधी	विद्यानन्दी का—			
ज्ञाक्षान	ज्ञान विरोधी		२१५	२५
न्यायविदोरता	न्यायविदोरिता		२२८	१६
३० (वा फर्मा)	३१ (वा फर्मा)		२४१	१३
व्यभिचारा गृह	व्यभिचाराग्रह		२६०	२५
सिलासिजम	सिलाजिज्म	प्राक्कथन	५	१०
अमुमान	अनुमान	प्रस्तुत-कृति	९	१०
धाराणी	धाराणयी	"	१०	२१
सिद्ध धापित	सिद्ध धापित	विषय-सूची	१८	१२

प्रमाणपरीक्षागत हेतुभेद-प्रदर्शक संशोधित चित्र

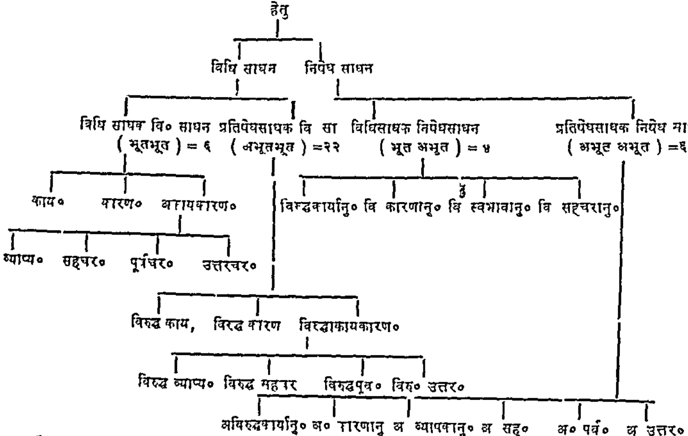

विधिसाधक विधि साधन = ६ प्रतिषेध साधक विधि साधन = २२ विधिसाधक निषेध साधन = ४ प्रतिषेध साधक निषेध साधन = ६